कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

स्वोपज्ञवृत्ति—सहिता

प्रमाण मीमांसा

[पण्डितसुखलालनिर्मितभाषाटिप्पणादिसहिता]

: सम्पादक :

पण्डित सुखलालजी संघवी

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री

पण्डित दलसुख मालवणिया न्यायतीर्थ

: प्रकाशनकर्ता :

सरस्वती पुस्तक भंडार

११२, हाथीखाना, रतनपोल

अहमदाबाद 380 001

विक्रमाब्द २०४५] पुनर्मुद्रण, ५०० प्रति । [१९८९

॥ श्री जिनविजयप्रशस्तिः ॥

स्वस्ति श्रीमेदपाटाख्यो देशो भारतविश्रुतः । रूपाहेलीति सन्नाम्नी पुरिका तत्र सुस्थिता ॥
सदाचार-विचाराभ्यां प्राचीननृपतेः समः । श्रीमच्चतुरसिंहोऽत्र राठोडान्वयभूमिपः ॥
तत्र श्रीवृद्धिसिंहोऽभूत् राजपुत्रः प्रसिद्धिमान् । क्षात्रधर्मधनो यश्च परमारकुलाग्रणीः ॥
मुञ्ज-भोजमुखा भूपा जाता यस्मिन्महाकुले । किं वर्ण्यते कुलीनत्वं तत्कुलजातजन्मनः ॥
पत्नी राजकुमारीति तस्याभूद् गुणसंहिता । चातुर्य-रूप-लावण्य - सुवाक्सौजन्यभूषिता ॥
क्षत्रियाणीप्रभापूर्णां शौर्योद्दीप्तमुखाकृतिम् । यां दृष्ट्वैव जनो मेने राजन्यकुलजां स्त्रियम् ॥
सूनुः किसनसिंहाख्यो जातस्तयोरतिप्रियः । रणमल्ल इति ह्यन्यद् यन्नाम जननीकृतम् ॥
श्रीदेवीहंसनामात्र राजपूज्यो यतीश्वरः । ज्योतिर्भैषज्यविद्यानां पारगामी जनप्रियः ॥
अष्टोत्तरशताब्दानामायुर्यस्य महामतेः । स चासीद् वृद्धिसिंहस्य प्रीति-श्रद्धास्पदं परम् ॥
तेनाथाप्रतिमप्रेम्णा स तत्सूनुः स्वसन्निधौ । रक्षितः, शिक्षितः सम्यक्, कृतो जैनमतानुगः ॥
दौर्भाग्यात्तच्छिशोर्बाल्ये गुरु-तातौ दिवंगतौ । विमूढेन ततस्तेन त्यक्तं सर्वं गृहादिकम् ॥

तथा च—

परिभ्रम्याथ देशेषु संसेव्य च बहून् नरान् । दीक्षितो मुण्डितो भूत्वा कृत्वाऽऽचारान् सुदुष्करान् ॥
ज्ञातान्यनेकशास्त्राणि नानाधर्ममतानि च । मध्यस्थवृत्तिना तेन तत्त्वातत्त्वगवेषिणा ॥
अधीता विविधा भाषा भारतीया युरोपजाः । अनेका लिपयोऽप्येवं प्रत्ननूतनकालिकाः ॥
येन प्रकाशिता नैके ग्रन्था विद्वत्प्रशंसिताः । लिखिता बहवो लेखा ऐतिह्यतथ्यगुम्फिताः ॥
यो बहुभिः सुविद्वद्भिस्तन्मण्डलैश्च सत्कृतः । जातः स्वान्यसमाजेषु माननीयो मनीषिणाम् ॥
यस्य तां विश्रुतिं ज्ञात्वा श्रीमद्गान्धीमहात्मना । आहूतः सादरं पुण्यपत्तनात्स्वयमन्यदा ॥
पुरे चाहम्मदाबादे राष्ट्रीयशिक्षणालयः । विद्यापीठ इतिख्यातः प्रतिष्ठितो यदाऽभवत् ॥
आचार्यत्वेन तत्रोच्चैर्नियुक्तो यो महात्मना । विद्वज्जनकृतश्लाघे पुरातत्त्वाख्यमन्दिरे ॥
वर्षाणामष्टकं यावत् सम्भूष्य तत्पदं ततः । गत्वा जर्मनराष्ट्रे यस्तत्संस्कृतिमधीतवान् ॥
तत आगत्य संलग्नो राष्ट्रकार्ये च सक्रियम् । कारावासोऽपि सम्प्राप्तो येन स्वराज्यपर्वणि ॥
क्रमात्तस्माद् विनिर्मुक्तः प्राप्तः शान्तिनिकेतने । विश्ववन्द्यकवीन्द्रश्रीरवीन्द्रनाथभूषिते ॥
सिंघीपदयुतं जैनज्ञानपीठं यदाश्रितम् । स्थापितं तत्र सिंघीश्रीडालचन्दस्य सूनुना ॥
श्रीबहादुरसिंहेन दानवीरेण धीमता । स्मृत्यर्थं निजतातस्य जैनज्ञानप्रसारकम् ॥
प्रतिष्ठितश्च यस्तस्य पदेऽधिष्ठातृसञ्ज्ञके । अध्यापयन् वरान् शिष्यान् शोधयन् जैनवाङ्मयम् ॥
तस्यैव प्रेरणां प्राप्य श्रीसिंघीकुलकेतुना । स्वपितृश्रेयसे ह्येषा ग्रन्थमाला प्रकाश्यते ॥
विद्वज्जनकृताह्लादा सच्चिदानन्ददा सदा । चिरं नन्दत्वियं लोके जिनविजयभारती ॥

दो शब्द

पूज्य पं. सुखलालजी संघवी द्वारा सम्पादित प्रमाण-मीमांसा का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है जान कर आनन्द हुआ। भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में जिस प्रकार तुलनात्मक संस्कृत टिप्पणों के साथ "सन्मति प्रकरण" प्रकाशित हुआ वह संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन की नई दिशा की ओर संकेत करता था। उसी प्रकार यह प्रमाणमीमांसा भी हिन्दी टिप्पणों के साथ जो प्रकाशित हुई वह भी एक नई दिशा बरसाने वाला ग्रन्थ था। उसमें प्रतिपादित विषयों की अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के साथ तुलना तो की ही गई थी, उपरांत विचार विकास का इतिहास भी प्रदर्शित था।

किन्तु उसमें जो एक कमी थी वह यह कि जैन दर्शन का आगमगत रूप विस्तार से प्रदर्शित नहीं हुआ था। उस कमी की पूर्ति करने का प्रयास मैंने न्यायावतार वार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना लिखकर किया था। यह प्रस्तावना "आगमयुग का जैन दर्शन" नाम से प्रकाशित भी हुई है। किन्तु उसमें भी आगमों का वर्गीकरण करके जैन दर्शन के विकासक्रम को प्रदर्शित करने का प्रयत्न नहीं है। इस कमी को दूर करने के लिए मैंने "जैन दर्शन का आदिकाल" लिखा और उसे मध्य और उत्तर काल लिखकर पूर्ण करने का मेरा इरादा था। किन्तु अब यह कार्य मुझसे होने वाला नहीं। नई पिढ़ी से मेरी प्रार्थना है कि इस कार्य को पूरा करें।

प्रस्तुत प्रमाणमीमांसा के प्रकाशित होने के बाद उसके हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। और उसकी प्रस्तावना और टिप्पणों का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता से "एडवान्स स्टडीज इन इण्डियन लोजिक एण्ड मेटाफिजीक्स" के नाम से प्रकाशित हुआ है।

मैं यहाँ प्रमाणमीमांसा की दूसरी आवृत्ति के प्रकाशन करने का पूज्य गणिवर्य शीलचन्द्र विजयजी ने जो प्रयास किया उसकी प्रशंसा करता हूँ। यह इस लिए कि अभी तक यह प्रवृत्ति देखी गई है कि पूज्य पंडित सुखलालजी के सम्पादित ग्रन्थों में से टिप्पण निकाल कर कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। यहाँ ऐसा नहीं हुआ।

३।१०।'८८ —दलसुख मालवणिया

ग्रन्थानुक्रम

	पृ०
१ संकेत सूची	३
२ यत्किंचित् प्रासंगिक (श्री मुनि जिन विजयजी)	७
३ सम्पादन विषयक वक्तव्य (श्री पं० सुखलालजी)	९
४ भूमिका (महामहोपाध्याय श्री पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण)	१५
५ प्रस्तावना	१ – ४४
१ ग्रन्थपरिचय (पं० सुखलालजी)	१ – ३२
२ ग्रन्थकार का परिचय (श्री रसिकलाल छो० परीख)	३२ – ४४
६ प्रमाण-मीमांसा मूल ग्रन्थ की विषयानुक्रमणिका	४५ – ५०
७ भाषाटिप्पण की विषयानुक्रमणिका	५१ – ५४
८ प्रमाण-मीमांसा (मूल ग्रन्थ)	१ – ७२
९ प्रमाण-मीमांसाके भाषाटिप्पण	१ – १४४
१० प्रमाण-मीमांसा के परिशिष्ट	१ – ३६
१ प्रमाण-मीमांसा का सूत्र पाठ	२
२ प्रमाण-मीमांसा के सूत्रों की तुलना	४
३ प्रमाण-मीमांसागत विशेषनामों की सूची	६
४ प्रमाण-मीमांसागत पारिभाषिक शब्दों की सूची	७
५ प्रमाण-मीमांसागत अवतरणों की सूची	१५
६ भाषाटिप्पणगत शब्दों और विषयों की सूची	१८
७ भाषाटिप्पणगत विशेष नामों की सूची	३१

संकेत सूची

डे०	डेला भाण्डार, अहमदाबाद की प्रति।
ता०	जैसलमेरस्थ भाण्डार की ताड़पत्रीय प्रति।
ता–मू०	ता० प्रति का मूल।
मु०	प्रमाणमीमांसा की पुना में मुद्रित प्रति।
मु–टि०	मुद्रितप्रति का टिप्पण
सं–मू०	संघवी भाण्डार पाटन की मूलसूत्र की प्रति
सम्पा०	सम्पादक

अच्युत	मासिक	(बनारस)
अनुयो०	अनुयोगद्वारसूत्र	(आगमोदयसमिति, सूरत)
अनेकान्तज०	अनेकान्तजयपताका	(यशोविजयग्रन्थमाला, काशी)
अनेकान्तज० टी०	अनेकान्तजयपताकाटीका	(,, ,,)
अन्ययो०	अन्ययोगव्यवच्छेदिका, हेमचन्द्राचार्य	
अभिधम्मत्थ०	अभिधम्मत्थसंगहो	(गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)
अभिधर्म०	अभिधर्मकोष	(काशी विद्यापीठ, काशी)
अभिधा०	अभिधानचिन्तामणि	(यशोविजयग्रन्थमाला, काशी)
अयोग०	अयोगव्यवच्छेदिका, हेमचन्द्राचार्य	
अष्टश०	अष्टशती, अकलंक	(निर्णय सागर, बंबई)
अष्टस०	अष्टसहस्री	
आचा०	आचारांगसूत्र	(आगमोदयसमिति, सूरत)
आप० श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र	
आप्तप०	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	
आव० नि०	आवश्यक निर्युक्ति	(आगमोदय समिति, सूरत)
आव० नि० हारि०	आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्री टीका	(,,)
उत्त०	उत्तराध्ययन सूत्र	(,,)
ऋग्०	ऋग्वेद	
कठो०	कठोपनिषद्	
कन्दली	प्रशस्तपादभाष्यटीका	(विजयानगरम्, काशी)
काव्यप्र०	काव्यप्रकाश	
काव्यानुशा०	काव्यानुशासन	(महावीर विद्यालय, बंबई)
खण्डन०	खण्डनखण्डखाद्य	(लाजरस, काशी)
गोम्मट०	गोम्मटसार	(परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई)
चरकसं०	चरकसंहिता	(निर्णयसागर, बंबई)
चित्सुखी		(निर्णयसागर, बंबई)
जैमि०	जैमिनीय दर्शन	(निर्णयसागर, बंबई)
जैमिनीयन्या०	जैमिनीयन्यायमाला	

टिप्पण	भाषाटिप्पणादि	(इस ग्रन्थ के हिन्दी टिप्पण)
तत्त्वकौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वचि० प्रत्यक्ष०	तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्षखण्ड	(एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)
तत्त्ववै०	तत्त्ववैशारदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह	(गायकवाड ओ० सिरीज, बरोडा)
तत्त्वसं० प०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका	(,,)
तत्त्वा०	तत्त्वार्थसूत्र	(आईतमतप्रभाकर, पुना)
तत्त्वार्थभा०	तत्त्वार्थभाष्य	(,,)
तत्त्वार्थभा० टी०	तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनीय टीका	(दे० ला०, सूरत)
तत्त्वार्थरा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक	(सनातनजैनग्रन्थमाला, काशी)
तत्त्वार्थश्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(गांधी नाथारंगा, बंबई)
तत्त्वो० / तत्त्वोप० लि०	तत्त्वोपप्लवसिंह लिखित	(गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)
तन्त्रवा०	तन्त्रवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
तर्कभाषा	मोक्षाकरीय लिखित	(मुनि श्रीपुण्यविजयजी की)
तात्पर्य०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(चौखम्बा, काशी)
तर्कदी० गंगा	तर्कसंग्रहदीपिका-गंगा टीका	(बनारस)
तर्कसंग्रहदीपिका		(छगनलाल ज्ञानचन्द बनारस)
दश० नि०	दशवैकालिकसूत्रनिर्युक्ति	(आगमोदय समिति, सूरत)
दशवै०	दशवैकालिकसूत्र	(आगमोदय समिति, सूरत)
दिनकरी	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली टीका	(नि० सा० बम्बई)
नन्दी०	नन्दीसूत्र	(आ० स० सूरत)
नयचक्रवृ० लि०	नयचक्रवृत्ति लिखित	(रामघाट जैनमंदिर, काशी)
न्यायकु०	न्यायकुसुमाञ्जली	(चौखम्बा, काशी)
न्यायकुमु० लि०	न्यायकुमुदचन्द्र लिखित	(पं० महेन्द्रकुमार, काशी)
न्यायप्र०	न्यायप्रवेश	(मा० ओ० सि० बरोडा)
न्यायभा०	न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य	(चौ० बनारस)
न्यायबि०	न्यायबिन्दु	(बिब्लिओथेका बुद्धिका)
न्यायबि० टी	न्यायबिन्दुटीका	(,,)
न्यायम०	न्यायमञ्जरी	(विजियानगरम्, काशी)
न्यायवा०	न्यायवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवि०	न्यायविनिश्चय लिखित	(पं० कैलाशचन्द्रजी, काशी)
न्यायवि० टी० लि०	न्यायविनिश्चयटीका लिखित	(,,)
न्याय० सू०	न्यायसूत्र विश्वनाथवृत्ति	(चौखम्बा बनारस)
न्यायसा०	न्यायसार	(एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)
न्यायसारता०	न्यायसारतात्पर्यदीपिका	(,,)
न्या०	न्यायसूत्र	
न्याया० / न्यायाव०	न्यायावतार	(जैन कोन्फरंस, बंबई)
न्याया० टी०	न्यायावतारसिद्धर्षिटीका	(,,)
न्याया० सि० टि०	न्यायावतारसिद्धर्षिटीकाटिप्पणी	(,,)
परी०	परीक्षामुख	(फूलचन्द्र शास्त्री, काशी)

पात० महा०	पातञ्जल महाभाष्य	
पुरातत्त्व	त्रैमासिक,	अहमदाबाद
पुरुषार्थ०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	(परमश्रुतप्रभावक, बंबई)
प्रकरणप०	प्रकरणपञ्चिका	(चौखम्बा काशी)
प्रमाणन०	प्रमाणनयतत्त्वालोक	(यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी)
प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्तिक	(श्रीमान् राहुल सांकृत्यायनके प्रूफशीट)
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रह, लिखित	(श्री मुनि पुण्यविजयजी)
प्रमाणस०	प्रमाणसमुच्चय	(मैसुर युनिवर्सिटी)
प्रमाणस० टी०	प्रमाणसमुच्चयटीका	(,,)
प्र० मी०	प्रमाणमीमांसा	(प्रस्तुत संस्करण)
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्तण्ड,	(निर्णय सागर, बंबई)
प्रमेयर०	प्रमेयरत्नमाला	(कुलचन्द्र शास्त्री, काशी)
प्रश०	प्रशस्तपादभाष्य	(विजियानगरम्, काशी)
बृ० स्वयं०	बृहत्स्वयंभूस्तोत्र	(प्रथमगुच्छकान्तर्गत)
बृहती		(मद्रास)
बृहतीप०	बृहतीपञ्जिका,	(मद्रास)
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्	(निर्णयसागर बंबई)
बृहदा० वा०	बृहदारण्यकवार्तिक	(आनन्दाश्रम)
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतार	(एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)
बोधिचर्या० प०	बोधिचर्यावतारपञ्जिका	(,,)
ब्र० शाङ्करभा०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	(निर्णय सागर, बंबई)
भग०	भगवतीसूत्र,	(गूजरात विद्यापीठ, अमदाबाद)
भामती	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यटीका	(निर्णय सागर, बंबई)
मज्झिम०	मज्झिमनिकाय	(पालीटेक्स्ट)
मध्य० वृ०	माध्यमिककारिकावृत्ति	(बिब्लिओथेका बुद्धिका)
मनोरथ०	प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिटीका	(श्री राहुल सांकृत्यायन)
महावग्ग०	विनयपिटक–महावग्ग	(पालीटेक्स्ट)
माठर०	सांख्यकारिका माठरवृत्ति	(चौखम्बा, काशी)
मिलि०	मिलिन्दपण्हो	
मीमांसाश्लो०	मीमांसाश्लोकवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
मुक्ता०	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	(निर्णय सागर, बंबई)
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्	(निर्णय सागर, बंबई)
यशो० वादद्वा०	यशोविजयकृत वादद्वात्रिंशिका	
यशोवि० धर्म	यशोविजयकृत धर्मपरीक्षा	
युक्त्य०	युक्त्यनुशासन	(माणिक्यचन्द ग्रन्थमाला, बंबई)
योगभा०	योगसूत्र व्यासभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
रत्नाकरा०	रत्नाकरावतारिका	(यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी)
राजवा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक	
लघी० लघीय०	} लघीयस्त्रयी	(माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला, बंबई)
लघी० स्ववि०	लघीयस्त्रयी स्वविवृति लिखित	

विधिवि० न्यायक०	विधिविवेकन्यायकणिका	(चौखम्बा काशी)
विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्य	(यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी)
विशेषा० बृ०	विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति	(,,)
विसुद्धि०	विसुद्धिमग्ग	(पालीटेक्स्ट)
वेदान्तसार		(निर्णयसागर, बम्बई)
वै० उप०	वैशेषिकसूत्र उपस्कार	(चौखम्बा, काशी)
वै० भूषण	वैयाकरणभूषणसार	
वै० सू०	वैशेषिकसूत्र	
शाबरभा०	शाबरभाष्य	(चौखम्बा बनारस)
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका	(,,)
शास्त्रवा०	शास्त्रवार्तासमुच्चय	
शास्त्रवा० टी०	शास्त्रवार्तासमुच्चय यशोविजयटीका	
शास्त्रवा० स्वो०	शास्त्रवार्तासमुच्चय स्वोपज्ञटीका	
श्रीभाष्य	(लाजरस, बनारस)	
श्लो० श्लोकवा०	मीमांसाश्लोकवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
श्लोक० न्याय०	मीमांसाश्लोकवार्तिक न्यायरत्नाकरटीका	(,,)
श्वेताश्व०	श्वेताश्वतरोपनिषद्	(निर्णयसागर, बंबई)
षड्द०	षड्दर्शनसमुच्चय	(आत्मानन्द सभा, भावनगर)
संयुत्त०	संयुत्तनिकाय	(पालीटेक्स्ट)
सन्म०	सन्मतिप्रकरण	(गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)
सन्मतिटी०	सन्मतिप्रकरणटीका	(,,)
सर्वद०	सर्वदर्शनसंग्रह	(अभ्यंकर संपादित)
सर्वार्थ०	सर्वार्थसिद्धि	(कोल्हापुर)
सांख्यत०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	(चौखम्बा काशी)
सां० का० सांख्यका०	सांख्यकारिका	(,,)
सांख्यसू०	सांख्यसूत्र	(,,)
सि० चन्द्रो०	सिद्धान्तचन्द्रोदय	(,,)
सिद्धान्तबिन्दु		(कुम्भकोणम्)
सिद्धिवि०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखित	
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखित	
सूत्रकृ०	सूत्रकृताङ्गम्	(आगमोदय, सूरत)
स्था०	स्थानाङ्गसूत्रम्	(,,)
स्फुटा०	स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या	(बिब्लिओथिका बुद्धिका)
स्याद्वादम०	स्याद्वादमञ्जरी	(बोम्बे सं० सिरीज)
स्याद्वादर०	स्याद्वादरत्नाकर	(आर्हतमतप्रभाकर पूना)
हैमश०	सिद्धहैमचन्द्रशब्दानुशासन	(अहमदाबाद)
हैमश० बृ०	सिद्धहैमचन्द्रशब्दानुशासनबृहद्वृत्ति	(,,)
हेतु०	हेतुबिन्दु लिखित	(प्रो० तारकस् एम. ए.)
हेतुबि० टी० लि०	हेतुबिन्दुटीका लिखित	(गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)

यत्किंचित् प्रासंगिक

कालकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचंद्र सूरि की अन्तिम कृति 'प्रमाणमीमांसा' प्रज्ञाढ्य पण्डितप्रवर श्रीसुखलालजी द्वारा सुसम्पादित होकर सिंघी जैनग्रन्थमाला के ९ म मणि स्वरूप, सहृदय सद्विद्य पाठकों के करकमल में आज उपस्थित की जा रही है। पण्डितजी की इस विशिष्ट पाण्डित्यपूर्ण कृति के विषय में, इसी ग्रन्थमाला में, इतःपूर्व प्रकाशित इनके 'जैनतर्कभाषा' नामक ग्रन्थ के संस्करण के प्रारंभ में जो हमने 'प्रासंगिक वक्तव्य' लिखा था उसके अन्त में हमने ये पंक्तियाँ लिखी थीं–

"इसी जैनतर्कभाषा के साथ साथ, सिंघी जैनग्रन्थमाला के लिये, ऐसा ही आदर्श सम्पादनवाला एक उत्तम संस्करण, हेमचन्द्र सूरि रचित 'प्रमाणमीमांसा' नामक तर्क विषयक विशिष्ट ग्रन्थ का भी, पण्डितजी तैयार कर रहे हैं, जो शीघ्र ही समाप्तप्राय होगा। तुलनात्मक दृष्टि से दर्शनशास्त्र की परिभाषा का अध्ययन करनेवालों के लिये मीमांसा का यह संस्करण एक महत्त्व की पुस्तक होगी। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों की विशिष्ट तुलना के साथ उनका ऐतिहासिक क्रम बतलानेवाला जैसा विवेचन इस ग्रन्थ के साथ संकलित किया गया है, वैसा संस्कृत या हिन्दी के और किसी ग्रन्थ में किया गया हो ऐसा हमें ज्ञात नहीं है।"

इस कथन की प्रतीति करानेवाला यह ग्रन्थ, जिज्ञासु अभ्यासक गण के हाथों में, आज साक्षात् उपस्थित है। इसके विषय में अब और कोई अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं। यही वाक्य फिर कहना पर्याप्त होगा कि 'हाथ कंकन को आरसी की क्या जरूरत'।

इस ग्रन्थ पर पण्डितजी ने जो टिप्पण लिखे हैं, हमारे अल्पज्ञ अभिप्राय में तो, वे हेमचन्द्रसूरि के मूलग्रन्थ से भी अधिक महत्त्व के हैं। इन टिप्पणों में न केवल हेमचन्द्रसूरि के कथन ही को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, प्रत्युत भारतीय प्रधान प्रधान दर्शन-शास्त्रों के अनेकानेक पारिभाषिक और पदार्थ विषयक कथनों का बड़ा ही मर्मोद्घाटक और तुलनात्मक विवेचन किया गया है। कई कई टिप्पण तो तत्तद्विषय के स्वतंत्र निबन्ध जैसे विस्तृत और विवेचनापूर्ण हैं। इन टिप्पणों के अध्ययन से भारतीय दर्शनविद्या के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन इन तीनों विशिष्ट तत्त्व निरूपक मतों की विभिन्न तात्त्विक परिभाषाओं में और लाक्षणिक व्याख्याओं में किस प्रकार क्रमशः विकसन, वर्धन या परिवर्तन होता गया उसका बहुत अच्छा प्रमाण-प्रतिपादित ज्ञान हो सकेगा। जहाँ तक हमारा ज्ञान है, अपनी भाषा में इस प्रकार का शायद यह पहला ही ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है और हमारा विश्वास है कि विद्वानों का यह यथेष्ट आदर पात्र होगा।

सिंघी जैन ग्रन्थमाला की यह मणि, अपेक्षाकृत समय से, कुछ विलम्ब के साथ प्रकाशित हो रही है–जिसका कारण पण्डितजी ने अपने संपादकीय वक्तव्य में सूचित किया ही है। गत वर्ष, ग्रीष्मकाल की छुट्टियों के पूरा होने पर, पण्डितजी अहमदाबाद से बम्बई होकर बनारस जा रहे थे, तब अकस्मात् एपिन्डीसाईट नाम की प्राणघातक व्याधि ने उन्हें आक्रान्त कर लिया और उसके कारण, बम्बई में सर हरकिसनदास अस्पताल में शस्त्र क्रिया करानी पड़ी। व्याधि बड़ी उग्र थी और पण्डितजी की शरीरशक्ति यों ही बहुत कुछ क्षीण हो रही थी, इसलिये हमारे हृदय में तीव्र वेदना और अनिष्ट आशंका उत्पन्न हो गई थी कि हेमचन्द्रसूरि की मूलकृति की तरह इनकी यह भाषाविवृति भी कहीं अपूर्ण ही न रह जाय। लेकिन

सद्भाग्य से पण्डितजी उस घात से सानन्द पार हो गये और फिर धीरे धीरे स्वास्थ्य लाभ कर, अपने प्रारब्ध कार्य का इस प्रकार समापन कर सके। हमारे लिये यह आनन्दद्योतक उद्यापन का प्रसंग है।

पण्डितजी अपने संपादकीय वक्तव्य में, प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में हमारे प्रोत्साहन के लिये आभार प्रदर्शित करते हैं, लेकिन इस पूरी ग्रन्थमाला के सम्पादन में, प्रारंभ ही से हमें जो उनका प्रोत्साहन मिल रहा है उसका आभार प्रदर्शन हम किस तरह करें। पण्डितजी की उक्त पिछली व्याधि के समय हमें तो यह शंका हो गई थी, कि यदि कहीं आयुष्कर्म के क्षय से पण्डितजी का यह पौद्गलिक शरीर ज्ञानज्योति शून्य हो गया तो फिर व्याकुलहृदय होकर हम इस ग्रन्थमाला के समूचे कार्य को ठीक चला सकेंगे या नहीं—सो भी समझ नहीं सकते थे। ग्रन्थमाला के इस सम्पादन भार को हाथ में लेने और समुचय लेखन-कार्य में प्रवृत्त होने में जितना बाह्य प्रोत्साहन हमें ग्रंथमाला के प्राणप्रतिष्ठाता श्रीमान् बाबू बहादुरसिंहजी से मिल रहा है उतना ही आन्तरिक प्रोत्साहन हमें अपने इन ज्ञानसखा पण्डितजी से मिल रहा है और इसलिये सिंघी जैन ग्रन्थमाला इस दोनों के समानकर्तृत्व और समाननियंतृत्व का संयुक्त ज्ञानकीर्तन है। और इस कीर्तन की प्रेरक और प्रोत्साहक है विदेही ज्ञानोपासक बाबू श्रीडालचन्दजी सिंघी की यह पुण्यकामना, जो उनके सत्पुत्र और उन्हींके सदृश ज्ञानलिप्सु श्रीमान् बाबू बहादुरसिंहजी द्वारा इस प्रकार परिपूर्ण की जा रही है। सिंघीजी की सद्भावना ही पण्डितजी के क्षीण शरीर को प्रोत्साहित कर लेखनप्रवृत्त कर रही है और हमारी कामना है कि इस ग्रंथमाला में पण्डितजी के ज्ञानसौरभ से भरे हुए ऐसे कई सुन्दर ग्रन्थपुष्प अभी और ग्रथित होकर विद्वानों के मन को आमोद प्रदान करें।

बंबई, भारतीय विद्याभवन
फाल्गुन पूर्णिमा संवत् १९९५

जिन विजय

सम्पादन विषयक वक्तव्य

१. प्रारम्भ-पर्यवसान

सिंघी जैन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित होनेवाला प्रमाणमीमांसा का प्रस्तुत संस्करण तीसरा है। बहुत वर्ष पहले अहमदाबाद से और पीछे पूना से, इस प्रकार दो बार, प्रमाणमीमांसा पहले छप चुकी है। लगभग पचीस वर्ष पूर्व गुजरात से आगरा की ओर आते हुए बीच में पालनपुर में मेरे परिचित मुनि श्री मोहनविजयजी ने, जो कभी काशी में रहे थे, मुझसे अतिशीघ्र प्रमाणमीमांसा पढ़ ली। वह मेरा प्रमाणमीमांसा का प्रथम परिचय था। उस समय मेरे मन पर एक प्रबल संस्कार पड़ा कि सचमुच प्रमाणमीमांसा हेमचन्द्र के अनुरूप ही कृति है और उसका संपादन भी वैसा ही होना चाहिए। पूना से प्रकाशित संस्करण पहले के संस्करण से कुछ ठीक था; पर, प्रथम के वे दोनों संस्करण अत्यन्त ही दुर्लभ हो गए थे।

इधर ई० स० १९३३ की जुलाई में काशी आना हुआ और १९३५ में हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य-विद्या विभाग के जैन अभ्यास-क्रम का पुनर्निर्माण तथा गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस में जैन परीक्षा का प्रवेश हुआ। बंगाल संस्कृत एसोसिएशन कलकत्ता की संस्कृत परीक्षा में तो प्रमाणमीमांसा बहुत पहले से ही नियत थी। काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय तथा गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज इन दोनों के अभ्यास-क्रम में भी प्रमाणमीमांसा रखी गई। इस प्रकार एक ओर विद्यार्थियों के लिए प्रमाणमीमांसा की नितांत आवश्यकता और दूसरी तरफ पुराने संस्करणों की अत्यन्त दुर्लभता ने मेरे मन में पड़े हुए पुराने संस्कार को जगा दिया।

शास्त्रसमृद्ध भूमि पर तो बैठा ही था। हेमचन्द्रसूरि के ग्रन्थों के अनन्य उपासक रूप से प्रमाणमीमांसा के संशोधन की ओर मन भी था और फिर मेरे मन के सहकारी भी मुझे मिल गये। यह सब देख कर निर्णय कर लिया कि अब काम शुरू कर दिया जाय। छुट्टी होते ही प्रमाणमीमांसा के जन्म और रक्षणधाम पाटन में मेरे साथी और मित्र श्रीदलसुखभाई के साथ पहुँचा और १९३५ के मई की पहली तारीख को काम का श्रीगणेश हुआ।

अहमदाबाद स्थित डेला उपाश्रय के भाण्डार की कागज पर लिखी हुई प्रमाणमीमांसा की प्रति साथ ले गया था। पाटन में तो सौजन्यमूर्ति मुनि श्री पुण्यविजयजी की बदौलत सब कुछ सुलभ ही था। उनके पास जेसलमेर के भाण्डार की ताड़पत्रीय प्रति की फोटो थी जिसमें वृत्ति सहित सूत्रों के अतिरिक्त अलग सूत्रपाठ भी था। पाटन स्थित संघ के भाण्डार में से एक और भी कागज पर लिखा हुआ मूल सूत्रपाठ मिल गया। पूनावाली छपी हुई नकल तो थी ही। इस तरह दो केवल मूल सूत्रपाठ की और दो वृत्तिसहित की कुल चार लिखित प्रतियों और मुद्रित पूनावाली प्रति के आधार पर पाठान्तर लेने का काम पाटन में ही तीन सप्ताह में समाप्त हुआ।

जून मास में अहमदाबाद में ही बैठकर उन लिए हुए पाठान्तरों का विचारपूर्वक स्थान निर्णीत करके यथासम्भव मूलसूत्र और वृत्ति को विशेष शुद्ध करने का तथा ग्रन्थकार के असली लेख के विशेष समीप पहुँचने का प्रयत्न किया गया। उसी साल जुलाई-अगस्त से फिर काशी में वह काम प्रारम्भ किया। मूलग्रन्थ की शुद्धि, प्राप्त टिप्पणों का यथास्थान विन्यास आदि प्रारम्भिक काम तो हो चुके थे। अब पुरानी भावना के अनुसार तथा प्राप्त सामग्री के अनुरूप उस पर यथासम्भव विशेष संस्कार करने का प्रश्न था। इधर स्याद्वाद महाविद्यालय के जैन न्यायाध्यापक पं० महेन्द्रकुमारजी, जो उस समय न्याय-कुमुदचन्द्र का संशोधन कर रहे थे, प्रस्तुत कार्य में सम्मिलित कर लिए गए। उन्होंने ग्रन्थान्तरों से अवतरणों के संग्रह

आदि का काम शुरू किया। १९३६ के मार्च तक साधन सामग्री तो अपेक्षा से अधिक एकत्र हो गई थी, पर अब सवाल आया उसके उपयोग का।

अन्य ग्रन्थों से जो और जितना संग्रह हुआ वह मूलग्रन्थ से कई गुना अधिक था और उसे ज्यों का त्यों छपवाने से इने गिने विद्वानों के अलावा दूसरों को विशेष लाभ पहुँचने का सम्भव कम था। दूसरी ओर वह संग्रह महत्त्व का होने से छोड़ने योग्य भी न था। अन्त में, ऐसा मार्ग सोचा गया जिसमें सारे उस संग्रह का उचित उपयोग भी हो, पुस्तक का व्यर्थ कद भी न बढ़े और विशिष्ट विद्वानों, अध्यापकों, संशोधकों और विद्यार्थियों सभी के योग्य कुछ न कुछ नई वस्तु भी प्रस्तुत की जाय। और साथ ही शास्त्रीय ग्रन्थों के ऊपर लिखने का एक नया प्रकार भी अभ्यासकों के सम्मुख उपस्थित किया जाय। इसके साथ साथ यह भी सोचा कि संस्कृत में लिखने की अपेक्षा वह हिन्दी-भाषा में लिखा जाय जिससे लिखी हुई वस्तु अधिक से अधिक जिज्ञासुओं तक पहुँच सके, राष्ट्रीय भाषा में शास्त्रीय ग्रन्थों की समृद्धि भी बढ़े और अगर यह नया सा प्रस्थान विद्वानों का ध्यान खींच सके तो वह इस दिशा में काम करने के लिए औरों को भी प्रेरित कर सके। इस विचार से उसी साल हिन्दी-भाषा में टिप्पण लिखने का सूत्रपात काशी में ही किया गया जिसका अन्तिम रूप इस पुस्तक के अन्त में भाषाटिप्पण के नाम से प्रस्तुत है। १९३६ की गरमी में सोचे हुए खाके के अनुसार अहमदाबाद में भाषा-टिप्पणों का अमुक भाग लिख लिया गया था; फिर वर्षाकाल में काशी में यह काम आगे बढ़ा। इस बीच सितम्बर-अक्तूबर में कलकत्ता में भी थोड़ा सा लिखा गया और अन्त में काशी में उसकी समाप्ति हुई।

सिंघी जैनग्रन्थमाला के मुख्य सम्पादक इतिहासकोविद श्रीमान् जिनविजयजी की सूचना के अनुसार १९३७ के प्रारम्भ में ही मैटर काशी में ही छपने को दे दिया और उनकी खास इच्छा के अनुसार यह भी तय कर लिया कि यथाशक्य इस पुस्तक को १९३७ के दिसम्बर तक प्रकाशित कर दिया जाय। इस निश्चय के अनुसार एक के बदले दो प्रेस पसन्द किये और साथ ही बीच के अनेक छोटे बड़े अधूरे काम पूरा करने की तथा नया लिख लेने की प्रवृत्ति भी चालू रक्खी जिससे निर्धारित समय आने पर मूलग्रन्थ, भाषाटिप्पण और कुछ परिशिष्ट छप गए।

कुछ खास कारणों से १९३८ की जनवरी में इसे प्रसिद्ध करने का विचार बन्द रखना पड़ा। फिर यह विचार आया कि जब अवश्य ही थोड़ी देरी होनेवाली है तब कुछ अनुरूप प्रस्तावना क्यों न लिख दी जाय? इस विचार से १९३८ के मार्च-अप्रिल में प्रस्तावना का 'ग्रन्थ-परिचय' तो लिख दिया गया। पर, मैंने सोचा कि जब देरी अनिवार्य है तब मैं इस प्रस्तावना को अपने कुछ सुयोग्य विद्वान-मित्रों को भी दिखा दूँ जिससे कुछ न कुछ योग्य सुधार ही होगा। गरमी में अहमदाबाद में तीन मित्रों ने इसे भाषा-टिप्पण सहित पढ़ा। श्री जिनविजयजी, श्री रसिकलाल परीख और पं० बेचरदास इन तीनों ने अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार राय भी दी और सूचनाएँ भी कीं। पर एक काम बाकी था जो मुझे व्याकुल कर रहा था, वह था ग्रन्थ-कार का जीवन-लेखन। हेमचन्द्र मेरे मन जितने बड़े हैं वैसा ही उनका पूर्ण जीवन लिखने का मनोरथ परेशान कर रहा था। इसके वास्ते काशी की ओर यथासमय प्रस्थान तो किया पर बीच में ही बम्बई में शरीर अटक गया और उसको सुप्रवृत्त बनाने के लिये अस्पताल में उप-स्थान करना पड़ा। अनेक मित्रों, विचारसिकों और सन्तों की अकल्प्य परिचर्या के प्रभाव से शरीर की रक्षा तो हो गई पर काम की शक्ति बहुत कुछ क्षीणप्राय हो गई।

फिर भी १९३८ के सितम्बर में काशी पहुँच गया। पर ग्रन्थकार के जीवन का यथेष्ट परिचय लिखने जितना स्वास्थ्य न पाकर आखिर में उसका भार अपने विद्वान मित्र श्रीरसिक-लाल परीख को सौंपा। उनका लिखा हुआ 'ग्रन्थकार का परिचय' संक्षिप्त होने पर भी गम्भीर

तथा ऐतिहासिक दृष्टिपूत है। श्री परीख ने कुछ ही समय पहले हेमचन्द्राचार्यकृत काव्यानुशासन ग्रंथ का विशिष्ट संपादन किया है और उस ग्रंथ की भूमिका रूप, जो स्वतंत्र एक ग्रंथ के जैसा ही बहुत विस्तृत, अंग्रेजी निबन्ध लिखा है उसमें हेमचन्द्राचार्य के व्यक्तित्व के विषय में उन्होंने बहुत कुछ विस्तार के साथ लिखा है। अतएव उनका यह संक्षिप्तलेखन बिलकुल साधिकार है। इस तरह आचार्य हेमचन्द्र की इस अधूरी कृति के प्रकाशन में बन सके उतनी विशिष्टता लाने का प्रयत्न करके उसे पूर्ण जैसी बनाने की चिरकालीन भावना भी अनेक छोटे बड़े विघ्नों को लांघकर आज पूर्ण होती है। पर, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मित्रों का साथ न होता तो यह भावना भी मूलग्रन्थ की तरह अधूरी ही रह जाती।

२. प्रति परिचय

प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त प्रतियों का परिचय इस प्रकार है–

ता०–जिस ताड़पत्रीय प्रति की फोटो काम में लाई गई है वह जेसलमेरस्थ किला गत भाण्डार की पोथी नं० ८४ है। उसमें कुल १३७ पत्र हैं जिनमें से १११ पत्रों में मूल सूत्रपाठ तथा सवृत्तिक प्रमाणमीमांसा अलग अलग हैं। बाकी के पत्रों में परीक्षा-मुख आदि कुछ अन्य न्यायविषयक ग्रन्थ हैं। इस प्रति की लम्बाई १५"×२" है। प्रति के अन्त में और कोई उल्लेख नहीं है। इसमें टिप्पणी है। यह प्रति दो विभागों में लिखी गई है। प्रत्येक पृष्ठ पर कम से कम तीन और अधिक से अधिक पाँच पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ७० अक्षर हैं। जहाँ पत्र के टेढ़ेपन के कारण आधी पंक्तियाँ हैं वहाँ ३५ अक्षर हैं। इस प्रति को फोटो २२ सेटों में ली गई है। सेट की लम्बाई चौड़ाई १०"×१२" है।

डे०–यह प्रति अहमदाबाद के डेला उपाश्रय की है। इसमें कुल ३३ पत्र हैं। इसकी लम्बाई १०" और चौड़ाई ४$\frac{3}{5}$" है। प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्ति में अधिक से अधिक ६४ अक्षर हैं। प्रत्येक पत्र का मध्यभाग खाली है। मार्जिन में बहुत ही बारीक अक्षरों में कहीं कहीं टिप्पण हैं जो इस संस्करण में ले लिए गए हैं। इस प्रति का अन्त का उल्लेख प्रमाणमीमांसा पृ० ६४ की टिप्पणी में छपा है उससे मालूम होता है कि यह प्रति संवत् १७०७ में पाटन में लिखी गई है।

सं-मू०–इस प्रति का विशेष परिचय अभी मेरे पास यह लिखते समय नहीं है।

३. विशेषताएँ

प्रस्तुत संस्करण की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका संक्षेप में निर्देश करना आवश्यक है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

पहली विशेषता तो पाठ-शुद्धि की है। जहाँ तक हो सका मूलग्रन्थ को शुद्ध करने व ग्रन्थकार सम्मत पाठ के अधिक से अधिक समीप पहुँचने का पूरा प्रयत्न किया गया है। ताड़पत्र और डेला की प्रति के जहाँ जहाँ दो पाठ मिले वहाँ अगर उन दोनों पाठों में समबलता जान पड़ी तो उस स्थान में ताड़प्रति का पाठ ही मूल वाचना में रखा है और डेला प्रति का पाठ पाठान्तर रूप से नीचे फुटनोट में। इस तरह ताड़प्रति का प्रामाण्य मुख्य रूप से मान लेने पर भी जहाँ डेला प्रति का पाठ भाषा, अर्थ और ग्रन्थान्तर के संवाद आदि के औचित्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त जान पड़ा वहाँ सर्वत्र डेला प्रति का पाठ ही मूल वाचना में रखा है, और ताड़प्रति तथा मुद्रित प्रति का पाठान्तर नीचे रखा है। मूल सूत्रपाठ की दोनों प्रतियों में कहीं कहीं सूत्रों के भेदसूचक चिह्न में अंतर देखा गया है। ऐसे स्थलों में उन सूत्रों की व्याख्या-सरणी देखकर ही यह निश्चय किया गया है कि वस्तुतः ये भिन्न भिन्न सूत्र हैं, या गलती से एक ही सूत्र के दो अंश दो सूत्र समझ लिये गये हैं। ऐसे स्थानों में निर्णीत संख्यासूचक नंबर मूलवाचना में देकर पाये जानेवाले और भेद नीचे टिप्पण रूप से दे दिये गये हैं।

पाठान्तर और सूत्रों की संख्या के भेदसूचक उल्लेख के उपरान्त नीचे तीन प्रकार के टिप्पण हैं। एक तो डेलाप्रति में प्राप्त टिप्पण है। दूसरा मुद्रित पूनावाली नकल से लिया गया टिप्पण जो पु-टि० संकेत से निर्दिष्ट है। और तीसरा प्रकार संपादक की ओर से किये गये टिप्पण का है। डे० टिप्पण संक्षिप्त और विरल स्थलों पर होते हुए भी कहीं कहीं बड़े मार्के का और उपयोगी जान पड़ा। इसलिए वह पूरा का पूरा ले लिया गया है। उसकी शुद्धि करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी कुछ स्थलों में वह अनेक कारणों से संदिग्ध ही रह गया है।

दूसरी विशेषता परिशिष्टों की है। सात परिशिष्टों में से पहला परिशिष्ट सिर्फ मूल सूत्रों के पाठ का है। जो विद्यार्थी व संशोधकों के लिए विशेष उपयोगी है। दूसरे परिशिष्ट में मूल सूत्रों की उन जैन-जैनेतर ग्रन्थों से तुलना की गई है, जो ग्रन्थ हेमचन्द्र की रचना के या तो आधार हैं, या उसके विशेष निकट और उसके साथ ध्यान देने योग्य समानता वाले हैं। पूर्ववर्ती साहित्यिक संपत्ति, किसी भी ग्रन्थकार को विरासत में, शब्द या अर्थरूप से जाने अनजाने कैसे मिलती है, इसका कुछ खयाल इस परिशिष्ट से आ सकता है। तीसरे परिशिष्ट में ग्रन्थ गत विशेष नाम और चौथे में पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं, जो ऐतिहासिकों और कोषकारों के लिए खास उपयोग की वस्तु है। पाँचवें परिशिष्ट में ग्रन्थ में आये हुए सभी गद्य पद्य अवतरण उनके प्राप्त स्थानों के साथ दिये हैं जो विद्यार्थियों और संशोधकों के लिए उपयोगी हैं। छठा परिशिष्ट संक्षिप्त होने पर भी बड़ा ही है। उसमें भाषाटिप्पणगत सभी महत्त्व के शब्दों का संग्रह तथा उन टिप्पणों में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त पर सारगर्भित वर्णन है जो गवेषक विद्वानों के वास्ते बहुत ही कार्यसाधक है। सातवें परिशिष्ट में भाषा-टिप्पणों में प्रयुक्त ग्रन्थ, ग्रन्थकार आदि विशेष नामों की सूची है जो सभी के लिए उपयोगी है। इस तरह ये सातों परिशिष्ट विविध दृष्टि वाले अभ्यासियों के नानाविध उपयोग में आने योग्य हैं।

तीसरी विशेषता भाषा-टिप्पणों की है। भारतीय भाषा में और खास कर राष्ट्रीय भाषा में दार्शनिक मुद्दों पर ऐसे टिप्पण लिखने का शायद यह प्रथम ही प्रयास है। दर्शन शास्त्र के व न्याय शास्त्र के कुछ, परंतु खास खास मुद्दों को लेकर उन पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से कुछ प्रकाश डालने का, इन टिप्पणों के द्वारा प्रयत्न किया गया है। यद्यपि इन टिप्पणों में स्वीकृत इतिहास तथा तुलना की दृष्टि वैदिक, बौद्ध और जैन इन भारतीय परम्पराओं तक ही सीमित है; फिर भी इन तीनों परम्पराओं की अवान्तर सभी शाखाओं को स्पर्श करने का यथासंभव प्रयत्न किया गया है। जिन शास्त्रीय प्रमाणों व आधारों का अवलंबन लेकर ये टिप्पण लिखे गये हैं, वे सब प्रमाण व आधार टिप्पणों में सर्वत्र अक्षरशः परिपूर्ण न देकर अनेक स्थलों में उनका स्थान सूचित किया है और कहीं कहीं महत्त्वपूर्ण संक्षिप्त अवतरण भी दे दिये हैं जिससे अनावश्यक विस्तार न हो, फिर भी मूल स्थानों का पता लग सके।

चौथी विशेषता प्रमाणमीमांसा के सूत्र तथा उसकी वृत्ति की तुलना करने के संबन्ध में है। इस तुलना में ऐसे अनेक जैन, बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों का उपयोग किया है, जो या तो प्रमाणमीमांसा के साथ शब्दशः मिलते हैं या अर्थतः; अथवा जो ग्रन्थ साक्षात् या परम्परया प्रमाणमीमांसा की रचना के आधारभूत बने हुए जान पड़ते हैं। इस तुलना में निर्दिष्ट ग्रन्थों की सामान्य सूची को देखने मात्र से ही यह अंदाज लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा की रचना में कितने विशाल साहित्य का अवलोकन या उपयोग किया होगा, और इससे हेमचन्द्र के उस ग्रन्थप्रणयनकौशल का भी पता चल जाता है जिसके द्वारा उन्होंने अनेक ग्रन्थों के विविधविषयक पाठों तथा विचारों का न केवल सुसंगत संकलन ही किया है अपितु उस संकलन में अपना विद्यासिद्ध व्यक्तित्व भी प्रकट किया है।

पाँचवीं विशेषता प्रस्तावना की है जिसके ग्रन्थ परिचय में, भारतीय दर्शनों के विचार

स्रोतों का वर्गीकरण पूर्वक तुलनात्मक संक्षिप्त वर्णन करके उसमें जैन विचारप्रवाह का स्थान दिखलाया है तथा जैन साहित्य व विचार प्रवाह के युगानुरूप विकास का दिग्दर्शन भी कराया है। प्रमाणमीमांसा की विशिष्टता बतलाने के साथ साथ अनेकान्तवाद की आत्मा को भी चित्रित करने का अल्प प्रयास किया है। प्रस्तावना के 'ग्रन्थकार-परिचय' में हेमचन्द्र के आन्तर-बाह्य व्यक्तित्व का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्णन है।

४. कार्य-विभाग

प्रस्तुत संस्करण से सम्बन्ध रखनेवाले काम अनेक थे। उन सब में एक वाक्यता बनी रहे, पुनरुक्ति न हो और यथासंभव शीघ्रता भी हो, इस दृष्टि से उन कामों का विभाग हम लोगों ने पहले से ही स्थिर कर लिया था, जिसका सूचन जरूरी है। पाठशुद्धिपूर्वक पाठ-पाठान्तरों के स्थान निश्चित करने का, भाषाटिप्पण तथा प्रस्तावना लिखने का काम मेरे जिम्मे रहा। ग्रन्थगत अवतरणों के मूल स्थानों को ढूँढ निकालने का तथा तुलना में और भाषाटिप्पण लिखने में उपयोगी हो सके, ऐसे स्थलों को जैन-जैनेतर ग्रन्थों में से संचित करने का काम पं० महेन्द्रकुमारजी के जिम्मे रहा। पाठान्तर लेने और सारी प्रेस कॉपी को व्यवस्थित बनाने से लेकर छप जाने तक का प्रेस प्रूफ, सेट-अप आदि सभी कामों का, तथा सभी परिशिष्ट बनाने का भार पं० दलसुख भाई के ऊपर रहा। फिर भी सभी एक दूसरे के कार्य में आवश्यकतानुसार सहायक तो रहे ही। मैं अपने विषय में इतना और भी स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि लिखवाते समय मुझे मेरे दोनों सहकारी मित्रों ने अनेक विषयों में केवल परामर्श ही नहीं दिया, बल्कि मेरी लिखावट में रही हुई त्रुटि या भ्रांति का उन्होंने संशोधन भी कर दिया। सचमुच मैं इन दोनों सहृदय व उदारचेता मित्रों के कारण ही एक प्रकार के विशिष्ट चिंतन में बेफिक्र निमग्न रह सका।

५. आभार-दर्शन

जिन जिन व्यक्तियों की थोड़ी या बहुत किसी न किसी प्रकार की सहायता इस कार्य में मिली है, उन सबका नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख न तो संभव है और न आवश्यक ही। फिर भी मुख्य मुख्य व्यक्तियों के प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है। प्रवर्तक श्री० कान्ति-विजयजी के प्रशिष्य सुचेता मुनि श्री पुण्यविजयजी के सक्रिय साक्षित्व में इस कार्य का श्रीगणेश हुआ। प्रस्तुत कार्य को शुरू करने के पहले से अंत तक मात्र प्रोत्साहन ही नहीं प्रत्युत मार्मिक पथ-प्रदर्शन व परामर्श अपने सदा के साथी श्रीमान् जिनविजयजी से मुझे मिला। विद्वान् मित्र श्री रसिकलाल परीख बी० ए० ने न केवल ग्रन्थकार का परिचय लिखकर ही इस कार्य में सहयोग दिया है बल्कि उन्होंने छपे हुए भाषा-टिप्पणों को तथा छपने के पहले मेरी प्रस्तावना को पढ़ कर अपना विचार भी सुझाया है। पं० बेचरदास ने मूल ग्रन्थ के कई प्रूफों में महत्त्व की शुद्धि भी की और प्रस्तावना के सिवाय बाकी के सारे छपे हुए फर्मों को पढ़ कर उनमें दिखलाई देने वाली अशुद्धियों का भी निर्देश किया है। मेरे विद्यागुरु महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र ने तो जब जब मैं पहुँचा तब तब बड़े उत्साह व आदर से मेरे प्रश्नों पर अपनी दार्शनिक विद्या का गम्भीर खजाना ही खोल दिया जो मुझे खास कर भाषा-टिप्पण लिखते समय उपयोगी हुआ है। मीमांसकधुरीण पं० चिन्नस्वामी तथा वैयाकरणरूप पं० राज-नारायण मिश्र से भी मैंने कभी कभी परामर्श लिया है। विदुषी श्रीमती हीराकुमारीजी ने तीसरे आह्निक के भाषा-टिप्पणों का बहुत बड़ा भाग मेरे कथनानुसार लिखा और उस लेखन काल में जरूरी साहित्य को भी उन्होंने मुझे पढ़ सुनाया है। सातवाँ परिशिष्ट तो पूर्ण रूप से उन्हीं ने तैयार किया है। मेरे मित्र व विद्यार्थी मुनि कृष्णचन्द्रजी, शान्तिलाल तथा महेन्द्रकुमार

ने प्रूफ देखने में या लिखने आदि में निःसङ्कोच सहायता की है। अतएव मैं इन सबका अन्तःकरण से आभारी हूँ। मैं भिक्षुवर राहुल सांकृत्यायन का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रमाणवार्तिकादि अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों का उपयोग बड़ी उदारता से करने दिया।

इस ग्रन्थमाला के प्राणप्रतिष्ठापक, विद्वन्मित्र और सहोदरकल्प बा० श्रीबहादुर सिंहजी सिंघी के उदार विद्यानुराग व साहित्य प्रेम का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ जिसके कारण, इतःपूर्व प्रकाशित जैनतर्कभाषा और प्रस्तुत ग्रन्थ का सिंघी जैनग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन हो रहा है। ई० सन् १९३७ जून की पहली तारीख को आबू पर्वत पर, प्रसंगोचित वार्तालाप होते समय, मैंने श्रीमान् सिंघीजी से यों ही स्वाभाविक भाव से कह दिया था कि–यह प्रमाणमीमांसा का संपादन, शायद मेरे जीवन का एक विशिष्ट अन्तिम कार्य हो, क्योंकि शरीरशक्ति दिन प्रतिदिन अधिकाधिक क्षीण होती जा रही है और अब ऐसा गंभीर मानसिक श्रम उठाने जैसी वह क्षम नहीं है। मुझे तब इसकी तो कोई कल्पना ही नहीं थी कि अगले वर्ष यानि १९३८ के जून में, ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पूर्व ही, इस शरीर पर क्या क्रिया होनेवाली है। खैर, अभी तो मैं उस घात से पार हो गया हूँ और मेरे साहित्य संस्कारों तथा विद्योपासना का स्रोत आगे जारी रहा तो उक्त बाबूजी की सौहार्दपूर्ण प्रेरणा और सन्निष्ठा के कारण, मुख्यतया इस स्रोत के प्रवाह का सिंघी जैन ग्रन्थमाला के बाँध में संचित होना और फिर उसके द्वारा इतस्ततः प्रसारित होना स्वाभाविक ही है। अतएव यहाँ पर उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करना आवश्यक और क्रमप्राप्त है।

हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्याविभाग के भूतपूर्व प्रिंसिपल तथा इस समय हिंदू-विश्वविद्यालय के संस्कृत शिक्षण के डाइरेक्टर महामहोपाध्याय पं० श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण को मैंने छपी हुई सारी प्रमाणमीमांसा १९३७ के अंतिम दिनों में अवलोकन के लिए दी थी। वे प्रखर दार्शनिक होने के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि भी रखते हैं। उन्होंने मूल ग्रन्थ तथा सारे भाषा-टिप्पणों को बड़ी एकाग्रता व दिलचस्पी से पढ़ा। जैसा मैं चाहता था तदनुसार उन्हें कोई विस्तृत दार्शनिक निबन्ध या ऐतिहासिक समालोचना लिखने का अवकाश नहीं मिला; फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा वह मुझे गत वर्ष अप्रिल में ही मिल गया था। यहाँ मैं उसे इस वक्तव्य के अंत में ज्यों का त्यों कृतज्ञता के साथ प्रसिद्ध करता हूँ। उन्होंने जिस सौहार्द और विद्यानुरागपूर्वक भाषाटिप्पण गत कुछ स्थानों पर मुझे सूचनाएँ दीं और स्पष्टता करने के वास्ते ध्यान खींचा; एतदर्थ तो मैं उनका विशेष कृतज्ञ हूँ।

६. प्रत्याशा

चिरकाल से मन में निहित और पोषित सङ्कल्प का मूर्तरूप में सुखप्रसव, दो उत्साहशील तरुण मनस्वी सखाओं के सहकार से, सहृदय सृष्टि के समक्ष आज उपस्थित करता हूँ। मैं इसके बदले में सहृदयों से इतनी ही आशा रखता हूँ कि वे इसे योग्य तथा उपयोगी समझें तो अपना लें। इसके गुण दोषों को अपना ही समझें और इसी बुद्धि से आगे उनका यथायोग्य विकास और परिमार्जन करें। अगर इस कृति के द्वारा साहित्य के किसी अंश की पूर्ति और जिज्ञासुओं की कुछ ज्ञानतृप्ति हुई तो मैं अपनी चालीस वर्ष की विद्योपासना को फलवती समझूँगा। साथ ही सिंघी जैन ग्रन्थमाला भी फलेग्रहि सिद्ध होगी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
ता० ५. ३. ३९

सुखलाल

भूमिका

गीर्वाणवाणीनिबद्धेषु दार्शनिकग्रन्थेषु जैनाचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिता प्रमाणमीमांसा आर्हतसम्प्रदाये प्रामाणिकतया परां प्रसिद्धिमुपगता वरीवर्त्ति । यस्मिन् खल्वनेहसि प्रमाण-मीमांसायाः प्रादुर्भावः समजनि, तदानीन्तनेषु दार्शनिकेषु निबन्धकर्तृषु प्रायेण सर्वेष्वेव विरोधिसम्प्रदायान्तरेभ्यः स्वसम्प्रदायस्य समुत्कर्षविशेषसंस्थापनार्थं समुचितोऽनुचितो वा सुमहान् प्रयासो गतानुगतिकतया परां किल काष्ठामधिगतः समदृश्यत । तदेतत्सर्वं सुविदित-मेवास्ति भारतीयेतिहासतत्त्वविदां सर्वेषां प्रेक्षावताम् । जैनाचार्यकुलप्रकाण्डस्य श्रीमतो हेम-चन्द्रस्यापि अस्यां प्रमाणमीमांसायां स्वसम्प्रदायसमुत्कर्षव्यवस्थापनाय सम्प्रदायान्तरसिद्धान्त-खण्डनाय च समुपलभ्यमानः प्रयत्नो विशुद्धदार्शनिकदृष्ट्या रमणीयो भवतु मा वा इति न तत्र ममास्ति किञ्चिद् विशेषतो वक्तव्यम् । यद्यपि तदानीन्तनैर्विभिन्नसम्प्रदायाचार्यप्रवरैः स्वस्वसम्प्रदायसिद्धान्तसंस्थापनाय समनुसृतेयं पद्धतिर्दार्शनिकतत्त्वानां दार्ढ्यं वैशद्यं वा सम्पा-दयितुं प्रभवति न वेति मीमांसाया नायमवसरः, तथापि अनया पद्धत्या प्रवर्तमानैः प्राचीनैस्तत्तत्-सम्प्रदायाचार्यैर्भारतीयेषु नानाधर्मसम्प्रदायेषु परस्परं द्वेषकलहादिकलितनिन्दनस्वाभिमाना-दीनि मूलानि न श्लथीकृतानि प्रत्युत परिपोषितानीति सकलधर्मसम्प्रदायमहामानवसमाजमहा-प्रासादभित्तिस्थानीयानां मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां चित्तपरिकर्मणां शैथिल्यस्य भारतीयजनता-संघशक्तिप्रध्वंसकरः सम्प्रसारः समजनि ।

तथाहि—अस्यामेव प्रमाणमीमांसायां सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गेन यदुपन्यस्तं, जैनाचार्येण श्रीहेम-चन्द्रेण, तदुदाहृत्य मदीयवक्तव्यस्याशयः प्रकटीक्रियते ।

"अथ—

> "ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
> ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥"

इति वचनात् सर्वज्ञत्वमीश्वरादीनामस्तु, मानुषस्य तु कस्यचिद् विद्याचरणवतोऽपि तद्-सम्भावनीयम्, यत्कुमारिलः—

> "अथाऽपि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
> कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ॥"

इति; आः ! सर्वज्ञापलापपातकिन् ! दुर्वदवादिन् ! मानुषत्वनिन्दार्थवादापदेशेन देवाधि-देवानधिक्षिपसि ! ये हि जन्मान्तरार्जितोर्जितपुण्यप्राग्भाराः सुरभवभवमनुपमं सुखमनुभूय दुःख-पङ्कमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्षवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखासिकामृतवृष्टयो मनुष्यलोकमवतेरुः जन्मसमयसमकालचलितासनसकलसुरेन्द्रवृन्दविहितजन्मोत्सवाः किङ्करायमाणसुरसमूहाहमहमि-कारब्धसेवाविधयः स्वयमुपनतामतिप्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवदवधूय समतृणमणिशत्रुमित्रवृ-त्तयो निजप्रभावप्रशमितेतिमरकादिजगदुपद्रवाः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्माण आविर्भूत-निखिलभावाभावस्वभावावभासिकेवलकलितसकलजीवलोकमोहप्रसराः सुरासुरविनिर्मितां समव-सरणभुवमधिष्ठाय स्वस्वभाषापरिणामिनीभिर्वाग्भिः प्रवर्त्तितधर्मतीर्थाश्चतुस्त्रिंशदतिशयमयीं तीर्थ-

नाथत्वलक्ष्मीमुपभुज्य परं ब्रह्म सततानन्दं सकलकर्म्मनिर्मोक्षमुपेयिवांसस्तान् मानुषत्वादिसाधारणधर्मोपदेशेनापवदन् सुमेरुमपि लेष्ट्वादिना साधारणीकर्त्तुं पार्थिवत्वेनापवदेः ।। किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्भोगदुर्ललितवृत्तीनां विविधहेतिसमूहधारिणामक्षमालाद्यावलम्बनमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्वविश्वसाम्राज्यम् !, यदवदाम स्तुतौ—

"मदेन मानेन मनोभवेन, क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां, वृथैव साम्राज्यरुजा परेषा ॥" (पृ० १२—१३)"

एवमेव विरोधिसम्प्रदायान्तरप्रधानतमपुरुषापकर्षप्रतिपादकप्रबन्धाः कुमारिलभट्टाकलङ्कशान्तरक्षितप्रभृतिभिस्तत्तत्सम्प्रदायपरमाचार्यैरपि स्वस्वरचितेषु दार्शनिकग्रन्थेषु लिखिताः समुपलभ्यन्ते शतशः प्रबन्धाः; तथाहि—

बुद्धसर्वज्ञतानिराकरणप्रस्तावे श्लोकवार्तिके स्वयमेवोक्तं श्रीमद्भिः कुमारिलभट्टैः—

"नचापि स्मृत्यविच्छेदात् सर्वज्ञः परिकल्प्यते ।
विगानाच्छिन्नमूलत्वात् कैश्चिदेव परिग्रहात् ॥"

विस्तरभयात् अन्येषामपि सम्प्रदायाचार्याणामेतादृशभाषणानि आकरेषु सहस्रशः समुपलभ्यमानानि नात्रोदाहृतानि ।

तदस्यां "प्रमाणमीमांसायां" परमतनिराकरणनिर्बन्धातिशयद्योतिका प्राक्तनी शैली स्फुटतरं प्रतीयमानापि शारदपौर्णमासीसुधाकरे समुद्भासितकलङ्करेखेव उदारमतिभिः शिष्टैः सोढव्या भवतु मा वा नैतावता ग्रन्थस्य महाप्रमेयत्वं केनापि प्रत्याख्यातुं शक्यते । अत्र च आर्हतसिद्धान्तानां सुनिपुणदार्शनिकप्रणाल्या यथा सूक्ष्मतया संक्षिप्ततया च विश्लेषणं विहितं तथा अन्यत्र दुरवापमिति हि निर्विप्रतिपत्तिकः प्रेक्षावतां निर्णयः । तदनुसारेणैव च काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय—प्राच्यविद्याविभागान्तर्गतजैनदर्शनशास्त्रप्रधानाध्यापकेन दार्शनिकप्रवरेण पण्डितप्रकाण्डेन श्रीमता सुखलालजैनमहोदयेन हिन्दीभाषामयीमेकां मनोरमां विवृतिं विरचय्य तया सह "प्रमाणमीमांसा" मुद्रणेन प्रकाशं नीता । अस्यां विवृतौ श्रीमता जैनमहोदयेन प्रमाणमीमांसायामालोचितानां सिद्धान्तानां सम्यक्परिचयोपयोगिनो बहवो दार्शनिका ऐतिहासिकाश्च ज्ञातव्या विषयाः समवतारिताः, तान् विलोक्य सञ्जातो मे नितरां सन्तोषः । जैनाभ्युपगतसर्वज्ञतावादाद् बौद्धाभिमतसर्वज्ञतावादस्य वैलक्षण्यं तथा बौद्धजैनाभ्युपगतसर्वज्ञतावादतो नैयायिकवेदान्तिमीमांसकाभिमतसर्वज्ञतावादानां सारूप्यं वैरूप्यं च इत्येवमादेर्निर्णयप्रसङ्गेन श्रीमता सुखलालजैनमहोदयेन यो विचारपूर्वकनिष्कर्षः प्रदर्शितस्तेनास्य विचारशैली, ऐतिहासिकता, कल्पनाकुशलता च सर्वथा सहृदयानां प्रेक्षावतां मनांसि सन्तोषयिष्यति एवेति मे सुदृढो विश्वासः ।

एतादृशहिन्दीभाषामयविवृत्या सह जैनसिद्धान्तग्रन्थमूर्द्धन्यां जैनाचार्यहेमचन्द्रविरचितां प्रमाणमीमांसां विशुद्धतया सर्वसौष्ठवोपेततया च मुद्रापयित्वा प्रकाशयता पण्डितवर्येण श्रीमता सुखलालजैनमहोदयेन जैनदर्शनतत्त्वबुभुत्सूनां सहृदयानां कृतो महानुपकार इति सर्वथायं धन्यवादमर्हतीति सविनयं निवेदयति—

श्रीप्रमथनाथतर्कभूषणशर्म्मा ।

प्रस्तावना

ग्रन्थपरिचय।

§ १ आभ्यन्तर स्वरूप।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का ठीक-ठीक और वास्तविक परिचय पाने के लिये यह अनिवार्य रूप से जरूरी है कि उसके आभ्यन्तर और बाह्य स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण किया जाय तथा जैन तर्क साहित्य में और तद्द्वारा तार्किक दर्शन साहित्य में प्रमाणमीमांसा का क्या स्थान है, यह भी देखा जाय।

आचार्य ने जिस दृष्टि को लेकर प्रमाणमीमांसा का प्रणयन किया है और उसमें प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय आदि जिन तत्त्वों का निरूपण किया है उस दृष्टि और उन तत्त्वों के हार्द का स्पष्टीकरण करना यही ग्रन्थ के आभ्यन्तर स्वरूप का वर्णन है। इसके वास्ते यहां नीचे लिखे चार मुख्य मुद्दों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है—१. जैन दृष्टि का स्वरूप, २. जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता, ३. प्रमाण शक्ति की मर्यादा, ४. प्रमेय प्रदेशका विस्तार।

१ जैन दृष्टि का स्वरूप

भारतीय दर्शन मुख्यतया दो विभागों में विभाजित हो जाते हैं कुछ तो हैं वास्तववादी और कुछ हैं अवास्तववादी। जो स्थूल अर्थात् लौकिक प्रमाणगम्य जगत् को भी वैसा ही वास्तविक मानते हैं जैसा सूक्ष्म लोकोत्तर प्रमाणगम्य जगत को अर्थात् जिनके मतानुसार व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य में कोई भेद नहीं; सत्य सब एक कोटि का है चाहे मात्रा न्यूनाधिक हो अर्थात् जिनके मतानुसार भान चाहे न्यूनाधिक और स्पष्ट-अस्पष्ट हो पर प्रमाण मात्र में भासित होनेवाले सभी स्वरूप वास्तविक हैं, तथा जिनके मतानुसार वास्तविक रूप भी वाणीप्रकाश्य हो सकते हैं—वे दर्शन वास्तववादी हैं। इन्हें विधिमुख, इदमित्थंवादी या एवं-वादी भी कह सकते हैं—जैसे चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, सांख्य-योग, वैभाषिक-सौत्रान्तिक बौद्ध और माध्वादि वेदान्त।

जिनके मतानुसार बाह्य दृश्य जगत् मिथ्या है और आन्तरिक जगत् ही परम सत्य है; अर्थात् जो दर्शन सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक अथवा सांवृतिक और वास्तविक ऐसे दो भेद करके लौकिक प्रमाणगम्य और वाणीप्रकाश्य भावको अवास्तविक मानते हैं—वे

अवास्तववादी हैं। इन्हें निषेधमुख या अनेकांतवादी भी कह सकते हैं। जैसे शून्यवादी-विज्ञानवादी बौद्ध और शाङ्कर वेदान्त आदि दर्शन।

प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी जैन दृष्टिका स्वरूप एकान्ततः वास्तववादी ही है। क्योंकि उसके मतानुसार भी इन्द्रियजन्य मतिज्ञान आदिमें भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का वही स्थान है जो पारमार्थिक केवलज्ञान में भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का स्थान है अर्थात् जैनमतानुसार दोनों सत्य की मात्रामें अन्तर है, योग्यता व गुण में नहीं। केवलज्ञान में द्रव्य और उनके अनन्त पर्याय जिस यथार्थता से जिस रूप से भासित होते हैं उसी यथार्थता और उसी रूपसे कुछ द्रव्य और उनके कुछ ही पर्याय मति आदि ज्ञान में भी भासित हो सकते हैं। इसीसे जैन दर्शन अनेक सूक्ष्मतम भावों की अनिर्वचनीयता को मानता हुआ भी निर्वचनीय भावों को यथार्थ मानता है। जब कि शून्यवादी और शाङ्कर वेदान्त आदि ऐसा नहीं मानते।

२. जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता

जैन दृष्टि का जो वास्तववादित्व स्वरूप ऊपर बतलाया गया वह इतिहास के प्रारम्भ से अब तक एक ही रूप में रहा है या उसमें कभी—किसी के द्वारा थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है, यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह होता है कि अगर जैन दृष्टि सदा एकसी स्थितिशील रही और बौद्ध वेदान्त दृष्टि की तरह उसमें परिवर्तन या चिन्तन विकास नहीं हुआ तो इसका क्या कारण ?।

भगवान महावीर का पूर्व समय जबसे थोड़ा बहुत भी जैन परम्परा का इतिहास पाया जाता है तबसे लेकर आज तक जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप बिलकुल अपरिवर्तिष्णु या ध्रुव ही रहा है। जैसा कि न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य-योग आदि दर्शनों का भी वास्तववादित्व अपरिवर्तिष्णु रहा है। बेशक न्याय वैशेषिक आदि उक्त दर्शनों की तरह जैन दर्शन के साहित्य में भी प्रमाण प्रमेय आदि सब पदार्थों की व्याख्याओं में, लक्षणप्रणयन में और उनकी उपपत्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विकास तथा स्पष्टता हुई है, यहां तक कि नव्यन्याय के परिष्कार का आश्रय लेकर भी यशोविजय जी जैसे जैन विद्वानों ने व्याख्या एवं लक्षणों का विश्लेषण किया है फिर भी इस सारे ऐतिहासिक समय में जैन दृष्टि के वास्तववादित्व स्वरूप में एक अंश भी फर्क नहीं पड़ा है जैसा कि बौद्ध और वेदान्त परंपरा में हम पाते हैं।

बौद्ध परंपरा शुरू में वास्तववादी ही रही। पर महायान की विज्ञानवादी और शून्यवादी शाखा ने उसमें आमूल परिवर्तन कर डाला। उसका वास्तववादित्व ऐकान्तिक अवास्तववादित्व में बदल गया। यही है बौद्ध परंपरा का दृष्टि परिवर्तन। वेदान्त परम्परा में भी ऐसा ही हुआ। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र में जो अवास्तववादित्व के अस्पष्ट बीज थे और जो वास्तववादित्व के स्पष्ट सूचन थे उन सबका एक मात्र अवास्तववादित्व अर्थ में तात्पर्य बतलाकर शङ्कराचार्य ने वेदान्त में अवास्तववादित्व की स्पष्ट स्थापना की जिसके ऊपर आगे जाकर

दृष्टिसृष्टिवाद आदि अनेक रूपों में और भी दृष्टि परिवर्तन व विकास हुआ। इस तरह एक तरफ बौद्ध और वेदान्त दो परम्पराओं की दृष्टिपरिवर्तिष्णुता और बाकी के सब दर्शनों की दृष्टि-अपरिवर्तिष्णुता हमें इस भेद के कारणों की खोज की ओर प्रेरित करती है।

स्थूल जगत् को असत्य या व्यावहारिक सत्य मानकर उससे भिन्न आन्तरिक जगत् को ही परम सत्य मानने वाले अवास्तववाद का उद्गम सिर्फ तभी संभव है जब कि विश्लेषण क्रिया की पराकाष्ठा—आत्यन्तिकता हो या समन्वय की पराकाष्ठा हो। हम देखते हैं कि यह योग्यता बौद्ध परंपरा और वेदान्त परंपरा के सिवाय अन्य किसी दार्शनिक परम्परा में नहीं है। बुद्ध ने प्रत्येक स्थूल सूक्ष्म भाव का विश्लेषण यहां तक किया कि उसमें कोई स्थायी द्रव्य जैसा तत्त्व शेष न रहा। उपनिषदों में भी सब भेदों का—विविधताओं का समन्वय एक ब्रह्म—स्थिर तत्त्व में विश्रान्त हुआ। भगवान बुद्ध के विश्लेषण को आगे जा कर उनके सूक्ष्मप्रज्ञ शिष्यों ने यहां तक विस्तृत किया कि अन्त में व्यवहार में उपयोगी होने वाले अखण्ड द्रव्य या द्रव्य-भेद सर्वथा नाम शेष हो गए। और क्षणिक किन्तु अनिर्वचनीय परम सत्य ही शेष रहा। दूसरी ओर शङ्कराचार्य ने औपनिषद परम ब्रह्म की समन्वय भावना को यहां तक विस्तृत किया कि अन्त में भेदप्रधान व्यवहार जगत नामशेष या मायिक ही होकर रहा। बेशक नागार्जुन और शङ्कराचार्य जैसे ऐकान्तिक विश्लेषणकारी या ऐकान्तिक समन्वयकर्ता न होते तो इन दोनों परम्पराओं में व्यावहारिक और परम सत्य के भेद का आविष्कार न होता। फिर भी हमें भूलना न चाहिए कि अवास्तववादी दृष्टि की योग्यता बौद्ध और वेदान्त परंपरा की भूमिका में ही निहित रही जो न्याय वैशेषिक आदि वास्तववादी दर्शनों की भूमिका में बिलकुल नहीं है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य-योग दर्शन केवल विश्लेषण ही नहीं करते बल्कि समन्वय भी करते हैं उनमें विश्लेषण और समन्वय दोनों का समप्राधान्य तथा समानबलत्व होने के कारण दोनों में से कोई एक ही सत्य नहीं है अतएव उन दर्शनों में अवास्तववाद के प्रवेश की न योग्यता है और न संभव ही है। अतएव उनमें नागार्जुन शङ्कराचार्य आदि जैसे अनेक सूक्ष्मप्रज्ञ विचारक होते हुए भी वे दर्शन वास्तववादी ही रहे। यही स्थिति जैन दर्शन की भी है। जैन दर्शन द्रव्य द्रव्य के बीच विश्लेषण करते करते अन्त में सूक्ष्मतम पर्यायों के विश्लेषण तक पहुँचता है सही, पर वह विश्लेषण के अन्तिम परिणाम स्वरूप पर्यायों को वास्तविक मान कर भी द्रव्य की वास्तविकता का परित्याग बौद्ध दर्शन की तरह नहीं करता। इसी तरह वह पर्यायों और द्रव्यों का समन्वय करते करते एक सत् तत्त्व तक पहुँचता है और उसकी वास्तविकता का स्वीकार करके भी विश्लेषण के परिणाम स्वरूप द्रव्य भेदों और पर्यायों की वास्तविकताका परित्याग, ब्रह्मवादी दर्शन की तरह नहीं करता। क्योंकि वह पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक दोनों दृष्टिओं को सापेक्ष भाव से तुल्यबल और समान सत्य मानता है। यही सबब है कि उसमें भी न बौद्ध परंपरा की तरह आत्यन्तिक विश्लेषण हुआ और न वेदान्त परंपरा की तरह आत्यन्तिक समन्वय। इसीसे जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप स्थिर ही रहा।

३. प्रमाण शक्ति की मर्यादा

विश्व क्या वस्तु है, वह कैसा है, उसमें कौनसे-कौनसे और कैसे-कैसे तत्त्व हैं, इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर तत्त्वचिन्तकों ने एक ही प्रकार का नहीं दिया। इसका सबब यही है कि इस उत्तरका आधार प्रमाण की शक्तिपर निर्भर है; और तत्त्वचिन्तकों में प्रमाण की शक्तिके बारे में नाना मत हैं। भारतीय तत्त्वचिन्तकों का प्रमाणशक्तिके तारतम्य संबंधी मत-भेद संक्षेपमें पांच पक्षों में विभक्त हो जाता है-- १ इन्द्रियाधिपत्य, २ अनिन्द्रियाधिपत्य, ३ उभयाधिपत्य, ४ आगमाधिपत्य और ५ प्रमाणोप्लव ऐसे पांच पक्ष हैं।

१. जिस पक्ष का मन्तव्य यह है कि प्रमाण की सारी शक्ति इन्द्रियों के ऊपर ही अवलम्बित है, मन खुद इन्द्रियों का अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियों की मदद के सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियों की पहुँच न हो वहाँ कभी प्रवृत्त हो कर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता। सच्चे ज्ञान का अगर संभव है तो इन्द्रियोंके द्वारा ही, वह इन्द्रियाधिपत्य पक्ष। इस पक्ष में चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या शब्द व्यवहाररूप आगम आदि प्रमाणों को जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहार की वस्तु है, उसे न मानता हो, फिर भी चार्वाक अपनेको प्रत्यक्षमात्रवादी-- इन्द्रियप्रत्यक्षमात्रवादी कहता है; इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो पर उसका प्रामाण्य इन्द्रियप्रत्यक्ष के संवाद के सिवाय कभी संभव नहीं। अर्थात् इन्द्रियप्रत्यक्ष से बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार अगर प्रमाण कहा जाय तो इसमें चार्वाक को आपत्ति नहीं।

२. अनिन्द्रिय के अन्तःकरण-- मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं जिनमें से चित्तरूप अनिन्द्रियका आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्ष में विज्ञानवाद, शून्यवाद, और शाङ्कर वेदान्त का समावेश है। इस पक्षके अनुसार यथार्थ ज्ञान का संभव विशुद्ध चित्त के द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियों की सत्यज्ञानजनन शक्ति का सर्वथा इन्कार करता है और कहता है कि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान कराने में पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य हैं। इसके मन्तव्य का निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त, खासकर ध्यानशुद्ध सात्त्विक चित्त से बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकने वाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता, चाहे वह भले ही लोकव्यवहार में प्रमाणरूपसे माना जाता हो।

३. उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाक की तरह इन्द्रियों को ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मन का असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता और न इन्द्रियों को पंगु या धोखेबाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्त का ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मनकी मदद से ही सही पर इन्द्रियाँ गुणसंपन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह पक्ष मानता है कि इन्द्रियों की मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान करा सकता है। इसीसे इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, आदि दर्शनों का समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियों

का सादृगुण्य मानकर भी अन्तःकरण की स्वतन्त्र यथार्थशक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मन की वैसी ही शक्ति मानते हैं पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्मा का स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य नहीं मानते क्योंकि वे प्रमाणसामर्थ्य बुद्धि में ही मानकर पुरुष या चेतन को निरतिशय मानते हैं। जब कि न्याय-वैशेषिक आदि चाहे ईश्वर के आत्मा का ही सही पर आत्मा का स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मन का अभाव होने पर भी ईश्वर में ज्ञान शक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक भी इसी पक्ष के अन्तर्गत हैं; क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनों का प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं।

४. आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी न किसी विषय में आगम के सिवाय किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रिय का प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल पूर्व मीमांसक का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयों में सांख्य-योगादि की तरह उभयाधिपत्य पक्ष का ही अनुगामी है फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयों में वह आगम मात्र का ही सामर्थ्य मानता है। यद्यपि वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के विषय में आगम का ही प्राधान्य है फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्ष में इसलिये नहीं आ सकता कि ब्रह्म विषय में ध्यानशुद्ध अन्तःकरण का भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

५. प्रमाणोपप्लव पक्ष वह है जो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय या आगम किसी का सादृगुण्य या सामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि ऐसा कोई साधन गुणसंपन्न है ही नहीं जो अबाधित ज्ञान की शक्ति रखता हो। सभी साधन उसके मत से पंगु या विप्रलम्भक हैं। इसका अनुगामी तत्त्वोपप्लववादी कहलाता है जो आखिरी हद का चार्वाक ही है। यह पक्ष जयराशि-कृत तत्त्वोपप्लव में स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है।

उक्त पाँच में से तीसरा उभयाधिपत्य पक्ष ही जैन दर्शन का है। क्योंकि वह जिस तरह इन्द्रियों का स्वतन्त्र सामर्थ्य मानता है इसी तरह वह अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का अलग अलग भी स्वतन्त्र सामर्थ्य मानता है। आत्मा के स्वतन्त्र सामर्थ्य के विषय में न्याय-वैशेषिक आदि के मन्तव्य से जैन दर्शन के मन्तव्य में फर्क यह है कि जैन दर्शन सभी आत्माओं का स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य वैसा ही मानता है जैसा न्याय आदि ईश्वर मात्र का। जैन दर्शन प्रमाणोपप्लव पक्ष का निराकरण इस लिये करता है कि उसे प्रमाणसामर्थ्य अवश्य इष्ट है। वह चार्वाक के प्रत्यक्षमात्र वाद का विरोध इस लिये करता है कि उसे अनिन्द्रिय का भी प्रमाणसामर्थ्य इष्ट है। वह विज्ञान, शून्य और ब्रह्म इन तीनों वादों का निरास इस लिये करता है कि उसे इन्द्रियों का प्रमाणसामर्थ्य भी मान्य है। वह आगमाधिपत्य पक्षका भी विरोधी है, सो इसलिये कि उसे धर्माधर्म के विषय में अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का प्रमाणसामर्थ्य इष्ट है।

४. प्रमेय प्रदेशका विस्तार

जैसी प्रमाणशक्ति की मर्यादा वैसा ही प्रमेय का क्षेत्र विस्तार अतएव मात्र इन्द्रिय-सामर्थ्य माननेवाले चार्वाक के सामने सिर्फ स्थूल या दृश्य विश्वका ही प्रमेय क्षेत्र रहा, जो एक

या दूसरे रूपमें अनिन्द्रिय प्रमाण का सामर्थ्य माननेवालों की दृष्टि में अनेकधा विस्तीर्ण हुआ। अनिन्द्रिय सामर्थ्यवादी कोई क्यों न हो पर सबको स्थूल विश्व के अलावा एक सूक्ष्म विश्व भी नजर आया। सूक्ष्म विश्व का दर्शन उन सबका बराबर होने पर भी उनकी अपनी जुदी-जुदी कल्पनाओं के तथा परंपरागत भिन्न-भिन्न कल्पनाओं के आधार पर सूक्ष्म प्रमेय के क्षेत्र में भी अनेक मत व संप्रदाय स्थिर हुए जिनको हम अति संक्षेप में दो विभागों में बाँटकर समझ सकते हैं। एक विभाग तो वह जिसमें जड़ और चेतन दोनों प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों को मानने-वालोंका समावेश होता है। दूसरा वह जिसमें केवल चेतन या चैतन्य रूप ही सूक्ष्म तत्त्व को माननेवालों का समावेश होता है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा भारतीय तत्त्वज्ञान में यह एक ध्यान देने योग्य भेद है कि इसमें सूक्ष्म प्रमेयतत्त्व माननेवाला अभी तक ऐसा कोई नहीं हुआ जो स्थूल भौतिक विश्व की तह में एकमात्र सूक्ष्म जड़तत्त्व ही मानता हो और सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्वका अस्तित्व ही न मानता हो। इसके विरुद्ध ऐसे तत्त्वज्ञ भारत में होते आये हैं जो स्थूल विश्व के अन्तस्तल में एक मात्र चेतन तत्त्व का सूक्ष्म जगत मानते हैं। इसी अर्थ में भारत को चैतन्यवादी समझना चाहिए। भारतीय तत्त्वज्ञान के साथ पुनर्जन्म, कर्मवाद और बन्ध-मोक्ष की धार्मिक या आचरण लक्षी कल्पना भी मिली हुई है जो सूक्ष्म विश्व माननेवाले सभी को निर्विवाद मान्य है और सभीने अपने-अपने तत्त्व ज्ञान के ढांचे के अनुसार चेतन तत्त्वके साथ उसका मेल बिठाया है। इन सूक्ष्म तत्त्वदर्शी परंपराओं में मुख्यतया चार वाद ऐसे देखे जाते हैं, जिनके बल पर उस-उस परंपरा के आचार्यों ने स्थूल और सूक्ष्म विश्वका संबंध बतलाया है या कार्य कारण का मेल बिठाया है। वे वाद ये हैं—१ आरंभवाद, २ परि-णामवाद, ३ प्रतीत्यसमुत्पादवाद और ४ विवर्तवाद।

आरम्भवाद के संक्षेप में चार लक्षण हैं—(१) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त मूल कारणों का स्वीकार, (२) कार्य और कारण का आत्यन्तिक भेद, (३) कारण नित्य हो या अनित्य पर कार्योत्पत्ति में उसका अपरिणामी ही रहना, (४) अपूर्व अर्थात् उत्पत्ति के पहिले असत् ऐसे कार्य की उत्पत्ति या किञ्चित्कालीन सत्ता।

परिणामवाद के लक्षण ठीक आरंभवाद से उलटे हैं—(१) एक ही मूल कारण का स्वीकार, (२) कार्यकारण का वास्तविक अभेद, (३) नित्य कारण का भी परिणामी होकर ही रहना तथा प्रवृत्त होना, (४) कार्य मात्र का अपने-अपने कारण में और सब कार्यों का मूल कारण में तीनों काल में अस्तित्व अर्थात् अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति का सर्वथा इन्कार।

प्रतीत्यसमुत्पाद वाद के तीन लक्षण हैं—(१) कारण और कार्य का आत्यन्तिक भेद, (२) किसी भी नित्य या परिणामी कारण का सर्वथा अस्वीकार, (३) और प्रथम से असत् ऐसे कार्यमात्र का उत्पाद।

विवर्तवाद के तीन लक्षण ये हैं—(१) किसी एक पारमार्थिक सत्य का स्वीकार जो न उत्पादक है और न परिणामी, (२) स्थूल या सूक्ष्म भासमान जगत् की उत्पत्ति का या

उसे परिणाम मानने का सर्वथा निषेध, (३) स्थूल जगत् का अवास्तविक या काल्पनिक अस्तित्व अर्थात् मायिक भासमात्र ।

१ आरंभवाद—इसका मन्तव्य यह है कि परमाणुरूप अनन्त सूक्ष्म तत्त्व जुदे-जुदे हैं जिनके पारस्परिक संबंधोंसे स्थूल भौतिक जगत् का नया ही निर्माण होता है जो फिर सर्वथा नष्ट भी होता है। इसके अनुसार वे सूक्ष्म आरंभक तत्त्व अनादि निधन हैं, अपरिणामी हैं। अगर फेर फार होता है तो उनके गुणधर्मों में ही होता है। इस वाद ने स्थूल भौतिक जगत् का संबंध सूक्ष्म भूत के साथ लगाकर फिर सूक्ष्म चेतनतत्त्व का भी अस्तित्व माना है। उसने परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त चेतन तत्त्व माने जो अनादिनिधन एवं अपरिणामी ही हैं। इस वाद ने जैसे सूक्ष्म भूत तत्त्वों को अपरिणामी ही मानकर उनमें उत्पन्न नष्ट होनेवाले गुण धर्मों के अस्तित्व की अलग कल्पना की वैसे ही चेतन तत्त्वों को अपरिणामी मानकर भी उनमें उत्पाद-विनाश-शाली गुण-धर्मों का अलग ही अस्तित्व स्वीकार किया है। इस मतके अनुसार स्थूल भौतिक विश्व का सूक्ष्म भूत के साथ तो उपादानोपादेय भाव संबंध है पर सूक्ष्म चेतन तत्त्व के साथ सिर्फ संयोग संबंध है।

२ परिणामवाद—इसके मुख्य दो भेद हैं (अ) प्रधानपरिणामवाद और (ब) ब्रह्म-परिणामवाद ।

(अ) प्रधानपरिणामवाद के अनुसार स्थूल विश्व के अन्तस्तल में एक सूक्ष्म प्रधान नामक ऐसा तत्त्व है जो जुदे जुदे अनन्त परमाणु रूप न होकर उनसे भी सूक्ष्मतम स्वरूप में अखण्ड रूप से वर्तमान है और जो खुद ही परमाणुओं की तरह अपरिणामी न रह कर अनादि अनन्त होते हुए भी नाना परिणामों में परिणत होता रहता है। इस वाद के अनुसार स्थूल भौतिक विश्व यह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व के दृश्य परिणामों के सिवाय और कुछ नहीं। इस वाद में परमाणुवाद की तरह सूक्ष्म तत्त्व अपरिणामी रह कर उसमें से स्थूल भौतिक विश्व का नया निर्माण नहीं होता। पर वह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व जो स्वयं परमाणु की तरह जड़ ही है, नाना दृश्य भौतिक रूप में बदलता रहता है। इस प्रधान परिणामवाद ने स्थूल विश्व का सूक्ष्म पर जड़ ऐसे एक मात्र प्रधान तत्त्व के साथ अभेद संबंध लगा कर सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्वों का भी अस्तित्व स्वीकार किया। इस वाद के चेतन तत्त्व आरंभवाद की तरह अनन्त ही हैं पर फर्क दोनों का यह है कि आरंभवाद के चेतन तत्त्व अपरिणामी होते हुए भी उत्पाद विनाश वाले गुण-धर्म युक्त हैं जब कि प्रधानपरिणामवाद के चेतन तत्त्व ऐसे गुण-धर्मों से युक्त नहीं। वे स्वयं भी कूटस्थ होने से अपरिणामी हैं और निर्धर्मक होने से किसी उत्पादविनाशशाली गुण-धर्म को भी धारण नहीं करते। उसका कहना यह है कि उत्पाद-विनाशवाले गुणधर्म जब सूक्ष्म भूत में देखे जाते हैं तब सूक्ष्म चेतन कुछ विलक्षण ही होना चाहिए। अगर सूक्ष्म चेतन चेतन हो कर भी वैसे गुण-धर्मयुक्त हों तब जड सूक्ष्म से उनका वैलक्षण्य क्या रहा ?। अतएव वह कहता है कि अगर सूक्ष्म चेतन का अस्तित्व मानना ही है तब तो सूक्ष्म भूत की अपेक्षा विलक्षणता लाने के लिये उन्हें न केवल निर्धर्मक ही मानना

उचित है बल्कि अपरिणामी भी मानना जरूरी है। इस तरह प्रधानपरिणामवाद में चेतन तत्त्व आये पर वे निर्धर्मक और अपरिणामी ही माने गए।

(ब) ब्रह्मपरिणामवाद जो प्रधानपरिणामवाद का ही विकसित रूप जान पड़ता है उसने यह तो मान लिया कि स्थूल विश्व के मूल में कोई सूक्ष्म तत्त्व है जो स्थूल विश्व का कारण है। पर उसने कहा कि ऐसा सूक्ष्म कारण जड प्रधान तत्त्व मान कर उससे भिन्न सूक्ष्म चेतन तत्त्व भी मानना और वह भी ऐसा कि जो अजागलस्तन की तरह सर्वथा अकिञ्चित्कर सो युक्ति संगत नहीं। उसने प्रधानवाद में चेतन तत्त्व के अस्तित्व की अनुपयोगिता को ही नहीं देखा बल्कि चेतन तत्त्व में अनन्त संख्या की कल्पना को भी अनावश्यक समझा। इसी समझ से उसने सूक्ष्म जगत् की कल्पना ऐसी की जिससे स्थूल जगत की रचना भी घट सके और अकिञ्चित्कर ऐसे अनन्त चेतन तत्त्वों की निष्प्रयोजन कल्पना का दोष भी न रहे। इसीसे इस वाद ने स्थूल विश्व के अन्तस्तल में जड चेतन ऐसे परस्पर विरोधी दो तत्त्व न मानकर केवल एक ब्रह्म नामक चेतन तत्त्व ही स्वीकार किया और उसका प्रधान परिणाम की तरह परिणाम मान लिया जिससे उसी एक चेतन ब्रह्म तत्त्व में से दूसरे जड चेतनमय स्थूल विश्व का आविर्भावतिरोभाव घट सके। प्रधानपरिणामवाद और ब्रह्मपरिणामवाद में फर्क इतना ही है कि पहिले में जड परिणामी ही है और चेतन अपरिणामी ही है जब दूसरे में अंतिम सूक्ष्म तत्त्व एक मात्र चेतन ही है जो स्वयं ही परिणामी है और उसी चेतन में से आगे के जड चेतन ऐसे दो परिणाम प्रवाह चले।

३ प्रतीत्यसमुत्पादवाद—यह भी स्थूल भूत के नीचे जड और चेतन ऐसे दो सूक्ष्म तत्त्व मानता है जो क्रमशः रूप और नाम कहलाते हैं। इस वाद के जड और चेतन दोनों सूक्ष्म तत्त्व परमाणु रूप हैं, आरंभवाद की तरह केवल जड तत्त्व ही परमाणु रूप नहीं। इस वाद में परमाणु का स्वीकार होते हुए भी उसका स्वरूप आरंभवाद के परमाणु से बिलकुल भिन्न माना गया है। आरंभवाद में परमाणु अपरिणामी होते हुए भी उनमें गुणधर्मों की उत्पाद-विनाश परंपरा अलग मानी जाती है। जब कि यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद उस गुणधर्मों की उत्पाद-विनाश परंपरा को ही अपने मत में विशिष्ट रूप से ढाल कर उसके आधारभूत स्थायी परमाणु द्रव्यों को बिलकुल नहीं मानता। इसी तरह चेतन तत्त्व के विषय में भी यह वाद कहता है कि स्थायी ऐसे एक या अनेक कोई चेतन तत्त्व नहीं। अलबत्ता सूक्ष्म जड उत्पाद विनाश शाली परंपरा की तरह दूसरी चैतन्यरूप उत्पादविनाशशाली परंपरा भी मूल में जड से भिन्न ही सूक्ष्म जगत् में विद्यमान है जिसका कोई स्थायी आधार नहीं। इस वाद के परमाणु इसलिये परमाणु कहलाते हैं कि वे सबसे अतिसूक्ष्म और अविभाज्य मात्र हैं। पर इसलिये परमाणु नहीं कहलाते कि वे कोई अविभाज्य स्थायी द्रव्य हों। यह वाद कहता है कि गुणधर्म रहित कूटस्थ चेतन तत्त्व जैसे अनुपयोगी हैं वैसे ही गुणधर्मों का उत्पाद विनाश मान लेने पर उसके आधार रूप से फिर स्थायी द्रव्य की कल्पना करना भी निरर्थक है। अतएव इस वाद के अनुसार सूक्ष्म जगत् में दो धाराएँ फलित होती हैं जो परस्पर बिलकुल भिन्न

हो कर भी एक दूसरे के असर से खाली नहीं। प्रधान परिणाम या ब्रह्म परिणाम वाद से इस वाद में फर्क यह है कि इसमें उक्त दोनों वादों की तरह किसी भी स्थायी द्रव्य का अस्तित्व नहीं माना जाता। ऐसा शंकु या कीलक स्थानीय स्थायी द्रव्य न होते हुए भी पूर्व परिणाम-क्षण का यह स्वभाव है कि वह नष्ट होते होते दूसरे परिणाम-क्षण को पैदा करता ही जायगा। अर्थात् उत्तर परिणाम-क्षण विनाशोन्मुख पूर्व परिणाम के अस्तित्वमात्र के आश्रय से आप ही आप निराधार उत्पन्न हो जाता है। इसी मान्यता के कारण यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद कहलाता है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पादवाद परमाणुवाद भी है और परिणामवाद भी। फिर भी तात्त्विक रूप में वह दोनों से भिन्न है।

४ विवर्तवाद—विवर्तवाद के मुख्य दो भेद हैं (अ) नित्यब्रह्मविवर्त और (ब) क्षणिकविज्ञानविवर्त। दोनों विवर्तवाद के अनुसार स्थूल विश्व यह निरा भासमात्र या कल्पनामात्र है, जो माया या वासनाजनित है। विवर्तवाद का अभिप्राय यह है कि जगत् या विश्व कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जिसमें बाह्य और आन्तरिक या स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व अलग अलग और खण्डित हों। विश्व में जो कुछ वास्तविक सत्य हो सकता है वह एक ही हो सकता है क्योंकि विश्व वस्तुतः अखण्ड और अविभाज्य ही है। ऐसी दशा में जो बाह्यत्व-आन्तरत्व, ह्रस्वत्व-दीर्घत्व, दूरत्व-समीपत्व आदि धर्मद्वन्द्व मालूम होते हैं वे मात्र काल्पनिक हैं। अतएव इस वाद के अनुसार लोकसिद्ध स्थूल विश्व केवल काल्पनिक और प्रातिभासिक सत्य है। पारमार्थिक सत्य उसकी तह में निहित है जो विशुद्ध ध्यानगम्य होने के कारण अपने असली स्वरूप में प्राकृत जनों के द्वारा ग्राह्य नहीं।

न्याय-वैशेषिक और पूर्व मीमांसक आरंभवादी हैं। प्रधानपरिणामवाद सांख्य-योग और चरक का है। ब्रह्मपरिणामवाद के समर्थक भर्तृप्रपञ्च आदि प्राचीन वेदान्ती और आधुनिक वल्लभाचार्य हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवाद बौद्धों का है और विवर्तवाद के समर्थक शाङ्कर वेदान्ती, विज्ञानवादी और शून्यवादी हैं।

ऊपर जिन वादोंका वर्णन किया है उनके उपादानरूप विचारोंका ऐतिहासिक क्रम संभवतः ऐसा जान पड़ता है—शुरू में वास्तविक कार्यकारणभाव की खोज जड़ जगत तक ही रही। वहीं तक वह परिमित रहा। क्रमशः स्थूल के उस पार चेतन तत्त्व की शोध—कल्पना होते ही दृश्य और जड़ जगत में प्रथम से ही सिद्ध उस कार्यकारणभाव की परिणामिनित्यता रूप से चेतन तत्त्व तक पहुँच हुई। चेतन भी जड़ की तरह अगर परिणामिनित्य हो तो फिर दोनों में अन्तर ही क्या रहा? इस प्रश्न ने फिर चेतन को कायम रख कर उसमें कूटस्थ नित्यता मानने की ओर तथा परिणामिनित्यता या कार्यकारणभाव को जड़ जगत तक ही परिमित रखने की ओर विचारकों को प्रेरित किया। चेतन में मानी जानेवाली कूटस्थ नित्यता का परीक्षण फिर शुरू हुवा। जिसमें से अन्ततोगत्वा केवल कूटस्थ नित्यता ही नहीं बल्कि जड़गत परिणामिनित्यता भी लुप्त होकर मात्र परिणमन धारा ही शेष रही। इस प्रकार एक तरफ आत्यन्तिक विश्लेषण ने मात्र परिणाम या क्षणिकत्व विचार को जन्म दिया

तब दूसरी ओर आत्यन्तिक समन्वय बुद्धि ने चैतन्यमात्रपारमार्थिकवाद को जन्माया। समन्वय बुद्धि ने अन्त में चैतन्य तक पहुँच कर सोचा कि जब सर्व व्यापक चैतन्य तत्त्व है तब उससे भिन्न जड़ तत्त्व की वास्तविकता क्यों मानी जाय ? और जब कोई जड़तत्त्व अलग नहीं तब यह दृश्यमान परिणमन-धारा भी वास्तविक क्यों ? इस विचार ने सारे भेद और जड़ जगत् को मात्र काल्पनिक मनवाकर पारमार्थिक चैतन्यमात्रवाद की स्थापना कराई।

उक्त विचार क्रम के सोपान इस तरह रखे जा सकते हैं—

१ जड़ मात्र में परिणामिनित्यता।

२ जड़ चेतन दोनों में परिणामिनित्यता।

३ जड़ में परिणामिनित्यता और चेतन में कूटस्थनित्यता का विवेक।

४ (अ) कूटस्थ और परिणामि दोनों नित्यता का लोप और मात्र परिणामप्रवाह की सत्यता।

(ब) केवल कूटस्थ चैतन्य की ही या चैतन्यमात्र की सत्यता और तद्भिन्न सबकी काल्पनिकता या असत्यता।

जैन परम्परा दृश्य विश्व के अलावा परस्पर अत्यन्त भिन्न ऐसे जड़ और चेतन अनन्त सूक्ष्म तत्त्वों को मानती है। वह स्थूल जगत को सूक्ष्म जड़ तत्त्वों का ही कार्य या रूपान्तर मानती है। जैन परंपरा के सूक्ष्म जड़ तत्त्व परमाणुरूप हैं। पर वे आरम्भवाद के परमाणु की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म माने गये हैं। परमाणुवादी होकर भी जैन दर्शन परिणामवाद की तरह परमाणुओं को परिणामी मानकर स्थूल जगत को उन्हीं का रूपान्तर या परिणाम मानता है। वस्तुतः जैन दर्शन परिणामवादी है। पर सांख्य-योग तथा प्राचीन वेदान्त आदि के परिणामवाद से जैन परिणामवाद का खास अन्तर है। वह अन्तर यह है कि सांख्य-योग का परिणामवाद चेतन तत्त्व से अस्पृष्ट होने के कारण जड़ तक ही परिमित है और भर्तृप्रपञ्च आदि का परिणामवाद मात्र चेतनतत्त्वस्पर्शी है। जब कि जैन परिणामवाद जड़-चेतन, स्थूल-सूक्ष्म समग्र वस्तुस्पर्शी है अतएव जैन परिणामवाद को सर्वव्यापक परिणामवाद समझना चाहिए। भर्तृप्रपञ्चका परिणामवाद भी सर्व व्यापक कहा जा सकता है फिर भी उसके और जैन के परिणामवाद में अन्तर यह है कि भर्तृप्रपञ्च का 'सर्व' चेतन ब्रह्ममात्र है तद्भिन्न और कुछ नहीं। जब कि जैन का 'सर्व' अनन्त जड़ और चेतन तत्त्वों का है। इस तरह आरम्भ और परिणाम दोनों वादों का जैन दर्शन में व्यापकरूप में पूरा स्थान तथा समन्वय है। पर उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का कोई स्थान नहीं है। वस्तुमात्र को परिणामी नित्य और समानरूप से वास्तविक सत्य मानने के कारण जैनदर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का सर्वथा विरोध ही करता है जैसा कि न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि भी करते हैं। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि की तरह जैन दर्शन चेतनबहुत्ववादी है सही, पर उसके चेतन तत्त्व अनेक दृष्टि से भिन्न स्वरूप वाले हैं। जैन दर्शन न्याय, सांख्य, आदि की तरह चेतन को न सर्वव्यापक द्रव्य मानता है और न विशिष्टाद्वैत आदि की तरह अणु

मात्र ही मानता है और बौद्ध दर्शन की तरह ज्ञान की निर्द्रव्यकधारामात्र। जैनाभिमत समग्र चेतन तत्त्व मध्यम परिमाण वाले और संकोच-विस्तारशील होने के कारण इस विषय में जड़ द्रव्यों से अत्यन्त विलक्षण नहीं। न्याय-वैशेषिक और योगदर्शन मानते हैं कि आत्मत्व या चेतनत्व समान होने पर भी जीवात्मा और परमात्माके बीच मौलिक भेद है अर्थात् जीवात्मा कभी परमात्मा या ईश्वर नहीं और परमात्मा सदा से ही परमात्मा या ईश्वर है कभी जीव-बन्धनवान नहीं होता। जैन दर्शन इससे बिलकुल उल्टा मानता है जैसा कि वेदान्त आदि मानते हैं। वह कहता है कि जीवात्मा और ईश्वर का कोई सहज भेद नहीं। सब जीवात्माओं में परमात्मशक्ति एक-सी है जो साधन पाकर व्यक्त हो सकती है और होती भी है। अलबत्ता जैन और वेदान्त का इस विषय में इतना अन्तर अवश्य है कि वेदान्त एकपरमात्मवादी है जब जैनदर्शन चेतन बहुत्ववादी होने के कारण तात्त्विकरूप से बहुपरमात्मवादी है।

जैन परम्परा के तत्त्वप्रतिपादक प्राचीन, अर्वाचीन, प्राकृत, संस्कृत कोई भी ग्रन्थ क्यों न हों पर उन सबमें निरूपण और वर्गीकरण प्रकार भिन्न भिन्न होने पर भी प्रतिपादक दृष्टि और प्रतिपाद्य प्रमेय, प्रमाता आदि का स्वरूप वही है जो संक्षेप में ऊपर स्पष्ट किया गया। 'प्रमाण-मीमांसा' भी उसी जैन दृष्टि से उन्हीं जैन मन्तव्यों का हार्द अपने ढंग से प्रगट करती है।

§ २. बाह्य स्वरूप।

प्रस्तुत 'प्रमाणमीमांसा' के बाह्य स्वरूप का परिचय निम्न लिखित मुद्दों के वर्णन से हो सकेगा—शैली, विभाग, परिमाण, और भाषा।

प्रमाणमीमांसा सूत्रशैली का ग्रन्थ है। वह कणाद सूत्रों या तत्त्वार्थ सूत्रों की तरह न दश अध्यायों में है, और न जैमिनीय सूत्रों की तरह बारह अध्यायों में। बादरायण सूत्रों की तरह चार अध्याय भी नहीं और पातञ्जल सूत्रों की तरह मात्र चार पाद ही नहीं। वह अक्षपाद के सूत्रों की तरह पांच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय कणाद या अक्षपाद के अध्याय की तरह दो दो आह्निकों में परिसमाप्त है। हेमचन्द्र ने अपने जुदे २ विषय के ग्रन्थों में विभाग के जुदे जुदे क्रम का अवलम्बन करके अपने समय तक में प्रसिद्ध संस्कृत वाङ्मय के प्रतिष्ठित सभी शास्त्रों के ग्रन्थों के विभाग क्रम को अपने साहित्य में अपनाया है। किसी में उन्होंने अध्याय और पाद का विभाग रखा, कहीं अध्यायमात्र का और कहीं पर्व, सर्ग काण्ड आदि का। प्रमाणमीमांसा तर्क ग्रन्थ होने के कारण उसमें उन्होंने अक्षपाद के प्रसिद्ध न्यायसूत्रों के अध्याय-आह्निक का ही विभाग रखा, जो हेमचन्द्र के पूर्व अकलङ्क ने जैन वाङ्मय में शुरू किया था।

प्रमाणमीमांसा पूर्ण उपलब्ध नहीं। उसके मूलसूत्र भी उतने ही मिलते हैं जितनों की वृत्ति लभ्य है। अतएव अगर उन्होंने सब मूलसूत्र रचे भी हों तब भी पता नहीं चल सकता कि उनकी कुल संख्या कितनी होगी। उपलब्ध सूत्र १०० ही हैं और उतने ही सूत्रों की

वृत्ति की है। अन्तिम उपलब्ध २. २. १५ की वृत्ति पूर्ण होने के बाद एक नये सूत्र का उत्थान उन्होंने शुरू किया है और उस अधूरे उत्थान में ही खण्डित लभ्य ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है। मालूम नहीं कि इसके आगे कितने सूत्रों से वह आह्निक पूरा होता। जो कुछ हो पर उपलब्ध ग्रन्थ दो अध्याय तीन आह्निक मात्र है जो स्वोपज्ञ वृत्ति सहित ही है।

यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि प्रमाणमीमांसा किस भाषा में है, पर उसकी भाषा विषयक योग्यता के बारे में थोड़ा जान लेना जरूरी है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा के प्रवेश के बाद उत्तरोत्तर संस्कृत भाषा का वैशारद्य और प्राञ्जल लेखपाटव बढ़ता ही आ रहा था फिर भी हेमचन्द्र का लेख वैशारद्य कमसे कम जैन वाङ्मय में तो मूर्धन्य स्थान रखता है। वैयाकरण, आलङ्कारिक, कवि और कोषकार रूप से हेमचन्द्र का स्थान न केवल समग्र जैन परंपरा में बल्कि भारतीय विद्वत्परंपरा में भी असाधारण रहा। यही उनकी असाधारणता और व्यवहारदक्षता प्रमाणमीमांसा की भाषा व रचना में स्पष्ट होती है। भाषा उनकी वाचस्पति मिश्र की तरह नपी-तुली और शब्दाडंबर शून्य सहज प्रसन्न है। वर्णन में न उतना संक्षेप है जिससे वक्तव्य अस्पष्ट रहे और न इतना विस्तार है जिससे ग्रन्थ केवल शोभा की वस्तु बना रहे।

§ ३. जैन तर्कसाहित्य में प्रमाणमीमांसा का स्थान।

जैन तर्क साहित्य में प्रमाणमीमांसा का स्थान क्या है इसे समझने के लिये जैन साहित्य के परिवर्तन या विकास संबंधी युगों का ऐतिहासिक अवलोकन करना जरूरी है। ऐसे युग संक्षेप में तीन हैं—१ आगमयुग, २ संस्कृतप्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग, ३ न्याय-प्रमाणस्थापन युग।

पहला युग भगवान महावीर या उनके पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ से लेकर आगम संकलना—विक्रमीय पञ्चम-षष्ठ शताब्दी तक का करीब हजार-बारह सौ वर्ष का है। दूसरा युग करीब दो शताब्दियों का है जो करीब विक्रमीय छठी शताब्दी से शुरू होकर सातवीं शताब्दी तक में पूर्ण होता है। तीसरा युग विक्रमीय आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक करीब एक हजार वर्ष का है।

सांप्रदायिक संघर्ष और दार्शनिक तथा दूसरी विविध विद्याओं के विकास-विस्तार के प्रभाव के सबब से जैन परंपरा की साहित्य की अन्तर्मुख या बहिर्मुख प्रवृत्ति में कितना ही युगान्तर जैसा स्वरूप भेद या परिवर्तन क्यों न हुआ हो पर जैसा हमने पहिले सूचित किया है वैसा ही अथ से इति तक देखने पर भी हमें न जैन दृष्टि में परिवर्तन मालूम होता है और न उसके बाह्य-आभ्यन्तर तात्त्विक मन्तव्यों में।

१. आगमयुग

इस युग में भाषा की दृष्टि से प्राकृत या लोक भाषाओं की ही प्रतिष्ठा रही जिससे संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय के परिशीलन की ओर आत्यन्तिक उपेक्षा का होना सहज था

जैसा कि बौद्ध परंपरा में भी था। इस युग का प्रमेय निरूपण आचार लक्षी होने के कारण उसमें मुख्यतया स्वमतप्रदर्शन का ही भाव है। राजसभाओं और इतर वादगोष्ठिओं में विजय भावना से प्रेरित होकर शास्त्रार्थ करने की तथा खण्डनप्रधान ग्रन्थनिर्माण की प्रवृत्ति का भी इस युग में अभाव-सा है। इस युग का प्रधान लक्षण जड़-चेतन के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन तथा अहिंसा-संयम-तप आदि आचारोंका निरूपण करना है।

आगम युग और संस्कृत युग के साहित्य का पारस्परिक अन्तर संक्षेप से इतने ही में कहा जा सकता है कि पहिले युग का जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की तरह अपने मूल उद्देश के अनुसार लोकभोग्य ही रहा है। जब कि संस्कृत भाषा और उसमें निबद्ध तर्क साहित्य के अध्ययन की व्यापक प्रवृत्ति के बाद उसका निरूपण सूक्ष्म और विशद होता गया है सही पर साथ ही साथ वह इतना जटिल भी होता गया कि अन्त में संस्कृतकालीन साहित्य लोक-भोग्यता के मूल उद्देश से च्यूत होकर केवल विद्वद्भोग्य ही बनता गया।

२. संस्कृतप्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग

संभवतः वाचक उमास्वाति या तत्सदृश अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होते ही दूसरे युग का परिवर्तनकारी लक्षण शुरू होता है जो बौद्ध परंपरा में तो अनेक शताब्दी पहिले ही शुरू हो गया था। इस युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास की तथा उसमें ग्रन्थप्रणयन की प्रतिष्ठा स्थिर होती है। इसमें राजसभाप्रवेश, पर-वादियों के साथ वादगोष्ठी और परमतखण्डन की प्रधान दृष्टिसे स्वमत स्थापक ग्रन्थों की रचना—ये प्रधानतया नजर आते हैं। इस युग में सिद्धसेन जैसे एक-आध आचार्य ने जैन न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एकआध ग्रन्थ भले ही रचा हो पर अब तक इस युग में जैनन्याय या प्रमाणशास्त्रों की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पड़ती है और न तद्विषयक तार्किक साहित्य का निर्माण ही देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की प्रधान दिशा दार्शनिक क्षेत्रों में एक ऐसे जैन मन्तव्य की स्थापना की ओर रही है जिसके बिखरे हुए और कुछ स्पष्ट-अस्पष्ट बीज आगम में रहे और जो मन्तव्य आगे जाकर भारतीय सभी दर्शन परंपरा में एक मात्र जैन परंपरा का ही समझा जाने लगा, तथा जिस मन्तव्य के नाम पर आज तक सारे जैन दर्शन का व्यवहार किया जाता है, वह मन्तव्य है अनेकान्तवाद का। दूसरे युग में सिद्धसेन हो या समन्तभद्र, मल्लवादी हो या जिनभद्र सभी ने दर्शनान्तरों के सामने अपने जैनमत की अनेकान्त दृष्टि तार्किक शैलीसे तथा परमत खण्डन के अभिप्राय से इस तरह रखी है कि जिससे इस युग को अनेकान्त स्थापन युग ही कहना समुचित होगा। हम देखते हैं कि उक्त आचार्यों के पूर्ववर्ती किसीके प्राकृत या संस्कृत ग्रन्थ में न तो वैसी अनेकान्त की तार्किक स्थापना है और न अनेकान्त मूलक सप्तभङ्गी और नयवाद का वैसा तार्किक विश्लेषण है, जैसा हम सन्मति, द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, न्यायावतार स्वयंभूस्तोत्र, आप्त-मीमांसा, युक्त्यनुशासन, नयचक्र और विशेषावश्यक भाष्य में पाते हैं। इस युग के

तर्क-दर्शन निष्णात जैन आचार्यों ने नयवाद, सप्तभङ्गी और अनेकान्तवाद की प्रबल और स्पष्ट स्थापना की ओर इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि जिसके कारण जैन और जैनेतर परंपराओं में जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठित हुआ। और बौद्ध तथा ब्राह्मण दार्शनिक पण्डितों का लक्ष्य अनेकान्त खण्डन की ओर गया तथा वे किसी-न-किसी प्रकार से अपने ग्रन्थों में मात्र अनेकान्त या सप्तभङ्गी का खण्डन करके ही जैन दर्शन के मन्तव्यों के खण्डन की इतिश्री समझने लगे। इस युग की अनेकान्त और तन्मूलक वादों की स्थापना इतनी गहरी हुई कि जिसपर उत्तरवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने अनेकधा पल्लवन किया है फिर भी उसमें नई मौलिक युक्तियों का शायद ही समावेश हुआ है। दो सौ वर्ष के इस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति में जैन न्याय और प्रमाण शास्त्र की पूर्वभूमिका तो तैयार हुई जान पड़ती है पर इसमें उस शास्त्र का व्यवस्थित निर्माण देखा नहीं जाता। इस युग की परमतों के सयुक्तिक खण्डन तथा दर्शनान्तरीय समर्थ विद्वानों के सामने स्वमत के प्रतिष्ठित स्थापन की भावना ने जैन परंपरा में संस्कृत भाषा के तथा संस्कृतनिबद्ध दर्शनान्तरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थों के परिशीलन की प्रबल जिज्ञासा पैदा कर दी और उसी ने समर्थ जैन आचार्यों का लक्ष्य अपने निजी न्याय तथा प्रमाण शास्त्र के निर्माण की ओर खींचा, जिसकी कमी बहुत ही अखर रही थी।

३. न्याय-प्रमाणस्थापन युग

उसी परिस्थिति में से अकलङ्क जैसे धुरंधर व्यवस्थापक का जन्म हुआ। संभवतः अकलङ्क ने ही पहिले-पहल सोचा कि जैन परंपरा के ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता आदि सभी पदार्थों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में वैसा ही शास्त्रबद्ध करना आवश्यक है जैसा ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा के साहित्य में बहुत पहिले से हो गया है और जिसका अध्ययन अनिवार्य रूपसे जैन तार्किक करने लगे हैं। इस विचार से अकलङ्क ने द्विमुखी प्रवृत्ति शुरू की। एक ओर तो बौद्ध और ब्राह्मण परंपराके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका सूक्ष्म परिशीलन और दूसरी ओर समस्त जैन मन्तव्यों का तार्किक विश्लेषण। केवल परमतों का निरास करने ही से अकलङ्क का उद्देश्य सिद्ध हो नहीं सकता था। अतएव दर्शनान्तरीय शास्त्रों के सूक्ष्म परिशीलन में से और जैन मत के तलस्पर्शी ज्ञान से उन्होंने छोटे-छोटे पर समस्त जैनतर्क-प्रमाण शास्त्र के आधारस्तम्भभूत अनेक न्याय-प्रमाण विषयक प्रकरण रचे जो दिङ्नाग और खासकर धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों के तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि जैसे ब्राह्मण तार्किकों के प्रभाव से भरे हुवे होने पर भी जैन मन्तव्यों की बिलकुल नये सिरे और स्वतन्त्रभाव से स्थापना करते हैं। अकलङ्कने न्याय-प्रमाण शास्त्रका जैन परंपरा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण-प्रमेय आदिका वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वादकथा आदि परमत-प्रसिद्ध वस्तुओं के संबंधमें जो जैन प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अबतक में जैन परंपरा में नहीं पर अन्य परंपराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्क-शास्त्र के अनेक पदार्थों को जैनदृष्टि से जैन परंपरा में जो सात्मीभाव किया तथा आगम सिद्ध

अपने मन्तव्यों को किस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब उनके छोटे-छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय-प्रमाणस्थापन युग का द्योतक है।

अकलङ्क के द्वारा प्रारब्ध इस युग में साक्षात् या परंपरा से अकलङ्क के शिष्य-प्रशिष्यों ने ही उनके सूत्रस्थानीय ग्रन्थों को बड़े-बड़े टीकाग्रन्थों से वैसे ही अलङ्कृत किया जैसे धर्मकीर्ति के ग्रन्थों को उनके शिष्यों ने।

अनेकान्त युग की मात्र पद्यप्रधान रचना को अकलङ्क ने गद्य-पद्य में परिवर्तित किया था पर उनके उत्तरवर्ती अनुगामियों ने उस रचना को नानारूपों में परिवर्तित किया, जो रूप बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा में प्रतिष्ठित हो चूके थे। माणिक्यनन्दी अकलङ्क के ही विचार दोहन में से सूत्रों का निर्माण करते हैं। विद्यानन्द अकलङ्क के ही सूत्रों पर या तो भाष्य रचते हैं या तो पद्यवार्तिक बनाते हैं या दूसरे छोटे-छोटे अनेक प्रकरण बनाते हैं। अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे तो अकलङ्कके संक्षिप्त सूत्रों पर इतने बड़े और विशद तथा जटिल भाष्य व विवरण कर डालते हैं कि जिससे तब तक में विकसित दर्शनान्तरीय विचार परंपराओं का एक तरह से जैन वाङ्मय में समावेश हो जाता है। दूसरी तरफ श्वेताम्बर परंपराके आचार्य भी उसी अकलङ्क स्थापित प्रणालीकी ओर झुकते हैं। हरिभद्र जैसे आगमिक और तार्किक ग्रन्थकार ने तो सिद्धसेन और समन्तभद्र आदि के मार्ग का प्रधानतया अनेकान्तजयपताका आदि में अनुसरण किया पर धीरे-धीरे न्याय-प्रमाण विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयन की प्रवृत्ति भी श्वेताम्बरा परंपरा में शुरू हुई। श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार रचा था। पर वह निरा प्रारंभ मात्र था। अकलङ्क ने जैन न्याय की सारी व्यवस्था स्थिर कर दी। हरिभद्रने दर्शनान्तरीय सब वार्ताओं का समुच्चय भी कर दिया। इस भूमिका को लेकर शान्त्याचार्य जैसे श्वेतांबर तार्किक ने तर्कवार्तिक जैसा छोटा किन्तु सारगर्भ ग्रन्थ रचा, इसके बाद तो श्वेताम्बर परंपरा में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह का, परिशीलन का और नये-नये ग्रन्थ निर्माण का ऐसा पूर आया कि मानो समाजमें तबतक ऐसा कोई प्रतिष्ठित विद्वान् ही न समझा जाने लगा, जिसने संस्कृत भाषा में खास कर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूपसे कुछ न कुछ लिखा न हो। इस भावना में से ही अभयदेव का वादार्णव तैयार हुआ जो संभवतः तब तक के जैन संस्कृत ग्रन्थों में सबसे बड़ा है। पर जैन परंपरा पोषक गूजरात गत सामाजिक-राजकीय सभी बलों का सबसे अधिक उपयोग वादीदेव सूरि के किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ का स्याद्वादरत्नाकर यथार्थ ही नाम रखा। क्योंकि उन्होंने अपने समय तक में प्रसिद्ध सभी श्वेताम्बर दिगम्बर तार्किकों के विचार का दोहन अपने ग्रन्थ में रख दिया जो स्याद्वाद ही था। और साथ ही उन्होंने अपनी आनीब से ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा की किसी भी शाखा के मन्तव्यों की विस्तृत चर्चा अपने ग्रन्थ में न छोड़ी। चाहें विस्तार के कारण वह ग्रन्थ पाठ्य रहा न हो पर तर्कशास्त्र के निर्माण में और विस्तृत निर्माण में प्रतिष्ठा मानने वाले जैनमत की बदौलत एक रत्नाकर जैसा समग्र मन्तव्यरत्नों का संग्रह बन गया, जो न केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही उपयोगी है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है।

आगमिक साहित्य के अगाध और अति विशाल खजाने के उपरान्त तत्त्वार्थ से लेकर स्याद्वादरत्नाकर तक के संस्कृत व तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन पथ में आई जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्गीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नये सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ जो तब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।

दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि से प्रेरित होकर सिद्धसेन ने जैन परंपरा में न्याय–परार्थानुमान का अवतार कर ही दिया था। समन्तभद्र ने अक्षपाद के प्रावादुकों (अध्याय चतुर्थ) के मतनिरास की तरह आप्त की मीमांसा के बहाने सप्तभङ्गी की स्थापना में पर प्रवादियोंका निरास कर ही दिया था। तथा उन्होंने जैनेतर शासनों से जैन शासनकी विशेष सयुक्तिकता का अनुशासन भी युक्त्यनुशासन में कर ही दिया था। धर्मकीर्ति के प्रमाण वार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि से बल पाकर तीक्ष्णदृष्टि अकलङ्क ने जैन न्याय का विशेष निश्चय–व्यवस्थापन तथा जैन प्रमाणों का संग्रह अर्थात् विभाग, लक्षण आदि द्वारा निरूपण अनेक तरह से कर दिया था। अकलङ्क ने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदिकी सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ बौद्धों को जवाब भी दिया था। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्द ने आप्त की, पत्र की और प्रमाणों की परीक्षा द्वारा धर्मकीर्ति की तथा शान्तरक्षित की विविध परीक्षाओं का जैन परंपरा में सूत्रपात भी कर ही दिया था। माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख के द्वारा न्यायबिन्दु के से सूत्र ग्रन्थ की कमी को दूर कर ही दिया था। जैसे धर्मकीर्ति के अनुगामी विनीतदेव, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट आदि प्रखर तार्किकों ने उनके सभी मूल ग्रन्थों पर छोटे बड़े भाष्य या विवरण लिखकर उनके ग्रन्थों को पठनीय तथा विचारणीय बनाकर बौद्ध न्यायशास्त्र को प्रकर्ष की भूमिका पर पहुँचाया था वैसे ही एक तरफ से दिगम्बर परंपरा में अकलङ्क के संक्षिप्त पर गहन सूक्तों पर उनके अनुगामी अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे विशारद तथा पुरुषार्थी तार्किकों ने विस्तृत व गहन भाष्य-विवरण आदि रचकर जैन न्याय शास्त्र को अतिसमृद्ध बनाने का सिलसिला भी जारी कर ही दिया था और दूसरी तरफ से श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के संस्कृत तथा प्राकृत तर्क प्रकरणों को उनके अनुगामियों ने टीका ग्रन्थों से भूषित करके उन्हें विशेष सुगम तथा प्रचारणीय बनाने का भी प्रयत्न इसी युग में शुरू किया था। इसी सिलसिले में से प्रभाचन्द्र के द्वारा प्रमेयों के कमल पर मार्तण्ड का प्रखर प्रकाश तथा न्याय के कुमुदों पर चन्द्र का सौम्य प्रकाश डाला ही गया था। अभयदेव के द्वारा तत्त्वबोधविधायिनी टीका या वादार्णव रचा जाकर तत्त्वसंग्रह तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कार जैसे बड़े ग्रन्थों के अभाव की पूर्ति की गई थी। वादि देव ने रत्नाकर रचकर उसमें सभी पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थरत्नों का पूर्णतया संग्रह कर दिया था। यह सब हेमचन्द्र के सामने था। पर उन्हें मालूम हुआ कि उस न्याय-प्रमाण विषयक साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक २ विषय की ही चर्चा करता है या बहुत ही संक्षिप्त है। दूसरा भाग ऐसा है कि जो है तो सर्वविषयसंग्राही पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्दक्लिष्ट है कि जो सर्व साधारण के अभ्यास का विषय

बन नहीं सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो कि उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे और फिर भी वह पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि में से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ। इसमें हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती आगमिक-तार्किक सभी जैन मन्तव्यों को विचार व मनन से पचा कर अपने ढंग की विशद व अपुनरुक्त सूत्रशैली तथा सर्वसंग्राहिणी विशदतम स्वोपज्ञ वृत्ति में सन्निविष्ट किया। यद्यपि पूर्ववर्ती अनेक जैन ग्रन्थों का सुसंबद्ध दोहन इस मीमांसा में है जो हिन्दी टिप्पणों में की गई तुलना से स्पष्ट हो जाता है फिर भी उसी अधूरी तुलना के आधार से यहाँ यह भी कह देना समुचित है कि प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माण में हेमचन्द्र ने प्रधानतया किन किन ग्रन्थों या ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है। निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य तथा तत्त्वार्थ जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलङ्क, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्रायः समस्त कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी हैं। प्रभाचन्द्र के मार्तण्ड का भी इसमें पूरा असर है। अगर अनन्तवीर्य सचमुच हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती या समकालीन वृद्ध रहे होंगे तो यह भी सुनिश्चित है कि इस ग्रन्थ की रचना में उनकी छोटीसी प्रमेयरत्नमाला का विशेष उपयोग हुआ है। वादी देवसूरि की कृति का भी उपयोग इसमें स्पष्ट है; फिर भी जैन तार्किकों में से अकलङ्क और माणिक्यनन्दी का ही मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। उपयुक्त जैन-ग्रन्थों में आए हुए ब्राह्मण बौद्ध ग्रन्थों का उपयोग हो जाना तो स्वाभाविक ही था; फिर भी प्रमाणमीमांसा के सूक्ष्म अवलोकन तथा तुलनात्मक अभ्यास से यह भी पता चल जाता है कि हेमचन्द्र ने बौद्ध-ब्राह्मण परंपरा के किन किन विद्वानों की कृतिओं का अध्ययन व परिशीलन विशेषरूप से किया था जो प्रमाणमीमांसा में उपयुक्त हुआ हो। दिङ्नाग, खास कर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित ये बौद्ध तार्किक इनके अध्ययन के विषय अवश्य रहे हैं। कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्द्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर, कुमारिल आदि जुदी जुदी वैदिक परंपराओं के प्रसिद्ध विद्वानों की सब कृतियाँ प्रायः इनके अध्ययन की विषय रहीं। चार्वाक एकदेशीय जयराशि भट्ट का तत्त्वोपप्लव भी इनकी दृष्टि के बाहर नहीं था। यह सब होते हुए भी हेमचन्द्र की भाषा तथा निरूपण शैली पर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट भासर्वज्ञ, वात्स्यायन, जयन्त, वाचस्पति, कुमारिल आदि का ही आकर्षक प्रभाव पड़ा हुआ जान पड़ता है। अतएव यह अधूरे रूप में उपलब्ध प्रमाणमीमांसा भी ऐतिहासिक दृष्टि से जैन तर्कसाहित्य में तथा भारतीय दर्शनसाहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है।

§ ४ भारतीय प्रमाणशास्त्र में प्रमाणमीमांसा का स्थान

भारतीय प्रमाणशास्त्र में प्रमाणमीमांसा का तत्त्वज्ञान की दृष्टि से क्या स्थान है इसे ठीक २ समझने के लिये मुख्यतया दो प्रश्नों पर विचार करना ही होगा। जैनतार्किकों की भारतीय प्रमाणशास्त्रको क्या देन है, जो प्रमाणमीमांसा में सन्निविष्ट हुई हो और जिसको

बिना जाने किसी तरह भारतीय प्रमाणशास्त्र का पूरा अध्ययन हो ही नहीं सकता। पूर्वाचार्यों की उस देन में हेमचन्द्र ने अपनी ओर से कुछ भी विशेष अर्पण किया है या नहीं और किया है तो किन मुद्दों पर ?

१. जैनाचार्यों की भारतीय प्रमाणशास्त्र को देन

१. अनेकान्तवाद—सबसे पहली और सबसे श्रेष्ठ सब देनों की चाबी रूप जैनाचार्यों की मुख्य देन है अनेकान्त तथा नयवाद का शास्त्रीय निरूपण।

विश्व का विचार करनेवाली परस्पर भिन्न ऐसी मुख्य दो दृष्टियाँ हैं। एक है सामान्यगामिनी और दूसरी है विशेषगामिनी। पहली दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता ही देखती है पर वह धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते २ अंत में सारे विश्व को एक ही मूल में देखती है और फलतः निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उतर कर अंत में वह दृष्टि तात्त्विक-एकता की भूमिका पर आ कर ठहरती है। उस दृष्टि में जो एक मात्र विषय स्थिर होता है, वही सत् है। सत् तत्त्वमें आत्यंतिक रूप से निमग्न होने के कारण वह दृष्टि या तो भेदों को देख ही नहीं पाती या उन्हें देख कर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कह कर छोड़ ही देती है। चाहे फिर वे प्रतीतिगोचर होने वाले भेद कालकृत हों अर्थात् कालपट पर फैले हुए हों जैसे पूर्वापररूप बीज, अंकुर आदि; या देशकृत हों अर्थात् देशपट पर वितत हों जैसे समकालीन घट, पट आदि प्रकृति के परिणाम; या द्रव्यगत अर्थात् देशकाल-निरपेक्ष साहजिक हों जैसे प्रकृति, पुरुष तथा अनेक पुरुष।

इसके विरुद्ध दूसरी दृष्टि सारे विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और धीरे-धीरे उस असमानता की जड़ की खोज करते करते अंत में वह विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे एकता की तो बात ही क्या, समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः वह निश्चय कर लेती है कि विश्व एक दूसरे से अत्यंत भिन्न ऐसे भेदों का पुंज मात्र है। वस्तुतः उसमें न कोई वास्तविक एक तत्त्व है और न साम्य ही। चाहे वह एक तत्त्व समग्र देश-काल-व्यापी समझा जाता हो जैसे प्रकृति; या द्रव्यभेद होने पर भी मात्र काल व्यापी एक समझा जाता हो जैसे परमाणु।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ मूल में ही भिन्न हैं। क्योंकि एक का आधार समन्वय मात्र है और दूसरी का आधार विश्लेषण मात्र। इन मूलभूत दो विचार सरणियों के कारण तथा उनमें से प्रस्फुटित होनेवाली दूसरी वैसी ही अवान्तर विचारसरणियों के कारण अनेक मुद्दों पर अनेक विरोधी वाद आप ही आप खड़े हो जाते हैं। हम देखते हैं कि सामान्यगामिनी पहली दृष्टि में से समग्र देश-काल-व्यापी तथा देश-काल-विनिर्मुक्त ऐसे एक मात्र सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैत का वाद स्थापित हुआ; जिसने एक तरफ से सकल भेदों को और तद्ग्राहक प्रमाणों को मिथ्या बतलाया और साथ ही सत्-तत्त्व को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कह कर मात्र अनुभवगम्य कहा। दूसरी विशेषगामिनी दृष्टि में से भी केवल देश और काल भेद से ही भिन्न नहीं

बल्कि स्वरूप से भी भिन्न ऐसे अनंत भेदों का वाद स्थापित हुआ। जिसने एक ओर से सब प्रकार के अभेदों को मिथ्या बतलाया और दूसरी तरफ से अंतिम भेदों को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कह कर मात्र अनुभवगम्य बतलाया। ये दोनों भेद अंत में शून्यता के तथा स्वानुभवगम्यता के परिणाम पर पहुँचे सही, पर दोनों का लक्ष्य अत्यंत भिन्न होने के कारण वे आपस में बिलकुल ही टकराने और परस्पर विरुद्ध दिखाई देने लगे।

उक्त मूलभूत दो विचारधाराओं में से फूटने वाली या उनसे सम्बन्ध रखने वाली भी अनेक विचारधाराएँ प्रवाहित हुईं। किसी ने अभेद को तो अपनाया, पर उसकी व्याप्ति काल और देश पट तक अथवा मात्र कालपट तक रखी। स्वरूप या द्रव्य तक उसे नहीं बढ़ाया। इस विचार धारा में से अनेक द्रव्यों को मानने पर भी उन द्रव्यों की कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता के वाद का जन्म हुआ जैसे सांख्य का प्रकृति-पुरुषवाद। दूसरी विचार-धारा ने उसकी अपेक्षा भेद का क्षेत्र बढ़ाया। जिससे उसने कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता मान कर भी स्वरूपतः जड़ द्रव्यों को अधिक संख्या में स्थान दिया जैसे परमाणु, विभुद्रव्यवाद।

अद्वैतमात्र को या सन्मात्रको स्पर्श करनेवाली दृष्टि किसी विषय में भेद सहन न कर सकने के कारण अभेदमूलक अनेकवादों का स्थापन करे, यह स्वाभाविक ही है। हुआ भी ऐसा ही। इसी दृष्टि में से कार्य-कारण के अभेदमूलक मात्र सत्कार्यवाद का जन्म हुआ। धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि द्वंद्वों के अभेदवाद भी उसीमें से फलित हुए। जब कि द्वैत और भेद को स्पर्श करनेवाली दृष्टि ने अनेक विषयों में भेदमूलक ही नाना वाद स्थापित किये। उसने कार्य-कारण के भेदमूलक मात्र असत्कार्यवाद को जन्म दिया तथा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि अनेक द्वंद्वों के भेदों को भी मान लिया। इस तरह हम भारतीय तत्त्वचिंतन में देखते हैं कि मौलिक सामान्य और विशेष दृष्टि तथा उनकी अवान्तर सामान्य और विशेष दृष्टियों में से परस्पर विरुद्ध ऐसे अनेक मतों—दर्शनों का जन्म हुआ; जो अपने विरोधिवाद की आधारभूत भूमिका की सत्यता की कुछ भी परवा न करने के कारण एक दूसरे के प्रहार में ही चरितार्थता मानने लगे।

सद्वाद अद्वैतगामी हो या द्वैतगामी जैसा कि सांख्यादि का, पर वह कार्य-कारण के अभेद मूलक सत्कार्यवाद को बिना माने अपना मूल लक्ष्य सिद्ध ही नहीं कर सकता जब कि असद्वाद क्षणिकगामी हो जैसे बौद्धों का, स्थिरगामी हो या नित्यगामी हो जैसे वैशेषिक आदि का—पर वह असत्कार्यवाद का स्थापन किये अपना लक्ष्य स्थिर कर ही नहीं सकता। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की पारस्परिक टक्कर हुई। अद्वैतगामी और द्वैतगामी सद्वाद में से जन्मी हुई कूटस्थता जो कालिक नित्यता रूप है और विभुता जो दैशिक व्यापकतारूप है उनकी—देश और कालकृत निरंश अंशवाद अर्थात् निरंश क्षणवाद के साथ टक्कर हुई; जो कि वस्तुतः सद्दर्शन के विरोधी दर्शन में से फलित होता है। एक तरफ से सारे विश्व को अखण्ड और एक तत्त्वरूप माननेवाले और दूसरी तरफ से उसे निरंश अंश-

पुंज माननेवाले अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर सकते थे जब वे अपने अभीष्ट तत्त्व को अनिर्वचनीय अर्थात् अनभिलाप्य—शब्दागोचर मानें, क्योंकि शब्द के द्वारा निर्वचन मानने पर न तो अखण्ड सत् तत्त्व की सिद्धि हो सकती है और न निरंश भेदतत्त्व की। निर्वचन करना ही मानो अखण्डता या निरंशता का लोप कर देना है। इस तरह अखण्ड और निरंशवाद में से अनिर्वचनीयत्ववाद आप ही आप फलित हुआ। पर उस वाद के सामने लक्षण-वादी वैशेषिक आदि तार्किक हुए, जो ऐसा मानते हैं कि वस्तुमात्र का निर्वचन करना या लक्षण बनाना शक्य ही नहीं बल्कि वास्तविक भी हो सकता है। इसमें से निर्वचनीयत्ववाद का जन्म हुआ और वे—अनिर्वचनीय तथा निर्वचनीयवाद आपसमें टकराने लगे।

इसी प्रकार कोई मानते थे कि प्रमाण चाहे जो हो पर हेतु अर्थात् तर्क के सिवाय किसी से अन्तिम निश्चय करना भयास्पद है। अब दूसरे कोई मानते थे कि हेतुवाद स्वतंत्र बल नहीं रखता। ऐसा बल आगम में ही होने से वही मूर्धन्य प्रमाण है। इसीसे वे दोनों वाद परस्पर टकराते थे। दैवज्ञ कहता था कि सब कुछ दैवाधीन है; पौरुष स्वतन्त्ररूप से कुछ कर नहीं सकता। पौरुषवादी ठीक इससे उलटा कहता था कि पौरुष ही स्वतन्त्रभाव से कार्यकर है। अतएव वे दोनों वाद एक दूसरे को असत्य ही मानते रहे। अर्थनय—पदार्थवादी शब्द की और शब्दनय—शाब्दिक अर्थ की परवा न करके परस्पर खण्डन करने में प्रवृत्त थे। कोई अभाव को भाव से पृथक् ही मानता तो दूसरा कोई उसे भाव स्वरूप ही मानता था और वे दोनों भाव से अभाव को पृथक् मानने न मानने के बारे में परस्पर प्रतिपक्षभाव धारण करते रहे। कोई प्रमाता से प्रमाण और प्रमिति को अत्यन्त भिन्न मानते तो दूसरे कोई उससे उन्हें अभिन्न मानते थे। कोई वर्णाश्रम विहित कर्म मात्र पर भार देकर उसीसे इष्ट प्राप्ति बतलाते तो कोई ज्ञानमात्र से आनन्दाप्ति प्रतिपादन करते जब तीसरे कोई भक्ति को ही परम पद का साधन मानते रहे और वे सभी एक दूसरे का आवेशपूर्वक खण्डन करते रहे। इस तरह तत्त्वज्ञान के व आचार के छोटे-बड़े अनेक मुद्दों पर परस्पर बिलकुल विरोधी ऐसे अनेक एकान्त मत प्रचलित हुए।

उन एकान्तों की पारस्परिक वाद-लीला देखकर अनेकान्तदृष्टि के उत्तराधिकारी आचार्यों को विचार आया कि असल में ये सब वाद जो कि अपनी अपनी सत्यता का दावा करते हैं वे आपसमें इतने लड़ते हैं क्यों! क्या उन सब में कोई तथ्यांश ही नहीं, या सब में तथ्यांश है, या किसी किसी में तथ्यांश है, या सभी पूर्ण सत्य है! इस प्रश्न के अन्तर्मुख जवाब में से उन्हें एक चाबी मिल गई जिसके द्वारा उन्हें सब विरोधों का समाधान हो गया और पूरे सत्य का दर्शन हुआ। वही चाबी अनेकान्तवाद की भूमिका रूप अनेकान्तदृष्टि है। इस दृष्टि के द्वारा उन्होंने देखा कि प्रत्येक सयुक्तिक वाद अमुक अमुक दृष्टि से अमुक अमुक सीमा तक सत्य है। फिर भी जब कोई एक वाद दूसरे वाद की आधारभूत विचार-सरणी और उस वाद की सीमा का विचार नहीं करता और अपनी आधारभूत दृष्टि तथा अपने विषय की सीमा में ही सब कुछ मान लेता है, तब उसे किसी भी तरह दूसरे वाद की सत्यता मालूम

ही नहीं हो पाती। यही हालत दूसरे विरोधी वाद की भी होती है। ऐसी दशा में न्याय इसी में है कि प्रत्येक वाद को उसी की विचार-सरणी से उसी की विषय-सीमा तक ही जाँचा जाय और इस जाँच में वह ठीक निकले तो उसे सत्य का एक भाग मान कर ऐसे सब सत्यांशरूप मणियों को एक पूर्ण सत्यरूप विचार-सूत्र में पिरो कर अविरोधी माला बनाई जाय। इस विचार ने जैनाचार्यों को अनेकान्तदृष्टि के आधार पर तत्कालीन सब वादों का समन्वय करने की ओर प्रेरित किया। उन्होंने सोचा कि जब शुद्ध और निःस्वार्थ चित्त वालों में से किन्हीं को एकत्वपर्यवसायी साम्यप्रतीति होती है और किन्हीं को निरंश अंश पर्यवसायी भेद प्रतीति होती है तब यह कैसे कहा जाय कि अमुक एक ही प्रतीति प्रमाण है और दूसरी नहीं। किसी एक को अप्रमाण मानने पर तुल्य युक्तिसे दोनों प्रतीतियाँ अप्रमाण ही सिद्ध होंगी। इसके सिवाय किसी एक प्रतीति को प्रमाण और दूसरी को अप्रमाण मानने वालों को भी अन्त में अप्रमाण मानी हुई प्रतीति के विषयरूप सामान्य या विशेष के सार्थक व्यवहार की उपपत्ति तो किसी न किसी तरह करनी ही पड़ती है। यह नहीं कि अपनी इष्ट प्रतीति को प्रमाण कहने मात्र से सब शास्त्रीय-लौकिक व्यवहारों की उपपत्ति भी हो जाय। यह भी नहीं कि ऐसे व्यवहारों को उपपन्न बिना किये ही छोड़ दिया जाय। अद्वैतवादी भेदों को व उनकी प्रतीति को अविद्यामूलक ही कह कर उनकी उपपत्ति करेगा; जब कि क्षणिकत्ववादी साम्य या एकत्व को व उसकी प्रतीति को ही अविद्यामूलक कह कर ऐसे व्यवहारों की उपपत्ति करेगा।

ऐसा सोचने पर अनेकान्त के प्रकाश में अनेकान्तवादियों को मालूम हुआ कि प्रतीति अभेदगामिनी हो या भेदगामिनी, हैं तो सभी वास्तविक। प्रत्येक प्रतीति की वास्तविकता उसके अपने विषय तक तो है पर जब वह विरुद्ध दिखाई देनेवाली दूसरी प्रतीति के विषय की अयथार्थता दिखाने लगती है तब वह खुद भी अवास्तविक बन जाती है। अभेद और भेद की प्रतीतियाँ विरुद्ध इसीसे जान पड़ती हैं कि प्रत्येक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। सामान्य और विशेष की प्रत्येक प्रतीति स्वविषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण नहीं। वह प्रमाण का अंश अवश्य है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो ऐसा ही होना चाहिए, जिससे कि वे विरुद्ध दिखाई देनेवाली प्रतीतियाँ भी अपने स्थान में रहकर उसे अविरोधीभाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिलकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें। इस समन्वय या व्यवस्थागर्भित विचार के बल पर उन्होंने समझाया कि सद्-अद्वैत और सद्-द्वैत के बीच कोई विरोध नहीं, क्योंकि वस्तु का पूर्णस्वरूप ही अभेद और भेद या सामान्य और विशेषात्मक ही है। जैसे हम स्थान, समय, रंग, रस, परिमाण आदि का विचार किये बिना ही विशाल जलराशि मात्र का विचार करते हैं तब हमें एक ही एक समुद्र प्रतीत होता है। पर उसी जलराशि के विचार में जब स्थान, समय आदि का विचार दाखिल होता है तब हमें एक अखण्ड समुद्र के स्थान में अनेक छोटे बड़े समुद्र नजर आते हैं; यहाँ तक कि अन्त में हमारे ध्यान में जलकण तक नहीं रहता उसमें

केवल कोई अविभाज्य रूप या रस आदि का अंश ही रह जाता है और अन्त में वह भी शून्यवत् भासित होता है। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र की बुद्धि भी वास्तविक है और अन्तिम अंश की बुद्धि भी। एक इसलिए वास्तविक है कि वह भेदों को अलग २ रूप से स्पर्श न करके सब को एक साथ सामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक दूसरे से व्यावृत्त हैं उनको अलग २ रूप से विषय करनेवाली बुद्धि भी वास्तविक है। क्योंकि वे भेद वैसे ही हैं। जलराशि एक और अनेक उभयरूप होने के कारण उसमें होनेवाली समुद्रबुद्धि और अंशबुद्धि अपने २ स्थान में यथार्थ होकर भी कोई एक बुद्धि पूर्ण स्वरूप को विषय न करने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं है। फिर भी दोनों मिलकर पूर्ण प्रमाण है। वैसे ही जब हम सारे विश्व को एक मात्र सत्-रूप से देखें अथवा यों कहिए कि जब हम समस्त भेदों के अन्तर्गत एक मात्र अनुगत सत्ता स्वरूप का विचार करें तब हम कहते हैं कि एकमात्र सत् ही है; क्योंकि उस सर्वग्राही सत्ता के विचार के समय कोई ऐसे भेद भासित नहीं होते जो परस्पर में व्यावृत्त हों। उस समय तो सारे भेद समष्टिरूप में या एक मात्र सत्ता रूप में ही भासित होते हैं। और तभी सद्-अद्वैत कहलाता है। एकमात्र सामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना विशाल हो जाता है कि जिसमें कोई शेष नहीं बचता। पर हम जब उसी विश्व को गुणधर्म कृत भेदों में जो कि परस्पर व्यावृत्त हैं, विभाजित करते हैं, तब वह विश्व एक सत् रूप से मिट कर अनेक सत् रूप प्रतीत होता है। उस समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना ही छोटा हो जाता है। हम कभी कहते हैं कि कोई सत् जड़ भी है और कोई चेतन भी। हम और अधिक भेदों की ओर झुक कर फिर यह भी कहते हैं कि जडसत् भी अनेक हैं और चेतनसत् भी अनेक हैं। इस तरह जब सर्वग्राही सामान्यको व्यावर्तक भेदों में विभाजित करके देखते हैं तब हमें नाना सत् मालूम होते हैं और वही सद्-द्वैत है। इस प्रकार एक ही विश्व में प्रवृत्त होनेवाली सद्-अद्वैत बुद्धि और सद्-द्वैत बुद्धि दोनों अपने २ विषय में यथार्थ होकर भी पूर्ण प्रमाण तभी कही जायँगी जब वे दोनों सापेक्ष रूप से मिलें। यही सद्-अद्वैत और सद्-द्वैत वाद जो परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं उनका अनेकान्त दृष्टि के अनुसार समन्वय हुआ।

इसे वृक्ष और वन के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब अनेक परस्पर भिन्न वृक्ष व्यक्तियों को उस उस व्यक्ति रूप से ग्रहण न करके सामूहिक या सामान्य रूप में वन रूप से ग्रहण करते हैं; तब उन सब विशेषों का अभाव नहीं हो जाता। पर वे सब विशेष सामान्य रूप से सामान्यग्रहण में ही ऐसे लीन हो जाते हैं मानो वे हैं ही नहीं। एक मात्र वन ही वन नज़र आता है यही एक प्रकार का अद्वैत हुआ। फिर कभी हम जब एक-एक वृक्ष को विशेष रूप से समझते हैं तब ये परस्पर भिन्न व्यक्तियाँ ही व्यक्तियाँ नज़र आती हैं, उस समय विशेष प्रतीति में सामान्य इतना अन्तर्लीन हो जाता है कि मानो वह है ही नहीं। अब इन दोनों अनुभवों का विश्लेषण करके देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक ही सत्य है और दूसरा असत्य। अपने अपने विषय में दोनों की सत्यता होते

हुए भी किसी एक को पूर्ण सत्य नहीं कह सकते। पूर्ण सत्य दोनों अनुभवों का समुचित समन्वय ही है। क्योंकि इसी में सामान्य और विशेषात्मक वन-वृक्षों का अबाधित अनुभव समा सकता है। यही स्थिति विश्व के सम्बन्ध में सद्-अद्वैत किंवा सद्-द्वैत दृष्टि की भी है।

कालिक, दैशिक और देश-कालातीत सामान्य-विशेष के उपर्युक्त अद्वैत-द्वैतवाद से आगे बढ़ कर एक कालिक सामान्य-विशेष के सूचक नित्यत्ववाद और क्षणिकत्ववाद भी हैं। ये दोनों वाद एक दूसरे के विरुद्ध ही जान पड़ते हैं; पर अनेकान्त दृष्टि कहती है कि वस्तुतः उनमें कोई विरोध नहीं। अब हम किसी तत्त्व को तीनों कालों में अखण्डरूप से अर्थात् अनादि-अनंतरूप से देखेंगे तब वह अखण्ड प्रवाह रूप में आदि-अंत रहित होने के कारण नित्य ही है। पर हम अब उस अखण्ड प्रवाह पतित तत्त्व को छोटे बड़े आपेक्षिक काल भेदों में विभाजित कर लेते हैं, तब उस उस काल पर्यंत स्थायी ऐसा परिमित रूप ही नज़र आता है, जो सादि भी है और सान्त भी। अगर विवक्षित काल इतना छोटा हो जिसका दूसरा हिस्सा बुद्धिशस्त्र कर न सके तो उस काल से परिच्छिन्न वह तत्त्वगत प्रावाहिक अंश सबसे छोटा होने के कारण क्षणिक कहलाता है। नित्य और क्षणिक ये दोनों शब्द ठीक एक दूसरे के विरुद्धार्थक हैं। एक अनादि-अनन्त का और दूसरा सादि-सान्त का भाव बतलाता है। फिर भी हम अनेकान्तदृष्टि के अनुसार समझ सकते हैं कि जो तत्त्व अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से नित्य कहा जा सकता है वही तत्त्व खण्ड खण्ड क्षणपरिमित परिवर्तनों व पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक भी कहा जा सकता है। एक वाद की आधारदृष्टि है अनादि-अनंतता की दृष्टि। जब दूसरे की आधार है सादि-सान्तताकी दृष्टि। वस्तु का कालिक पूर्ण स्वरूप अनादि-अनंतता और सादि-सान्तता इन दो अंशों से बनता है। अतएव दोनों दृष्टियाँ अपने अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण तभी बनती हैं जब वे समन्वित हों।

इस समन्वयको दृष्टान्त से भी इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। किसी एक वृक्षका जीवन-व्यापार मूल से लेकर फल तक में कालक्रम से होने वाली बीज, मूल, अंकुर, स्कन्ध, शाखा-प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि विविध अवस्थाओं में होकर ही प्रवाहित और पूर्ण होता है। जब हम अमुक वस्तु को वृक्षरूप से समझते हैं तब उपर्युक्त सब अवस्थाओं में प्रवाहित होनेवाला पूर्ण जीवन-व्यापार ही अखण्डरूप से मनमें आता है; पर जब हम उसी जीवन-व्यापार के परस्पर भिन्न ऐसे क्रमभावी मूल, अंकुर स्कन्ध आदि एक एक अंश को ग्रहण करते हैं तब वे परिमित काल-लक्षित अंश ही हमारे मनमें आते हैं। इस प्रकार हमारा मन कभी तो उस समूचे जीवन-व्यापार को अखण्ड रूप में स्पर्श करता है और कभी उसे खण्डित रूप में एक-एक अंश के द्वारा। परीक्षण करके देखते हैं तो साफ जान पड़ता है कि न तो अखण्ड जीवन-व्यापार ही एक-मात्र पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक मात्र है और न खण्डित अंश ही पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक। भले ही उस अखण्ड में सारे खण्ड और सारे खण्डों में वह एक मात्र अखण्ड समा जाता हो फिर भी वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो अखण्ड और खण्ड दोनों में ही पर्यवसित होने के कारण दोनों पहलुओं से गृहीत होता है। जैसे वे

दोनों पहलू अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होकर भी पूर्ण तभी बनते हैं जब समन्वित किये जायँ। वैसे ही अनादि-अनन्त कालप्रवाह रूप वृक्ष का ग्रहण नित्यत्व का व्यञ्जक है और उसके घटक अंशों का ग्रहण अनित्यत्व या क्षणिकत्व का द्योतक है। आधारभूत नित्य-प्रवाह के सिवाय न तो अनित्य घटक सम्भव हैं और न अनित्य घटकों के सिवाय वैसा नित्य प्रवाह ही। अतएव एकमात्र नित्यत्व को या एकमात्र अनित्यत्व को वास्तविक कह कर दूसरे विरोधी अंश को अवास्तविक कहना ही नित्य-अनित्यवादों की टक्कर का बीज है जिसे अनेकान्तदृष्टि हटाती है।

अनेकान्तदृष्टि अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व वाद की पारस्परिक टक्कर को भी मिटाती है। वह कहती है कि वस्तु का वही रूप प्रतिपाद्य हो सकता है जो संकेत का विषय बन सके। सूक्ष्मतम बुद्धि के द्वारा किया जानेवाला संकेत भी स्थूल अंश को ही विषय कर सकता है। वस्तु के ऐसे अपरिमित भाव हैं जिन्हें संकेत के द्वारा शब्द से प्रतिपादन करना संभव नहीं। इस अर्थ में अखण्ड सत् या निरंश क्षण अनिर्वचनीय ही हैं जब कि मध्यवर्ती स्थूल भाव निर्वचनीय भी हो सकते हैं। अतएव समग्र विश्व के या उसके किसी एक तत्त्व के बारे में जो अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व के विरोधी प्रवाद हैं वे वस्तुतः अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होने पर भी प्रमाण तो समूचे रूप में ही हैं।

एक ही वस्तु की भावरूपता और अभावरूपता भी विरुद्ध नहीं। मात्र विधिमुख से या मात्र निषेधमुख से ही वस्तु प्रतीत नहीं होती। दूध, दूध रूप से भी प्रतीत होता है और अदधि या दधिभिन्न रूप से भी। ऐसी दशा में वह भाव-अभाव उभय रूप सिद्ध हो जाता है और एक ही वस्तु में भावत्व या अभावत्व का विरोध प्रतीति के स्वरूप भेद से हट जाता है। इसी तरह धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, कार्य-कारण, आधार-आधेय आदि द्वन्द्वों के अभेद और भेद के विरोध का परिहार भी अनेकान्त दृष्टि कर देती है।

जहाँ आप्तत्व और उसके मूल के प्रामाण्य में संदेह हो वहाँ हेतुवाद के द्वारा परीक्षा पूर्वक ही निर्णय करना क्षेमंकर है; पर जहाँ आप्तत्व में कोई संदेह नहीं वहाँ हेतुवाद का प्रयोग अनवस्थाकारक होने से त्याज्य है। ऐसे स्थान में आगमवाद ही मार्गदर्शक हो सकता है। इस तरह विषयभेद से या एक ही विषय में प्रतिपाद्य भेद से हेतुवाद और आगमवाद दोनों को अवकाश है। उनमें कोई विरोध नहीं। यही स्थिति दैव और पौरुषवाद की भी है। उनमें कोई विरोध नहीं। जहाँ बुद्धि-पूर्वक पौरुष नहीं, वहाँ की समस्याओं का हल दैववाद कर सकता है; पर पौरुष के बुद्धिपूर्वक प्रयोगस्थल में पौरुषवाद ही स्थान पाता है। इस तरह जुदे जुदे पहलू की अपेक्षा एक ही जीवन में दैव और पौरुष दोनों वाद समन्वित किये जा सकते हैं।

कारण में कार्य को केवल सत् या केवल असत् मानने वाले वादों के विरोध का भी परिहार अनेकान्त दृष्टि सरलता से कर देती है। वह कहती है कि कार्य उपादान में सत् भी है और असत् भी। कटक बनने के पहले भी सुवर्ण में कटक बनने की शक्ति है इसलिए

उत्पत्ति के पहले भी शक्ति रूप से या कारणाभेद दृष्टि से कार्य सत् कहा जा सकता है। शक्ति रूप से सत् होने पर भी उत्पादक सामग्री के अभाव में वह कार्य आविर्भूत या उत्पन्न न होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए वह असत् भी है। तिरोभाव दशा में जब कि कटक उपलब्ध नहीं होता तब भी कुण्डलाकारधारी सुवर्ण कटक रूप बनने की योग्यता रखता है इसलिए उस दशा में असत् भी कटक योग्यता की दृष्टि से सुवर्ण में सत् कहा जा सकता है।

बौद्धों का केवल परमाणु-पुञ्ज-वाद और नैयायिकों का अपूर्वावयवी वाद ये दोनों आपस में टकराते हैं। पर अनेकान्तदृष्टि ने स्कन्ध का—जो कि न केवल परमाणु-पुञ्ज है और न अनुभवबाधित अवयवों से भिन्न अपूर्व अवयवी रूप है—स्वीकार करके विरोध का समुचित रूप से परिहार व दोनों वादों का निर्दोष समन्वय कर दिया है। इसी तरह अनेकान्तदृष्टि ने अनेक विषयों में प्रवर्तमान विरोधी वादों का समन्वय मध्यस्थ भाव से किया है। ऐसा करते समय अनेकान्तवाद के आसपास नयवाद और भंगवाद आप ही आप फलित हो जाते हैं; क्योंकि जुदे जुदे पहलू या दृष्टिबिन्दु का पृथक्करण, उनकी विषयमर्यादा का विभाग और उनका एक विषय में यथोचित विन्यास करने ही से अनेकान्त सिद्ध होता है।

मकान किसी एक कोने में पूरा नहीं होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा में नहीं होते। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध दिशा वाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर किया जाने वाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नहीं होता, पर वह अयथार्थ भी नहीं। जुदे जुदे संभवित सभी कोनों पर खड़े रह कर किये जाने वाले सभी संभवित अवलोकनों का सार समुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसंभवी प्रत्येक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन के अनिवार्य अंग हैं। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिंतन-दर्शन भी अनेक अपेक्षाओं से निष्पन्न होता है। मन की सहज रचना, उस पर पड़ने वाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं; जिनका आश्रय लेकर वस्तुका विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टिकोण या दृष्टिबिन्दु भी कही जाती हैं। संभवित सभी अपेक्षाओं से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यों न दिखाई देती हों—किये जाने वाले चिंतन व दर्शनों का सार समुच्चय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासंभवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक एक अङ्ग है जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन में समन्वय पाने के कारण वस्तुतः अविरुद्ध ही है।

जब किसी की मनोवृत्ति विश्वके अन्तर्गत सभी भेदों को—चाहे वे गुण धर्म या स्वरूप कृत हों या व्यक्तित्व कृत हों—भुला कर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का ही विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होने वाला 'सत्' शब्द के एक मात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन

ही संग्रहनय है। गुणधर्म कृत या व्यक्तित्व कृत भेदों की ओर झुकने वाली मनोवृत्ति से किया जाने वाला उसी विश्वका दर्शन व्यवहारनय कहलाता है; क्योंकि उसमें लोकसिद्ध व्यवहारों की भूमिका रूप भेदों का खास स्थान है। इस दर्शन में 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा अखण्डित न रह कर अनेक खण्डों में विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा सिर्फ कालकृत भेदों की ओर झुक कर सिर्फ वर्तमान को ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत् रूप से देखती है और अतीत अनागत को 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा में से हटा देती है तब उसके द्वारा फलित होने वाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है। क्योंकि वह अतीत-अनागत के वक्रत्व को छोड़ कर सिर्फ वर्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनों मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जो शब्द का या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय बिना लिये ही किसी भी वस्तु का चिंतन करती हैं। अतएव वे तीनों प्रकार के चिंतन अर्थनय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है जो शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय ले कर ही अर्थ का विचार करती है। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थ चिंतन शब्दनय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यता शब्दनय के अधिकारी हैं; क्योंकि उन्हीं के विविध दृष्टि बिन्दुओं से शब्द-नय में विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दों को अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद न मानने पर भी लिंग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्द धर्मों के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्दनय या साम्प्रतनय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्ति सिद्ध ही मानने वाली मनोवृत्ति से विचार करने वाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जाने वाले शब्दों के अर्थ में भी व्युत्पत्ति भेद से भेद बतलाते हैं। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दों के अर्थभेद का दर्शन समभिरूढनय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नहीं, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होने वाले अर्थ की मौजूदगी और गैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थभेद मानता है वह एवंभूतनय कहलाता है। इन तार्किक छः नयों के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है। जिस में निगम अर्थात् देश रूढ़ि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारों का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं। पर किसी एक अंशको अर्थात् दृष्टिकोण को अवलंबित करके प्रवृत्त होने वाले सब प्रकार के विचार उस उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

शास्त्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं पर वे नय उपर्युक्त सात नयों से अलग नहीं हैं किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिकामात्र हैं। द्रव्य अर्थात् सामान्य, अन्वय, अभेद या एकत्व को विषय करने वाला विचारमार्ग द्रव्यार्थिकनय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलंबित करके ही चलती है।

इसलिये वे भी द्रव्यार्थिक ही माने गए हैं। अलबत्ता वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध-मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष, व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होने वाला विचार-पथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारों नय पर्यायार्थिक ही माने गये हैं। अभेद को छोड़कर मात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता है इसलिये उसीको शास्त्र में पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूल आधार कहा है। पिछले शब्दादि तीन नय उसी मूल भूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र हैं।

मात्र ज्ञान को उपयोगी मानकर उसके आश्रय से प्रवृत्त विचार धारा ज्ञाननय है तो मात्र क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त विचार धारा क्रियानय है। नयरूप आधार-स्तम्भों के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्णदर्शन—अनेकान्त भी निस्सीम है।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्हींके आधार पर भङ्गवाद की सृष्टि खड़ी होती है। जिन दो दर्शनों के विषय ठीक एक दूसरे के बिलकुल विरोधी पड़ते हों ऐसे दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो संभवित वाक्य-भङ्ग बनाये जाते हैं वही सप्तभङ्गी है। सप्तभङ्गी का आधार नयवाद है। और उसका ध्येय तो समन्वय अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है। जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का बोध दूसरे को कराने के लिए परार्थ अनुमान अर्थात् अनुमान वाक्य की रचना की जाती है; वैसे ही विरुद्ध अंशों का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भङ्ग-वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भङ्गवाद अनेकान्तदृष्टि के क्षेत्र में आप ही आप फलित हो जाते हैं।

यह ठीक है कि वैदिक परंपरा के न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों में तथा बौद्ध दर्शन में किसी एक वस्तु का विविध दृष्टिओं से निरूपण की पद्धति तथा अनेक पक्षोंके समन्वय की दृष्टि[1] भी देखी जाती है फिर भी प्रत्येक वस्तु और उसके प्रत्येक पहलू पर संभवित समग्र दृष्टिबिन्दुओं से विचार करने का आत्यन्तिक आग्रह[2] तथा उन समग्र दृष्टिबिन्दुओं के एक मात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ आग्रह[3] जैन परंपरा के सिवाय अन्यत्र कहीं देखा नहीं जाता। इसी आग्रह में से जैन तार्किकों ने अनेकान्त, नय और सप्तभङ्गी वाद का बिलकुल स्वतन्त्र और व्यवस्थित शास्त्र निर्माण किया जो प्रमाण शास्त्र का एक भाग ही बन गया और जिसकी जोड़ का ऐसा छोटा भी ग्रन्थ इतर परंपराओं में नहीं बना। विभज्यवाद और मध्यम मार्ग होते हुए भी बौद्ध परंपरा किसी भी वस्तु में वास्तविक स्थायी अंश देख न सकी उसे मात्र क्षणभंग ही नजर आया। अनेकान्त शब्द से ही अनेकान्त

---

१ उदाहरणार्थ देखो सांख्यप्रवचनभाष्य पृ० २। सिद्धान्तबिन्दु पृ० ११९ से। वेदान्तसार पृ० ३५। तर्कसंग्रहदीपिका पृ० १७५। महाभाष्य ६. ३१।

२ देखो, टिप्पण पृ० ६१ से

३ न्यायभाष्य २. १. १८

दृष्टि का आश्रय करने पर भी नैयायिक परमाणु, आत्मा आदि को सर्वथा अपरिणामी ही मानने मनवाने की धुन से बच न सके। व्यावहारिक-पारमार्थिक आदि अनेक दृष्टिओं का अवलम्बन करते हुए भी वेदान्ती अन्य सब दृष्टिओं को अद्वैतदृष्टि से कम दरजे की या बिलकुल ही असत्य मानने मनवाने से बच न सके। इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि उन दर्शनों में व्यापकरूप से अनेकान्त भावना का स्थान न रहा जैसा कि जैनदर्शन में रहा। इसी कारण से जैनदर्शन सब दृष्टिओं का समन्वय भी करता है और सभी दृष्टिओं को अपने अपने विषय में तुल्य बल व स्थान मानता है। भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि तत्त्वज्ञान के प्राचीन मुद्दों पर ही सीमित रहने के कारण वह अनेकान्त दृष्टि और तन्मूलक अनेकान्त व्यवस्थापक शास्त्र पुनरुक्त, चर्वितचर्वण या नवीनता शून्य जान पड़ने का आपाततः संभव है फिर भी उस दृष्टि और उस शास्त्र निर्माण के पीछे जो अखण्ड और सजीव सर्वांश सत्य को अपनाने की भावना जैन परंपरा में रही और जो प्रमाण शास्त्र में अवतीर्ण हुई उसका जीवनके समग्र क्षेत्रों में सफल उपयोग होने की पूर्ण योग्यता होने के कारण ही उसे प्रमाणशास्त्र को जैनाचार्यों की देन कहना अनुपयुक्त नहीं।

तत्त्वचिन्तन में अनेकान्त दृष्टि का व्यापक उपयोग करके जैनतार्किकों ने अपने आगमिक प्रमेयों तथा सर्वसाधारण न्याय के प्रमेयों में से जो जो मन्तव्य तार्किक दृष्टि से स्थिर किये और प्रमाण शास्त्र में जिनका निरूपण किया उनमें से थोड़े ऐसे मन्तव्यों का भी निर्देश उदाहरण के तौर पर यहां कर देना जरूरी है, जो एक मात्र जैन तार्किकों की विशेषता दरसाने वाले हैं—प्रमाणविभाग, प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व, इन्द्रियज्ञान का व्यापार क्रम, परोक्ष के प्रकार, हेतु का रूप, अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, कथा का स्वरूप, निग्रहस्थान या जय-पराजय व्यवस्था, प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप, सर्वज्ञत्वसमर्थन आदि।

२. प्रमाणविभाग—जैन परंपरा का प्रमाण विषयक मुख्य विभाग[1] दो दृष्टिओं से अन्य परंपराओं की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। एक तो यह कि ऐसे सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य पर मुख्य विभाग अवलंबित है जिससे एक विभाग में आने वाले प्रमाण दूसरे विभाग से असंकीर्ण रूप में अलग हो जाते हैं जैसा कि इतर परंपराओं के प्रमाण विभाग में नहीं हो पाता। दूसरी दृष्टि यह है कि चाहे किसी दर्शन की न्यून या अधिक प्रमाण संख्या क्यों न हो पर वह सब बिना खींचतान के इस विभाग में समा जाती है। कोई भी ज्ञान या तो सीधे तौर से साक्षात्कारात्मक हो सकता है या असाक्षात्कारात्मक, यही प्राकृत-पंडितजन साधारण अनुभव है। इसी अनुभव को सामने रखकर जैन चिन्तकों ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो मुख्य विभाग किये जो एक दूसरे से बिलकुल विलक्षण हैं। दूसरी इसकी खूबी यह है कि इसमें न तो चार्वाक की तरह परोक्षानुभव का अपलाप है, न बौद्धदर्शन संमत प्रत्यक्ष-अनुमान द्वैविध्य की तरह आगम आदि इतर प्रमाण व्यापारों का अपलाप है या खींचातानी से अनुमान में समावेश करना पड़ता है, और न त्रिविध प्रमाणवादी सांख्य तथा प्राचीन वैशेषिक,

---

१ प्रमाणमीमांसा १. १. १० तथा टिप्पण पृ० १९. पं० २९

चतुर्विध प्रमाणवादी नैयायिक, पंचविध प्रमाणवादी प्रभाकर षड्विध प्रमाणवादी मीमांसक, सप्तविध या अष्टविध प्रमाणवादी पौराणिक आदि की तरह अपनी अपनी अभिमत प्रमाण संख्या को स्थिर बनाये रखने के लिए इतर संख्या का अपलाप या उसे तोड़ मरोड़ करके अपने में समावेश करना पड़ता है। चाहे जितने प्रमाण मान लो पर वे सीधे तौर पर या तो प्रत्यक्ष होंगे या परोक्ष। इसी सादी किन्तु उपयोगी समझ पर जैनों का मुख्य प्रमाण विभाग कायम हुआ जान पड़ता है।

२. प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व—प्रत्येक चिन्तक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। जैनदृष्टि का कहना है कि दूसरे किसी भी ज्ञान से प्रत्यक्ष का ही स्थान ऊँचा व प्राथमिक है। इन्द्रियाँ जो परिमित प्रदेश में अतिस्थूल वस्तुओं से आगे जा नहीं सकतीं, उनसे पैदा होनेवाले ज्ञान को परोक्ष से ऊँचा स्थान देना इन्द्रियों का अति मूल्य आँकने के बराबर है। इन्द्रियाँ कितनी ही पटु क्यों न हों पर वे अन्ततः हैं तो परतन्त्र ही। अतएव परतन्त्रजनित ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष मानने की अपेक्षा स्वतन्त्रजनित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना न्याय-संगत है। इसी विचार से जैन चिन्तकों ने उसी ज्ञान को वस्तुतः प्रत्यक्ष माना है जो स्वतन्त्र आत्मा के आश्रित है। यह जैन विचार तत्त्वचिन्तन में मौलिक है। ऐसा होते हुए भी लोकसिद्ध प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर उन्होंने अनेकान्त दृष्टि का उपयोग कर दिया है।[1]

४. इन्द्रियज्ञान का व्यापार क्रम—सब दर्शनों में एक या दूसरे रूप में थोड़े या बहुत परिमाण में ज्ञान व्यापार का क्रम देखा जाता है। इसमें ऐन्द्रियक ज्ञान के व्यापार क्रम का भी स्थान है। परंतु जैन परंपरा में सन्निपातरूप प्राथमिक इन्द्रिय व्यापार से लेकर अंतिम इन्द्रिय व्यापार तक का जिस विश्लेषण और जिस स्पष्टता के साथ अनुभव सिद्ध अतिविस्तृत वर्णन है वैसा दूसरे दर्शनों में नहीं देखा जाता। यह जैन वर्णन है तो अतिपुराना और विज्ञानयुग के पहिले का, फिर भी आधुनिक मानस शास्त्र तथा इन्द्रियव्यापार शास्त्र के वैज्ञानिक अभ्यासियों के वास्ते यह बहुत महत्त्व का है[2]।

५. परोक्ष के प्रकार—केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और आगम के ही प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने में मतभेदों का जंगल न था; बल्कि अनुमान तक के प्रामाण्य-अप्रामाण्य में विप्रतिपत्ति रही। जैन तार्किकों ने देखा कि प्रत्येक पक्षकार अपने पक्ष को आत्यन्तिक सींचने में दूसरे पक्षकार का सत्य देख नहीं पाता। इस विचार में से उन्होंने उन सब प्रकार के ज्ञानों को प्रमाणकोटि में दाखिल किया जिनके बल पर वास्तविक व्यवहार चलता है और जिनमें से किसी एक का अपलाप करने पर तुल्य युक्ति से दूसरे का अपलाप करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे सभी प्रमाण प्रकारों को उन्होंने परोक्ष में डालकर अपनी समन्वयदृष्टि का परिचय कराया[3]।

---

१ टिप्पण पृ० १९ पं० २९ तथा पृ० २१ पं० २४।

२ टिप्पण पृ० ४५ पं० १६।

३ प्रमाणमीमांसा १. २. २। टिप्पण पृ० ७२ पं० २१। पृ० ७५ पं० १। पृ० ७६ पं० २५।

६. हेतु का रूप–हेतु के स्वरूप के विषय में मतभेदों के अनेक अखाड़े कायम हो गये थे। इस युग में जैन तार्किकों ने यह सोचा कि क्या हेतु का एक ही रूप ऐसा मिल सकता है या नहीं, जिस पर सब मतभेदों का समन्वय भी हो सके और जो वास्तविक भी हो। इस चिन्तन में से उन्होंने हेतु का एक मात्र अन्यथानुपपत्ति रूप निश्चित किया जो उसका निर्दोष लक्षण भी हो सके और सब मतों के समन्वय के साथ जो सर्वमान्य भी हो। जहाँ तक देखा गया है हेतु के ऐसे एकमात्र तात्त्विक रूप के निश्चित करने का तथा उसके द्वारा तीन, चार, पाँच और छः, पूर्वप्रसिद्ध हेतु रूपों के यथासंभव स्वीकार का श्रेय जैन तार्किकों को ही है[१]।

७. अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था–परार्थानुमान के अवयवों की संख्या के विषय में भी प्रतिद्वन्द्वीभाव प्रमाण क्षेत्र में कायम हो गया था। जैन तार्किकों ने उस विषय के पक्षभेद की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय श्रोता की योग्यता के आधार पर ही किया, जो वस्तुतः सच्ची कसौटी हो सकती है। इस कसौटी में से उन्हें अवयव प्रयोग की व्यवस्था ठीक २ सूझ आई जो वस्तुतः अनेकान्तदृष्टि मूलक होकर सर्वसंग्राहिणी है और वैसी स्पष्ट अन्य परंपराओं में शायद ही देखी जाती है[२]।

८. कथा का स्वरूप--आध्यात्मिकता-मिश्रित तत्त्वचिंतन में भी साम्प्रदायिक बुद्धि दाखिल होते ही उसमें से आध्यात्मिकता के साथ असंगत ऐसी चर्चाएँ जोरों से चलने लगीं, जिनके फल स्वरूप जल्प और वितंडा कथा का चलाना भी प्रतिष्ठित समझा जाने लगा, जो छल, जाति आदि के असत्य दाव-पेचों पर ही निर्भर था। जैन तार्किक साम्प्रदायिकता से मुक्त तो न थे, फिर भी उनकी परम्परागत अहिंसा व वीतरागत्व की प्रकृति ने उन्हें वह असंगति सुझाई जिससे प्रेरित हो कर उन्होंने अपने तर्कशास्त्र में कथा का एक वादात्मक रूप ही स्थिर किया; जिसमें छल आदि किसी भी चाल बाजी का प्रयोग वर्ज्य है और जो एकमात्र तत्त्व-जिज्ञासा की दृष्टि से चलाई जाती है। अहिंसा की आत्यंतिक समर्थक जैन परंपरा की तरह बौद्ध परम्परा भी रही, फिर भी छल आदि के प्रयोगों में हिंसा देख कर निषेध ठहराने का तथा एक मात्र वादकथा को ही प्रतिष्ठित बनाने का मार्ग जैन-तार्किकों ने प्रशस्त किया। जिसकी ओर तत्त्व-चिंतकों का लक्ष्य जाना जरूरी है[३]।

९. निग्रहस्थान या जय-पराजय व्यवस्था–वैदिक और बौद्ध परम्परा के संघर्ष ने निग्रह-स्थान के स्वरूप के विषय में विकास सूचक बड़ी ही भारी प्रगति सिद्ध की थी; फिर भी उस क्षेत्र में जैन तार्किकों ने प्रवेश करते ही एक ऐसी नई बात सुझाई जो न्याय-विकास के समग्र इतिहास में बड़े मार्के की और अब तक सबसे अंतिम है। वह बात है जय-पराजय व्यवस्था का नया निर्माण करने की। वह नया निर्माण सत्य और अहिंसा दोनों तत्त्वों पर प्रतिष्ठित हुआ जो पहले की जय पराजय व्यवस्था में न थे[४]।

---

१ टिप्पण पृ० ८० पं० ३०।

२ टिप्पण पृ० ९४ पं० १४।

३ टिप्पण पृ० १०८, पं० १५। पृ० ११५, पं० २८।

४ टिप्पण पृ० ११९ पं० १४।

१०. प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप—प्रमेय जड़ हो या चेतन, पर सबका स्वरूप जैन तार्किकों ने अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग करके ही स्थापित किया और सर्व व्यापक रूप से कह दिया कि वस्तु-मात्र परिणामी नित्य है। नित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव-सिद्ध अनित्यता का इनकार करने की अशक्यता देख कर कुछ तत्त्व-चिंतक गुण, धर्म आदि में अनित्यता घटा कर उसका जो मेल नित्य-द्रव्य के साथ खींचातानी से बिठा रहे थे और कुछ तत्त्व-चिंतक अनित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव सिद्ध नित्यता को भी जो कल्पना मात्र बतला रहे थे उन दोनों में जैन तार्किकों ने स्पष्टतया अनुभव की आंशिक असंगति देखी और पूरे विश्वास के साथ बल-पूर्वक प्रतिपादन कर दिया कि जब अनुभव न केवल नित्यता का है और न केवल अनित्यता का तब किसी एक अंश को मान कर दूसरे अंश का बलात् मेल बैठाने की अपेक्षा दोनों अंशों को तुल्य सत्य-रूप में स्वीकार करना ही न्याय-संगत है। इस प्रतिपादन में दिखाई देने वाले विरोध का परिहार उन्होंने द्रव्य और पर्याय या सामान्य और विशेष ग्राहिणी दो दृष्टियों के स्पष्ट पृथक्करण से कर दिया। द्रव्य-पर्याय की व्यापक दृष्टि का यह विकास जैन-परम्परा की ही देन है[1]।

जीवात्मा, परमात्मा और ईश्वर के संबन्ध में सद्गुण-विकास या आचरण-साफल्य की दृष्टि से असंगत ऐसी अनेक कल्पनाएँ तत्त्व-चिंतन के प्रदेश में प्रचलित थीं। एकमात्र परमात्मा ही है या उससे भिन्न अनेक जीवात्मा चेतन भी हैं, पर तत्त्वतः वे सभी कूटस्थ निर्विकार और निर्लेप ही हैं। जो कुछ दोष या बन्धन है वह या तो निरा भ्रान्ति मात्र है या जड़ प्रकृति गत है। इस मतलब का तत्त्व-चिंतन एक ओर था दूसरी ओर ऐसा भी चिंतन था जो कहता कि चैतन्य तो है, उसमें दोष, वासना आदि का लगाव तथा उससे अलग होने की योग्यता भी है पर उस चैतन्य की प्रवाह-बद्ध धारा में कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। इन दोनों प्रकार के तत्त्व-चिंतनों में सद्गुण-विकास और सदाचार-साफल्य की संगति सरलता से नहीं बैठ पाती। वैयक्तिक या सामूहिक जीवन में सद्गुण विकास और सदाचार के निर्माण के सिवाय और किसी प्रकार से सामंजस्य जम नहीं सकता। यह सोच कर जैन-चिंतकों ने आत्मा का स्वरूप ऐसा माना जिसमें एक सी परमात्म शक्ति भी रहे और जिसमें दोष, वासना आदि के निवारण द्वारा जीवन-शुद्धि की वास्तविक जवाबदेही भी रहे। आत्मविषयक जैन-चिंतन में वास्तविक परमात्म-शक्ति या ईश्वर-भाव का तुल्य रूप से स्थान है, अनुभव सिद्ध आगन्तुक दोषों के निवारणार्थ तथा सहज-शुद्धि के आविर्भावार्थ प्रयत्न का पूरा अवकाश है। इसी व्यवहार-सिद्ध बुद्धि में से जीवभेदवाद तथा देहप्रमाणवाद स्थापित हुए जो संमिलित रूप से एक मात्र जैन परम्परा में ही हैं[2]।

११. सर्वज्ञत्व समर्थन—प्रमाण-शास्त्र में जैन सर्वज्ञ-वाद दो दृष्टियों से अपना खास स्थान रखता है। एक तो यह कि वह जीव-सर्वज्ञ वाद है जिसमें हर कोई अधिकारी की सर्वज्ञत्व

---

१ टिप्पण पृ० ५३, पं० ६। पृ० ५४, पं० १७। पृ० ५७, पं० २१।

२ टिप्पण पृ० ७०, पं० ८। पृ० ११६, पं० १२।

पाने की शक्ति मानी गई है और दूसरी दृष्टि यह है कि जैनपक्ष निरपवाद रूप से सर्वज्ञवादी ही रहा है जैसा कि न बौद्ध परम्परा में हुआ है और न वैदिक परम्परा में। इस कारण से काल्पनिक, अकाल्पनिक, मिश्रित यावत् सर्वज्ञत्व समर्थक युक्तियों का संग्रह अकेले जैन प्रमाण-शास्त्र में ही मिल जाता है। जो सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध में हुए भूतकालीन बौद्धिक व्यायाम के ऐतिहासिक अभ्यासियों के तथा साम्प्रदायिक भावना वालों के काम की चीज है[1]।

२. भारतीय प्रमाणशास्त्र में हेमचन्द्र का अर्पण

परम्परा प्राप्त उपर्युक्त तथा दूसरे अनेक छोटे बड़े तत्त्वज्ञान के मुद्दों पर हेमचन्द्र ने ऐसा कोई विशिष्ट चिंतन किया है या नहीं और किया है तो किस किस मुद्दे पर किस प्रकार है जो जैन तर्क शास्त्र के अलावा भारतीय प्रमाण-शास्त्र मात्र को उनकी देन कही जा सके। इसका जवाब हम हिंदी टिप्पणों में उस उस स्थान पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि द्वारा विस्तार से दे चुके हैं। जिसे दुहराने की कोई जरूरत नहीं। विशेष जिज्ञासु उस उस मुद्दे के टिप्पणों को देख लेवें।

सुखलाल।

ग्रन्थकार का परिचय।

: १ :

भारतवर्ष के इतिहास को उज्ज्वल करने वाले तेजस्वी आचार्यमण्डल में श्री हेमचन्द्राचार्य प्रतिष्ठित हैं। अपनी जन्मभूमि एवं कार्यक्षेत्र के प्रदेश की लोकस्मृति में उनका नाम सर्वदा अक्षुण्ण रहा है; उनके पीछे के संस्कृत पण्डितों में उनके ग्रन्थों का आदर हुआ है और जिस सम्प्रदाय को उन्होंने मण्डित किया था उसमें वे 'कलिकालसर्वज्ञ' की असाधारण सम्मान्य उपाधि से विख्यात हुए हैं।

निरुक्तकार यास्काचार्य प्रसंगवशात् आचार्य शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि 'आचार्य क्यों? आचार्य आचार ग्रहण करवाता है, अथवा आचार्य अर्थों की वृद्धि करता है या बुद्धि बढ़ाता है।'[2] भाषा शास्त्र की दृष्टिसे ये व्युत्पत्तियाँ सत्य हों या न हों, परन्तु आचार्य के तीनों धर्मों का इसमें समावेश होता दिखाई देता है। आज कल की परिभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि आचार्य शिष्यवर्ग को शिष्टाचार तथा सद्वर्तन सिखाता है, विचारों की वृद्धि करता है और इस प्रकार बुद्धि की वृद्धि करता है; अर्थात् चारित्र तथा बुद्धि का जो विकास कराने में समर्थ हो वह आचार्य। इस अर्थ में श्री हेमचन्द्र गुजरात के एक प्रधान

---

१ टिप्पण पृ० २७. पं० १२

२ आचार्यः कस्मात्? आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा—अ० १–४, पृ० ६२ (बॉ० सं० प्रा० सीरीज)।

आचार्य हुए। यह बात उनके जीवन कार्य का और लोक में उसके परिणाम का इतिहास देखने से स्पष्ट होती है।

जिस देश-काल में आचार्य हेमचन्द्र का जीवन कृतार्थ हुआ वह एक ओर तो उनकी शक्तिओं की पूरी कसौटी करे ऐसा था और दूसरी ओर उन शक्तिओं को प्रगट होने में पूरा अवकाश देने वाला था।

: २ :

यदि जिनप्रभसूरि ने 'पुराविदों के मुख से सुनी हुई' परम्परा सत्य हो तो कह सकते हैं कि वि० सं० ५०२ (ई० स० ४४६) में लक्खाराम नाम से जो जननिवास प्रख्यात था उस जगह वि० सं० ८०२ (ई० स० ७४६) में 'अणहिल गोपाल' से परीक्षित प्रदेश में 'चाउक्कड वंशके मोती सम वणराय ने' 'पत्तण' बसाया। यह पत्तन अणहिलपुरपाटन के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इस राजधानी का शासन चावडाओं ने और सोलंकियों ने धीरे-धीरे फैलाया और इसके साथ ही साथ भिन्नमाल (अथवा श्रीमाल), वलभी तथा गिरिनगर की नगरश्रीओं की यह नगरश्री उत्तराधिकारिणी हुई। इस उत्तराधिकार में सम्राट्धानियों—कान्यकुब्ज, उज्जयिनी एवं पाटलिपुत्र के भी संस्कार थे। इस अभ्युदय की पराकाष्ठा जयसिंह सिद्धराज (वि० सं० ११५०—११९९), और कुमारपाल (वि० सं० ११९९—१२२९) के समय में दिखाई दी और पौनी शताब्दि से अधिक काल (ई० स० १०९४—११७३) तक स्थिर रही। आचार्य हेमचन्द्रका आयुष्काल इस युग में था; उन्हें इस संस्कार समृद्धि का लाभ प्राप्त हुआ था। वे उस युग से बने थे और उन्होंने उस युग को बनाया!

जयसिंह सिद्धराज के पितामह भीमदेव (प्रथम) (ई० स० १०२१—६४) और पिता कर्णदेव के काल में (ई० स० १०६४—९४) अणहिलपुरपाटन देश-विदेश के विख्यात विद्वानोंके समागम और निवास का स्थान बन गया था, ऐसा 'प्रभावकचरित' के उल्लेखों से मालूम होता है[2]। भीमदेव का सान्धि-विग्रहिक 'विप्र डामर', जिसका हेमचन्द्र दामोदर के नाम से उल्लेख करते हैं, अपनी बुद्धिमत्ताके कारण प्रसिद्ध हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है[3]। शैवाचार्य ज्ञानदेव, पुरोहित सोमेश्वर, सुराचार्य, मध्यदेश के ब्राह्मण पण्डित श्रीधर और श्रीपति (जो आगे जाकर जिनेश्वर और बुद्धिसागर के नाम से जैन साधु रूप में

---

१ पृ० ५१, विविधतीर्थकल्प; संपादकः मुनि श्री जिन विजयजीः सिंघी जैन-ग्रन्थमाला।

२ देखो प्रभावकचरित (निर्णय सागर) पृष्ठ २०६—३४६।

३ भीमदेव की रानी उदयमती की वापिका—बावडी के साथ दामोदर के कुएँ का लोकोक्तिमें उल्लेख आता है। इस पर से उसने सुन्दर शिल्प को उत्तेजन दिया होगा ऐसा प्रतीत होता है—

'राणकी वाव ने दामोदर कुवो जेणे न जोयो ते जीवता मुआ' (रानी की बावडी और दामोदर कुआँ जिसने न देखा वह जीते मूआ) देखो प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० ३०—३४, सिंघी जैन ग्रंथमाला और 'दामोदर' उल्लेख के लिए द्वयाश्रय ८, ६१।

प्रसिद्ध हुए), जयराशि भट्ट के 'तत्त्वोपप्लव' की 'युक्तियों' के बल से पाटन की सभा में वाद करने वाला भृगुकच्छ (भड़ौच) का कौलकवि धर्म, तर्कशास्त्र के प्रौढ़ अध्यापक जैनाचार्य शान्तिसूरि जिनकी पाठशाला में 'बौद्ध तर्क में से उत्पन्न और समझने में कठिन ऐसे प्रमेयों' की शिक्षा दी जाती थी और इस तर्कशाला के समर्थ छात्र मुनिचन्द्र सूरि इत्यादि पण्डित प्रख्यात थे। 'कर्णसुन्दरी नाटिका' के कर्ता काश्मीरी पण्डित बिल्हण ने और नवाङ्गीटीकाकार अभयदेवसूरि ने कर्णदेव के राज्य में पाटन को सुशोभित किया था।

जयसिंह सिद्धराजके समयमें सिंह नामका सांख्यवादी, जैन वीराचार्य, 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' और टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' के रचयिता प्रसिद्ध तार्किक वादिदेवसूरि इत्यादि प्रख्यात थे। 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' नामक प्रकरण में जयसिंह की विद्वत्सभा का वर्णन आता है। उसमें तर्क, भारत और पराशर के महर्षि सम महर्षिका, शारदादेश (काश्मीर) में जिनकी विद्या का उज्ज्वल महोत्सव सुविख्यात था ऐसे उत्साह पण्डित का, अद्भुत मतिरूपी लक्ष्मी के लिए सागरसम सागर पण्डित का और प्रमाणशास्त्र के महार्णव के पारंगत राम का उल्लेख आता है (अंक ५, पृ० ४५)। वडनगर की प्रशस्ति के रचयिता प्रज्ञाचक्षु, प्राग्वाट (पोरवाड) कवि श्रीपाल और 'महाविद्वान्' एवं 'महामति' आदि विशेषणयुक्त भागवत देवबोध परस्पर स्पर्धा करते हुये भी जयसिंह के मान्य थे। वाराणसी के भाव बृहस्पति ने भी पाटन में आकर शैवधर्म के उद्धार के लिए जयसिंह को समझाया था। इसी भाव बृहस्पति को कुमारपाल ने सोमनाथ पाटन का गण्ड (रक्षक) भी बनाया था।

इनके अतिरिक्त मलधारी हेमचन्द्र, 'गणरत्न-महोदधि' के कर्ता वर्धमानसूरि, 'वाग्भट्टालंकार' के कर्ता वाग्भट्ट आदि विद्वान् पाटन में प्रसिद्ध थे।[२]

इस पर से ऐसी कल्पना होती है कि जिस पण्डित मण्डल में आ० हेमचन्द्र ने प्रसिद्धि प्राप्त की वह साधारण न था। उस युग में विद्या तथा कला को जो उत्तेजन मिलता था[३] उससे हेमचन्द्र को विद्वान् होने के साधन सुलभ हुए होंगे, पर उनमें अग्रसर होने के लिए असाधारण बुद्धि कौशल दिखाना पड़ा होगा।

: २ :

श्री जिनविजय जी ने कहा है उसके अनुसार भारत के कोई भी प्राचीन ऐतिहासिक पुरुष विषयक जितनी ऐतिह्य सामग्री उपलब्ध होती है उसकी तुलना में आ० हेमचन्द्र विषयक लभ्य सामग्री विपुल कही जा सकती है; फिर भी आचार्य के जीवन का सुरेख चित्र चित्रित करने के लिए वह सर्वथा अपूर्ण है।

---

१ बुद्धिसागर कृत ७००० श्लोक प्रमाण संस्कृत व्याकरण जाबालिपुर (जालोर, मारवाड) में वि० सं० ११८० (ई० स० ११२४) में पूर्ण हुआ था। जिनेश्वर ने तर्क ऊपर ग्रंथ लिखा था। देखो पुरातत्त्व पुस्तक २, पृ० ८१-८४; काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० १४४-४५।

२ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २४२-६२।

३ देखो, शिल्पकला के लिए-'कुमारपालविहारशतक'-हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र कृत, जिसमें कुमारपाल विहार नामक मंदिर का वर्णन है।

डा० ब्युल्हर ने ई० स० १८८९ में विएना में आ० हेमचन्द्र के जीवन ऊपर गवेषणापूर्वक एक निबन्ध प्रगट किया था; उसमें उन्होंने आ० हेमचन्द्र के अपने ग्रन्थ 'द्व्याश्रय-काव्य' 'सिद्धहेम की प्रशस्ति' और 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में से 'महावीर चरित' के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र सूरि कृत 'प्रभावक चरित' (वि० सं० १३३४—ई० स० १२७८), मेरुतुङ्गकृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (वि० सं० १३६१–ई० स० १३०५), राजशेखरकृत 'प्रबन्धकोश' और जिनमण्डन उपाध्याय कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' का साधन के रूप में उपयोग किया था। अब हमें इनके अलावा सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' और 'शतार्थ काव्य', यशःपालकृत "मोहराजपराजय" (वि० सं० १२२९–३२), और अज्ञातकर्तृक "पुरातन प्रबन्धसंग्रह" उपलब्ध हैं। इनमें से सोमप्रभसूरि तथा यशःपाल आ० हेमचन्द्र के लघुवयस्क समकालीन थे।

इस सामग्री में से "कुमारपाल प्रतिबोध" (वि० सं० १२४१) को आचार्य की जीवन कथा के लिए मुख्य आधार ग्रन्थ मानना चाहिए और दूसरे ग्रन्थों को पूरक मानना चाहिए।

सोमप्रभसूरिके कथनानुसार उनके पास ज्ञेय-सामग्री खूब थी, पर उस सामग्री में से उन्होंने अपने रस के विषय के अनुसार ही उपयोग किया है[1]। इसलिए हम जिसे जानना चाहें ऐसा बहुत सा वृत्तान्त गूढ़ ही रहता है।

: ४ :

'प्रभावकचरित' के अनुसार आचार्य की जन्मतिथि वि० सं० ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा है। इसके बाद के अन्य सभी ग्रन्थ यही तिथि देते हैं इसलिए इस तिथि का स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है। लघुवयस्क समकालीन सोमप्रभसूरि को आचार्य के जीवन की किसी भी घटना की तिथि देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

'मोढकुल', पिता 'चच्च' (अथवा चाचिग), माता 'चाहिणी' (अथवा पाहिणी), वासस्थान 'धंधुक्य' (धन्धुका)—ये बातें भी निर्विवाद हैं। जन्म धन्धुका में ही हुआ होगा या अन्यत्र इस बारे में सोमप्रभसूरि का स्पष्ट कथन नहीं है।

बालक का नाम 'चङ्गदेव' था। वह जिस समय माता के गर्भ में था उस समय माता ने जो आश्चर्यजनक स्वप्न देखे थे उनका वर्णन सोमप्रभसूरि करते हैं। आचार्य के अवसान के बाद बारहवें वर्ष में पूर्ण हुए ग्रन्थ में इस प्रकार जो चमत्कारी पुरुष गिने जाने लगे यह समकालीन पुरुषों में उनकी जीवन-महिमा का सूचक है।

सोमप्रभसूरि की कथा के अनुसार:—

"पूर्णतल्लगच्छ के देवचन्द्रसूरि विहार करते हुए धंधुका आते हैं; वहाँ एक दिन देशना पूरी होने पर एक 'वणिक्कुमार' हाथ जोड़कर आचार्य से प्रार्थना करता है—

---

१ 'कुमारपाल प्रतिबोध' पृ० २ श्लोक ३०–३१।

२ देखो पृ० ३४७ श्लोक ८४८।

३ देखो 'कुमारपाल प्रतिबोध' (वि० सं० १२४१) पृ० ४७८।

'सुचारित्ररूपी जलयान द्वारा इस संसार समुद्र से पार लगाइए।' बालक का मामा नेमि गुरु से परिचय करवाता है।

"देवचन्द्रसूरि कहते हैं कि—'इस बालक को प्राप्त कर हम इसे निःशेष शास्त्र-परमार्थ में अवगाहन करावेंगे; पश्चात् यह इस लोक में तीर्थङ्कर जैसा उपकारक होगा। इसलिए इसके पिता चच्च से कहो कि इस चङ्गदेव को व्रत-ग्रहण के लिए आज्ञा दे।'[1]

"बहुत कहने सुनने पर भी पिता अतिस्नेह के कारण आज्ञा नहीं देता; परन्तु पुत्र 'संयम-ग्रहण' करने के लिए दृढ़मना है। मामा की अनुमति से वह चल पड़ता है और गुरु के साथ 'खम्भतित्थ' (खम्भात) पहुँचता है।"

सोमप्रभसूरि के कथन से इतना तो स्पष्ट है कि पिता की अनुमति नहीं थी; माता का अभिप्राय क्या होगा इस विषय में वह मौन है। मामा की अनुमति से चंगदेव घर छोड़कर चल देता है। सोमप्रभसूरि के कथन का तात्पर्य ऐसा भी है कि बालक चंगदेव स्वयं ही दीक्षा के लिए दृढ़ था। पाँच या आठ वर्ष के बालक के लिए ऐसी दृढ़ता मनोविज्ञान की दृष्टि से कहाँ तक सम्भव है इस शंका का जिस तरह निराकरण हो उसी तरह से इस विषय का ऐतिहासिक दृष्टि से निराकरण हो सकता है। सम्भव है, केवल साहित्य की छटा लाने के लिए भी इस प्रकार सोमप्रभसूरि ने इस प्रसंग का वर्णन किया हो।

चंगदेव का श्रमण सम्प्रदाय में कब प्रवेश हुआ इस विषय में मतभेद है। 'प्रभावक चरित' के अनुसार वि० सं० ११५० (ई० स० १०९४) अर्थात् पाँच वर्ष की आयु में हुआ[2]। जिनमण्डनकृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' वि० सं० ११५४ (ई० सं० १०९८) का वर्ष बतलाता है जब कि प्रबन्ध-चिन्तामणि, पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह और प्रबन्धकोश आठ वर्ष की आयु बतलाते हैं। दीक्षा विषयक जैनशास्त्रों का अभिप्राय देखें तो आठ वर्ष से पूर्व दीक्षा सम्भव नहीं होती। इसलिए चंगदेव ने साधु का वेश आठ वर्ष की अवस्था में वि० सं० ११५४ (ई० स० १०९८) में ग्रहण किया होगा, ऐसा मानना अधिक युक्तियुक्त है।[3]

सोमप्रभसूरि के कथनानुसार:—"उस 'सोममुह'—सौम्यमुख का नाम सोमचन्द्र रखा गया। थोड़ा समय जिनागम कथित तप करके वह गंभीर श्रुतसागर के भी पार पहुँचा। 'दुःषम समय में जिसका सम्भव नहीं है ऐसा गुणौघवाला' यह है ऐसा मनमें विचार कर श्रीदेव-चन्द्रसूरि ने उसे गणधर पद पर स्थापित किया। हेम जैसी देह की कान्ति थी और चन्द्र

---

१ देखो 'कुमारपाल प्रतिबोध' पृ० २१।

२ देखो प्रभावकचरित पृ० ३४७ श्लोक ८४८।

३ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २६७–८। प्रभावकचरित में वि० सं० ११५० (ई० स० १०९४) का वर्ष कैसे आया यह विचारणीय प्रश्न है। मेरा अनुमान ऐसा है कि धंधुका में देवचन्द्रसूरि की दृष्टि चंगदेव पर उस वर्ष में जमी होगी; प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार चंगदेव देवचन्द्रसूरि के साथ प्रथम कर्णावती आया; वहाँ उदयन मंत्री के पुत्रों के साथ उसका परिचय हुआ और अन्त में चच्च (प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार चाचिग) के हाथों ही दीक्षा महोत्सव खम्भात में हुआ। उस समय चंगदेव की आयु आठ वर्ष की हुई होगी। चच्च की सम्मति प्राप्त करने में तीन वर्ष गए हों ऐसा मेरा अनुमान है।

की तरह लोगों को आनन्द देनेवाला था, इसलिए वह हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समग्र लोक के उपकारार्थ विविध देशों में वह विहार करता था अतः श्रीदेवचन्द्रसूरि ने उसे कहा—'गुर्जर देश छोड़कर अन्य देशों में विहार मत कर। जहाँ तू रहा है वहीं महान् परोपकार करेगा।' वह गुरु के वचन से देशान्तर में विहार करना छोड़कर यहीं (गुर्जरदेश—पाटन में) भव्यजनों को जागरित करता रहता है।"

इस वर्णन में से एक बात विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्र गुर्जर देश में और पाटन में स्थिर हुए उससे पहले उन्होंने भारतवर्ष के इतर भागों में विहार किया होगा और गुरु देवचन्द्र की आज्ञा से उनका विहार गुर्जर देश में ही मर्यादित हुआ।

सोमप्रभसूरि का वर्णन सामान्य रूप का है; आचार्य का जीवन-वृत्तान्त जाननेवालों के सामने कहा हो ऐसा है। अतएव हमारे लिए पीछे के ग्रन्थ और प्रबन्ध तफसील के लिए आधार रूप हैं।

चंगदेव के कुटुम्ब का धर्म कौनसा होगा?। सोमप्रभसूरि पिता के लिए इतना ही कहते हैं कि 'कयदेवगुरुजणच्चो चच्चो (देव और गुरुजन की अर्चा करनेवाला चच्च)।' और वे माता चाहिणी के केवल शील का ही वर्णन करते हैं। मामा नेमि देवचन्द्रसूरि का उपदेश सुनने के लिए आया है इस पर से वह जैनधर्मानुरागी जान पड़ता है।

पीछे के ग्रन्थ चच्च को मिथ्यात्वी कहते हैं। इस पर से वह जैन तो नहीं होगा ऐसा विश्वास होता है। प्रबन्ध चिन्तामणि के उल्लेख के अनुसार पैसे की लालच दी जाने पर वह उसे 'शिवनिर्माल्य' वत् समझता है; अतएव वह माहेश्वरी (आजकल का मेश्री[3]) होगा। चाहिनी जैनधर्मानुरागी हो ऐसा सम्भव है; पीछे से वह जैन-दीक्षा लेती है ऐसा प्रबन्धों में उल्लेख है।

सोमचन्द्र को इक्कीस वर्ष की आयु में वि० सं० ११६६ (ई० स० १११०) में सूरिपद मिला। इस संवत्सर के विषय में मतभेद नहीं है। इस समय से वह हेमचन्द्र के नाम से ख्यात हुआ। कुमारपाल प्रतिबोध के अनुसार सूरिपद का महोत्सव नागपुर (नागोर—मारवाड़) में हुआ। इस प्रसंग पर खर्च करनेवाले वहीं के एक व्यापारी धनद का नाम बतलाया गया है।

इतनी अल्पायु में इतने महत्त्व का स्थान हेमचन्द्र को दिया गया यह समकालीनों पर पड़े हुए उनके प्रभाव का प्रतीक है। जयसिंह सिद्धराज को भी 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' के

---

१ देखो कुमारपाल प्रतिबोध पृ० २२.

२ देखो प्रबन्धचिन्तामणि पृ० ८३.

३ इस समय मेश्री बनिये प्रायः वैष्णव होते हैं।

४ एक ही कुटुम्ब में भिन्न भिन्न धर्मानुराग होने के अनेक दृष्टान्त भारत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं और दो दशक पूर्व गुजरात में अनेक वैश्य कुटुम्ब ऐसे थे जिनमें ऐसी स्थिति विद्यमान थी। देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २५६।

अनुसार आठ वर्ष की आयु में राज्याधिकार प्राप्त हुआ था और उसने भी अल्पायु में सोलंकियों के राज्य की प्रतिष्ठा स्थापित की थी।

जिसकी विद्या प्राप्ति इतनी असाधारण थी उसने विद्याभ्यास किससे, कहाँ और कैसे किया यह कुतूहल स्वाभाविक है। परन्तु इस विषय में हमें आवश्यक ज्ञातव्य सामग्री लब्ध नहीं है। उनके दीक्षागुरु देवचन्द्रसूरि स्वयं विद्वान् थे और 'स्थानाङ्गसूत्र' पर उनकी टीका प्रसिद्ध है। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में हेमचन्द्र कहते हैं कि--"तत्प्रसादादधिगतज्ञान-सम्पन्महोदयः"--अर्थात् गुरु देवचन्द्र के प्रसाद से ज्ञान सम्पत्ति का महोदय उन्हे प्राप्त हुआ था। परन्तु दीक्षागुरु देवचन्द्र विद्यागुरु होंगे कि नहीं और होंगे तो कहां तक, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।

'प्रभावक चरित' के अनुसार सोमचन्द्र को (आचार्य होने से पूर्व) तर्क, लक्षण और साहित्य के ऊपर शीघ्रता से प्रभुत्व प्राप्त हुआ था; और 'शतसहस्रपद' की धारण शक्ति से उसे सन्तोष न हुआ इसलिए 'काश्मीरदेशवासिनी' की आराधना करने के लिए काश्मीर जाने की अनुमति गुरु से मांगी पर उस 'काश्मीर देशवासिनी शारदा' के लिए उन्हें काश्मीर जाना न पड़ा; किन्तु काश्मीर के लिए प्रयाण करते ही खम्भात से बाहर श्रीरैवत विहार में उस शारदा का उन्हें साक्षात्कार हुआ और इस तरह स्वयं 'सिद्धसारस्वत' हुए।[2]

'प्रभावक चरित' के इस कथन से ऐतिहासिक तात्पर्य क्या निकालना यह विचारणीय है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमचन्द्र भले काश्मीर न गये हों तो भी उन्होंने काश्मीरी पण्डितों से अध्ययन किया होगा। काश्मीरी पण्डित गुजरात में आते जाते थे यह विल्हण के आगमन से सूचित होता है। 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' नाटक के अनुसार जयसिंह की सभा में उत्साह नामक काश्मीरी पण्डित था। हेमचन्द्र को व्याकरण लिखने से पूर्व व्याकरण ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी थी जिन्हें लेने के लिए उत्साह पण्डित काश्मीर देश में गया था और वहां से आठ व्याकरण लेकर आया था। जब 'सिद्धहेम' पूरा हुआ तब उन्होंने उसे शारदा देश में भेजा था। इसके अतिरिक्त काव्यानुशासन में हेमचन्द्र जिस बहुमान से आचार्य अभिनव

---

१ प्रबन्धों के अनुसार जयसिंह वि० सं० ११५० (ई० स० १०९४) में सिंहासनारूढ हुआ। उस समय यदि उसकी आयु आठ वर्ष की मान लें तो उसका जन्म वि० सं० ११४२ में और इस तरह हेमचन्द्र से आयु में जयसिंह को तीन वर्ष बड़ा समझना चाहिए। 'प्रबन्धचिन्तामणि' उसकी आयु तीन वर्ष की जब कि 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' आठ वर्ष की बताता है जो कि हेमचन्द्र के 'द्वयाश्रय' में कथित 'स्तम्बेकरिजीहि' के साथ ठीक बैठता है (काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० १६५)। कुमारपाल का जन्म यदि वि० सं० ११४९ (ई० स० १०९३) में स्वीकार करें तो हेमचन्द्र कुमारपाल से चार वर्ष बड़े हुए--देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २०१ और पृ० २७१।

प्रमाणनयतत्त्वालोक और स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता महान् जैन तार्किक वादिदेवसूरि से आयु में हेमचन्द्र दो वर्ष छोटे थे; परन्तु हेमचन्द्र आचार्य की दृष्टि से आठ वर्ष बड़े थे। संभव है, दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के साथ वादयुद्ध के समय देवसूरि की ख्याति अधिक हो--देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २७०, फुटनोट।

२ देखो प्रभावकचरित पृ० २१८-१९।

गुप्त का उल्लेख करते हैं वह भी उनका काश्मीरी पण्डितों के साथ गाढ़ विद्या परिचय सूचित करता है ।

वि० सं० ११६६ (ई० स० १११०) में इक्कीस वर्ष की आयु में सोमचन्द्र हेमचन्द्रसूरि हुए यह युवावस्था में प्राप्त असाधारण पाण्डित्य का प्रभाव होगा । तर्क, लक्षण और साहित्य ये उस युग की महाविद्याएँ थीं और इस त्रयी का पाण्डित्य राजदरबार और जनसमाज में अग्रगण्य होने के लिए आवश्यक था । इन तीनों में हेमचन्द्र को अनन्य साधारण पाण्डित्य था यह उनके उस उस विषय के ग्रन्थों पर से स्पष्ट दिखाई देता है ।

आचार्य होने के बाद और पहले हेमचन्द्र ने कहाँ कहाँ विहार किया होगा इसे ब्योरे से जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है । आचार्य होने से पूर्व गुजरात के बाहर खूब घूमे होंगे यह सम्भव है; परन्तु, ऊपर जैसा कहा है, गुरुकी आज्ञा से गुर्जर देश में ही अपना क्षेत्र मर्यादित करने के लिए बाध्य हुए ।

हेमचन्द्र अणहिल्लपुर पाटन में सबसे पहले किस वर्ष में आए, जयसिंह के साथ प्रथम-समागम कब हुआ इत्यादि निश्चित रूप से जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है । परन्तु वह राजधानी पण्डितों के लिए आकर्षण थी । इसलिए विद्याप्राप्ति एवं पाण्डित्य को कसौटी पर कसने के लिए हेमचन्द्र का आचार्य होने से पूर्व ही वहां आना-जाना हुआ हो यह संभव है ।

'प्रभावक चरित' और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के अनुसार कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ के समय हेमचन्द्र उपस्थित थे अर्थात् वि० सं० ११८१ (ई० स० ११२५) में वे जयसिंह सिद्धराज की पण्डित सभा में विद्यमान थे । उस समय उनकी आयु इकत्तीस वर्ष की होगी तथा आचार्यपद मिले एक दशक बीत गया होगा । उस समय हेमचन्द्र वादी देवचन्द्रसूरि जितने प्रतिष्ठित नहीं होंगे, अथवा उनका वाद कौशल शान्तिसूरि आदि की तार्किक परम्परा वाले वादिदेवसूरि जितना नहीं होगा ।

'प्रभावकचरित' के अनुसार जयसिंह और हेमचन्द्र का प्रथम मिलन अणहिलपुर के किसी तंग मार्ग पर हुआ था जहां से जयसिंह के हाथी को गुज़रने में रुकावट पड़ी थी और जिस प्रसंग पर एक तरफ से हेमचन्द्र ने 'सिद्ध' को निश्शंक होकर अपने गजराज को ले जाने के लिए कहा और श्लेष से स्तुति[2] की । परन्तु इस उल्लेख में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, यह कहना कठिन है[3] ।

सिद्धराज जयसिंह के मालवा की अंतिम विजय के समय भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि उसे अभिनन्दन देने के लिए आए; उस समय जैन-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में

---

१ उल्लेखनीय यह है कि 'काव्यप्रकाश' की सम्भाव्य प्रथम टीका 'संकेत' गुजरात के माणिक्यचन्द्र ने लिखी है ।

२. कारय प्रसरं सिद्ध हस्तिराजमशङ्कितम् । अस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्तवयैवोद्धृता यतः ॥ ६७ ॥

३. 'कुमारपाल प्रबन्ध' हेमचन्द्र और जयसिंह का प्रथम-समागम इस प्रसंग से पूर्व भी हुआ था ऐसा सूचित करता है ।

हेमचन्द्र ने स्वागत किया था। उस प्रसंग का उनका श्लोक¹ प्रसिद्ध है। यह घटना वि० सं० ११९१–९२ में (ई० स० ११३६ के प्रारम्भ) में घटित हुई होगी। उस समय हेमचन्द्र की आयु छयालीस-सैंतालीस वर्ष की होगी।

जयसिंह सिद्धराज और हेमचन्द्र का सम्बन्ध कैसा होगा इसका अनुमान करनेके लिए प्रथम आधारभूत ग्रंथ 'कुमारपाल प्रतिबोध' से कुछ जानकारी मिलती है—

"बुधजनों के चूड़ामणि भुवन प्रसिद्ध सिद्धराज को सम्पूर्ण संशय स्थानों में वे पूछ्य हुए। मिथ्यात्व से मुग्धमति होने पर भी उनके उपदेश से जयसिंह राजा जिनेन्द्र के धर्म में अनुरक्तमना हुआ। उनके प्रभाव में आकर ही उसने उसी नगर (अणहिलपुर) में रम्य 'राजविहार' बनाया और सिद्धपुर में चार जिन प्रतिमाओं से समृद्ध 'सिद्धविहार'² निर्मित किया। जयसिंह देव के कहने पर इन मुनीन्द्र ने 'सिद्धहेम व्याकरण' बनाया जो कि निःशेष शब्द लक्षण का निधान है। अमृतमयी वाणी में विशाल उन्हें न मिलने पर जयसिंहदेव के चित्त में एक क्षण भी सन्तोष नहीं होता था।" —कुमारपाल प्रतिबोध पृ० २२।

इस कथन में बहुत सा ऐतिहासिक तथ्य दिखाई देता है। हेमचन्द्र और जयसिंह का सम्बन्ध क्रमशः गाढ़ हुआ होगा, और हेमचन्द्र की विद्वत्ता एवं विशद प्रतिपादन शैली से (जो कि उनके ग्रन्थों में प्रतीत होती है) वे उसके विचारसारथि हुए होंगे। जयसिंह के उत्तेजन से हेमचन्द्र को व्याकरण, कोश, छन्द तथा अलङ्कार शास्त्र रचने का निमित्त प्राप्त हुआ और अपने राजा का कीर्तन करनेवाले, व्याकरण सिखानेवाले तथा गुजरात के लोक-जीवन के प्रतिबिम्ब को धारण करनेवाले 'द्वयाश्रय' नामक काव्य रचने का मन हुआ।

इष्ट देवता की उपासना के विषय में जयसिंह कट्टर शैव ही रहा यह 'कुमारपाल प्रतिबोध' के 'मिच्छत्त-मोहिय-मई'—मिथ्यात्वमोहितमति विशेषण से ही फलित होता है। परन्तु ऐसा मानने का कारण है कि धर्म विचारणा के विषय में सार ग्रहण करने की उदार विवेक-बुद्धि से हेमचन्द्र की चर्चाएँ होती होंगी; और बहुत सम्भव है कि इथर धर्मों पर आक्षेप किए बिना ही उन्होंने जैन-धर्म के सिद्धान्तों को समझाकर जयसिंह को उनमें 'अनुरक्त मन वाला' किया हो।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' के 'सर्वदर्शनमान्यता' नामक प्रबन्ध का यहाँ उल्लेख करना उचित होगा—"संसार सागर से पार होने का इच्छुक श्रीसिद्धराज 'देवतत्त्व', और 'पात्रतत्त्व' की जिज्ञासा से सब दार्शनिकों से पूछता है, और सब अपनी स्तुति तथा दूसरों की निन्दा करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र पुराणों में से कथा कहकर, साँड़ बना हुआ पति सच्ची ओषधि

---

१ भूमिं क. .वि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा। मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप त्वं पूर्णकुम्भी भव ॥
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणान्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥
प्रभावक चरित पृ० ३००

२ द्वयाश्रय (सर्ग १५, श्लो० १६) के अनुसार सिद्धपुर में जयसिंह ने चरम तीर्थंकर महावीर स्वामी का मन्दिर बनवाया था। अन्य उल्लेखों के लिए देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना १८८।

खाने से जिस प्रकार पुनः मनुष्य हो सका उसी प्रकार भक्ति से सर्वदर्शन का आराधन करने से स्वरूप न जानने पर भी मुक्ति मिलती है, ऐसा अभिप्राय देते हैं।"

यह 'सर्वदर्शनमान्यता' की दृष्टि साम्प्रदायिक चातुरी की थी जैसा कि डॉ० ब्युल्हर मानते हैं, अथवा सारग्राही विवेक बुद्धि में से परिणत थी इसका निर्णय करने का कोई बाह्य साधन नहीं है। परन्तु अनेकान्तवाद के रहस्यज्ञ हेमचन्द्र में ऐसी विवेकबुद्धि की सम्भावना है क्योंकि हेमचन्द्र और अन्य जैन तार्किक अनेकान्त को 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रूप में भी घटाते हैं। इसके अलावा उस युग में दूसरे सम्प्रदायों में भी ऐसी विशालदृष्टि के विचारकों के दृष्टान्त भी मिलते हैं। प्रथम भीमदेव के समय में शैवाचार्य ज्ञानभिक्षु और सुविहित जैन साधुओं को पाटन में स्थान दिलानेवाले पुरोहित सोमेश्वर के दृष्टान्त 'प्रभावक चरित' में वर्णित हैं। अर्थात् प्रत्येक सम्प्रदाय में ऐसे थोड़े बहुत उदारमति आचार्यों के होने की सम्भावना है।

ऐसा मानने के लिए कारण है कि मालव-विजय के बाद से जयसिंह की मृत्युपर्यन्त उसके साथ हेमचन्द्र का सम्बन्ध अबाधित रहा; अर्थात् वि० सं० ११९१ के अन्त से वि० सं० ११९९ के आरम्भ तक लगभग सात वर्ष यह सम्बन्ध अस्खलित रहा। जयसिंह की मृत्यु के समय हेमचन्द्र की आयु ५४ वर्ष की थी। इन सात वर्षों में हेमचन्द्र की साहित्य-प्रवृत्ति के अनेक फल गुजरात को मिले।

: ५ :

आचार्य हेमचन्द्र का कुमारपाल के साथ प्रथम परिचय किस वर्ष में हुआ यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' पर से ऐसा ज्ञात होता है कि मंत्री वाग्भटदेव—बाहडदेव द्वारा कुमारपाल के राजा होने के पश्चात् वह हेमचन्द्र के साथ गाढ परिचय में आया होगा। परन्तु, डॉ० ब्युल्हर के कथनानुसार साम्राज्य निमित्तक युद्ध पूर्ण होनेके अनन्तर प्रथम परिचय हुआ होगा ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। फिर भी धर्म का विचार करने का अवसर उस प्रौढवय के राजा को उसके बाद ही मिला होगा।

जयसिंह के साथ का परिचय समवयस्क विद्वान् मित्र जैसा लगता है जब कि कुमारपाल के साथ गुरु-शिष्य जैसा प्रतीत होता है। हेमचन्द्र के उपदेश से, ऐसा मालूम होता है कि, कुमारपाल का जीवन उत्तरावस्था में प्रायः द्वादश व्रतधारी श्रावक जैसा हो गया होगा। परन्तु इस पर से ऐसा अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है कि उसने अपने कुल-देव शिव की पूजा छोड़ ही दी होगी।[3]

---

१ देखो सिद्धहेम--'सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणम्'-इत्यादि पृ० २ और सिद्धर्षि की विवृति सहित 'न्यायावतार' पृ० १२८।

२ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २८३।

३ एक ओर जिस तरह हेमचन्द्र अपने ग्रन्थों में उसे 'परमार्हत' कहते हैं उसी तरह दूसरी ओर प्रभासपाटन के 'गण्ड' भाव बृहस्पति ने वि० सं० १२२९ (ई० स० ११७३) के भद्रकाली के शिलालेख में

हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने अपने जीवन में न केवल परिवर्तन ही किया किन्तु गुजरात को दुर्व्यसनों में से मुक्त करने का योग्य प्रयास भी किया। जिसमें भी विशेषतः उसने जुए और मद्य का प्रतिबन्ध करवाया, और निर्वंश के धनापहरण का कानून भी बन्द किया। हेमचन्द्र के सदुपदेश से यज्ञ-यागादि में पशुहिंसा बन्द हुई और कुमारपाल के सामन्तों के शिलालेखों के अनुसार अमुक अमुक दिन के लिए पशुहिंसा का प्रतिबन्ध भी हुआ था। कुमारपाल ने अनेक जैन-मन्दिर भी बनवाए थे जिनमें से एक 'कुमार-विहार' नामक मन्दिर का वर्णन हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने 'कुमार-विहार-शतक' में किया है। 'मोहराजपराजय' नामक समकालीनप्राय नाटक में भी इन घटनाओं का रूपकमय उल्लेख है।

उस समय के अन्य महापुरुषों के साथ हेमचन्द्र के सम्बन्ध तथा वर्तन विषयक थोड़ी सी ज्ञातव्य सामग्री मिलती है। इस बात को पहले कह ही चुके हैं कि उदयन मंत्री के घर में उसके पुत्रों के साथ बचपन में चन्द्रदेव रहा था। हेमचन्द्र को साधु बनाने में भी उदयन मंत्री ने अत्यधिक भाग लिया था। उसके बाद उसके पुत्र बाहड़ द्वारा कुमारपाल के साथ गाढ़ परिचय हुआ था इसका भी निर्देश कर चुके हैं।

'प्रभावक चरित' 'महामति भागवत देवबोध' का उल्लेख करता है। उसके साथ हेमचन्द्र का परस्पर विद्वत्ता की कद्र करनेवाला मैत्री सम्बन्ध था। वड़नगर की प्रशस्ति के कवि श्रीपाल से भी हेमचन्द्र का गाढ़ परिचय था।

उस समय हेमचन्द्र की साहित्यिक प्रवृत्ति पूर्ण उत्साह से चल रही थी। सिद्धहेम शब्दानुशासन के बाद काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन कुमारपाल के समय में प्रसिद्ध हो गए थे। संस्कृत द्व्याश्रय के अन्तिम सर्ग तथा प्राकृत द्व्याश्रय—कुमारपाल चरित भी इसी समय लिखे गए।

अपूर्ण उपलब्ध 'प्रमाणमीमांसा' की रचना अनुशासनों के बाद हुई। सम्भव है, वह हेमचन्द्र के जीवन की अन्तिम कृति हो। योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित नामक विशाल जैन-पुराण, स्तोत्र आदि की रचना भी कुमारपाल के राजत्वकाल में ही हुई थी। इनके अतिरिक्त पूर्व-रचित ग्रन्थों में संशोधन और उन पर स्वोपज्ञ टीकाएँ लिखने की भी प्रवृत्ति चलती थी।

'प्रभावक चरित' में हेमचन्द्र के 'आस्थान' (विद्यासभा) का वर्णन है वह उल्लेखनीय है।

"हेमचन्द्र का आस्थान जिसमें विद्वान् प्रतिष्ठित हैं, जो ब्रह्मोल्लास का निवास और भारती का पितृ-गृह है, जहाँ महाकवि अभिनव-ग्रन्थ निर्माण में आकुल हैं, जहाँ पट्टिका (तख्ती) और पट्ट पर लेख लिखे जा रहे हैं, शब्दव्युत्पत्ति के लिए ऊहापोह होते रहने

कुमारपाल को 'माहेश्वरचूडामणी' कहा है। और, संस्कृत 'द्व्याश्रय' के बीसवें सर्ग में कुमारपाल की शिवभक्ति का उल्लेख है। देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० ३३१ और २८७।

१ देखो काव्यानुशासन प्रस्तावना पृ० २८९ तथा पृ० २५५–२६१।

से जो सुन्दर लगता है, जहाँ पुराणकवियों द्वारा प्रयुक्त शब्द दृष्टान्तरूप से उल्लिखित किए जाते हैं।[1]

: ६ :

हेमचन्द्र ने राजकीय विषयों में कितना भाग लिया होगा यह जानने के लिए नहीं जैसी ज्ञेय-सामग्री है। वे एक राजा के सम्मान्य मित्र तुल्य और दूसरे के गुरुसम थे। राज दरबार में अग्रगण्य अनेक जैन गृहस्थों के जीवन पर उनका प्रभाव था। उदयन और वाग्भटादि मंत्रियों के साथ उनका गाढ़ सम्बन्ध था। ऐसी वस्तुस्थिति में कुछ लोग हेमचन्द्र को राजकीय विषयों में महत्त्व देते हैं। परन्तु राजनीतिक कही जा सके ऐसी एक ही बात में परामर्शदाता के रूप से हेमचन्द्र का उल्लेख 'प्रबन्धकोश' में आता है। जैसे सिद्धराज का कोई सीधा उत्तराधिकारी न था वैसे ही कुमारपाल का भी कोई नहीं था। इसलिए सिंहासन किसे देना इसकी सलाह लेने के लिए वृद्ध कुमारपाल वृद्ध हेमचन्द्र से मिलने के लिए उपाश्रय में गया; साथ में वसाह आभड़ नामक जैन-महाजन भी था। हेमचन्द्र ने दौहित्र प्रतापमल्ल को (जिसकी प्रशंसा गण्ड भाव बृहस्पति के शिलालेख में भी आती है) 'धर्म स्थैर्य' के लिए गद्दी देने का परामर्श दिया क्योंकि स्थापित 'धर्म' का अजयपाल से ह्रास सम्भव है। जैन-महाजन वसाह आभड़ ने ऐसी सलाह दी कि 'कुछ भी हो पर अपना ही काम का' इस कहावत के अनुसार अजयपाल को ही राज दिया जाय।[2]

इसके अलावा हेमचन्द्र ने अन्य किसी राजकीय चर्चा में स्पष्टतः भाग लिया हो तो उसका प्रमाण मुझे ज्ञात नहीं।

सिद्धराज को हेमचन्द्र कितने मान्य थे इसका कुमारपाल प्रतिबोध में संक्षेप से ही वर्णन है जब कि कुमारपाल को हेमचन्द्र ने किस तरह जैन बनाया इसके लिए सारा ग्रन्थ ही लिखा गया है। ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक है "प्रभु हेमचन्द्र की असाधारण उपदेश शक्ति की हम स्तुति करते हैं, जिन्होंने अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होकर भी राजा को प्रबोधित किया।"[3]

'प्रभावकचरित' के अनुसार हेमचन्द्र वि० सं० १२२९ (ई० सं० ११७३) में ८४ वर्ष की आयु में दिवंगत हुए।

: ७ :

हेमचन्द्र विरचित ग्रन्थों की समालोचना का यह स्थान नहीं है। प्रत्येक ग्रन्थ के

---

१ अन्यदाभिनवग्रन्थगुम्फाकुलमहाकवौ । पट्टिकापट्टसंघातलिख्यमानपदव्रजे ॥
शब्दव्युत्पत्तयेऽन्योन्यं कृतोहापोहबन्धुरे । पुराणकविसंदृष्टदृष्टान्तीकृतशब्दके ॥
प्रज्ञोल्लासविलासेऽत्र भारतीपितृमन्दिरे । श्रीहेमचन्द्रसूरीणामास्थाने सुस्थकोविदे ॥
प्रभावक चरित पृ० ३१४ श्लो० ९१-९४

२ इस मन्त्रणा का समाचार हेमचन्द्र के एक विरोधी शिष्य बालचन्द्र द्वारा अजयपाल को मिला था। देखो, प्रबन्धकोश पृ० ९८।

३ "स्तुमस्त्रिसन्ध्यं प्रभुहेमसूरेरनन्यतुल्यामुपदेशशक्तिम् । अतीन्द्रियज्ञानविवर्जितोऽपि यः क्षोणिभर्तुर्व्यधित प्रबोधम् ॥"—कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० ४७६।

संक्षिप्त परिचय के लिए भी एक एक लेख की आवश्यकता हो सकती है। शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, अभिधानचिन्तामणि और देशीनाममाला—इन ग्रन्थों में उस उस विषय की उस समय तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का संग्रह हुआ है। ये सब उस उस विषय के आकर ग्रन्थ हैं। ग्रन्थों की रचना देखते हुए हमें जान पड़ता है कि वे ग्रन्थ क्रमशः आगे बढ़नेवाले विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ण करने के प्रयत्न हैं। भाषा और विशदता इन ग्रन्थों का मुख्य लक्षण है। मूल सूत्रों तथा उस पर की स्वोपज्ञ टीका में प्रत्येक व्यक्ति को तद्विषयक सभी ज्ञातव्य विषय मिल सकते हैं। अधिक सूक्ष्मता तथा तफ़सील से गम्भीर अध्ययन के इच्छुक विद्यार्थी के लिए बृहत् टीकाएँ भी उन्होंने रची हैं। इस तरह तर्क, लक्षण और साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने के साधन देकर गुजरात को स्वावलम्बी बनाया, ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी। हेमचन्द्र गुजरात के इस प्रकार विद्याचार्य हुए।

द्व्याश्रय संस्कृत एवं प्राकृत काव्य का उद्देश भी पठनपाठन ही है। इन ग्रन्थों की प्रकृति व्याकरण सिखाना और राजवंश का इतिहास कहना—इन दो उद्देशों की सिद्धि के लिए है। बाह्यरूप क्लिष्ट होने पर भी इन दोनों काव्यों के प्रसंग-वर्णनों में कवित्व स्पष्ट झलकता है। गुजरात के सामाजिक जीवन के गवेषक के लिए द्व्याश्रय का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है।

प्रमाणमीमांसा नामक अपूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ में प्रमाणचर्चा है जिसका विशेष परिचय आगे दिया गया है।

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित तो एक विशाल पुराण है। हेमचन्द्र की विशाल-प्रतिभा को जानने के लिए इस पुराण का अभ्यास आवश्यक है; उसका परिशिष्ट पर्व भारत के प्राचीन इतिहास की गवेषणा में बहुत उपयोगी है।

योगशास्त्र में जैनदर्शन के ध्येय के साथ योग की प्रक्रिया के समन्वय का समर्थ प्रयास है। हेमचन्द्र को योग का स्वानुभव था ऐसा उनके अपने कथन से ही मालूम होता है।

द्वात्रिंशिकाएँ तथा स्तोत्र साहित्यिक-दृष्टि से हेमचन्द्र की उत्तम कृतियाँ हैं। उत्कृष्ट बुद्धि तथा हृदय की भक्ति का उनमें सुभग संयोग है।[1]

भारत भूमि और गुजरात के इतिहास में हेमचन्द्र का स्थान प्रमाणों के आधार से कैसा माना जाय?। भारतवर्ष के संस्कृत-साहित्य के इतिहास में तो ये महापण्डितों की पंक्ति में स्थान पाते हैं; गुजरात के इतिहास में उनका स्थान विद्याचार्य रूप से और राजा-प्रजा के आचार के सुधारक रूप से प्रभाव डालने वाले एक महान् आचार्य का है।[2]

रसिकलाल छो० परिख

---

१ देखो डॉ० आनन्दशंकर ध्रुव की स्याद्वादमञ्जरी की प्रस्तावना पृ० १८ और २४।

२ यह लेख बुद्धिप्रकाश पु० ८६ अंक ४थे में पृ० १७७ पर गुजराती में छपा है। उसीका यह अविकल अनुवाद है –संपादक।

विषयानुक्रमणिका ।

प्रमाणमीमांसा ।

प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	प्रमाणमीमांसाया वृत्तेर्मङ्गलम्	१	१
	वृत्तिविधाने प्रयोजनम्	१	३
	सूत्राणां निर्मूलत्वाशङ्का तन्निरासश्च	१	५
	सूत्राण्येव कथं रचितानि, कथं न प्रकरणम्, इत्याशङ्कायाः समाधानम्	१	११
	पद-सूत्रादिस्वरूपनिर्देशपूर्वकं शास्त्र-परिमाणस्योक्तिः	१	१४
१	अन्वर्थनामसूचनगर्भं शास्त्रकरणस्य प्रतिज्ञावचनम्	१	१७
	अथशब्दस्य अर्थत्रयप्रदर्शनम्	१	१८
	प्रमाणशब्दस्य निरुक्तिः	२	५
	शास्त्रस्योद्देशादिरूपेण त्रिविधप्रवृत्तेः मीमांसाशब्देन सूचनम्	२	६
	मीमांसाशब्दस्य अर्थान्तरकथनेन शास्त्रप्रतिपाद्यविषयाणां सूची	२	१२
२.	प्रमाणस्य लक्षणम्	२	२०
	लक्षणस्य प्रयोजनकथनम्	२	२१
	निर्णयपदस्यार्थः सार्थक्यञ्च	३	१
	अर्थस्य हेयोपादेयोपेक्ष्यतया त्रिविधत्वस्थापनम्	३	३
	अर्थपदस्य सार्थक्यम्	३	८
	सम्यक्पदस्य सार्थक्यम्	३	९
	'स्वनिर्णयोऽपि प्रमाणलक्षणे वाच्यः' इति मतं समर्थयमानेन पूर्वपक्षिणा स्वसंवेदनसिद्धिप्रकारप्रदर्शनम्	३	१४
३.	स्वसंवेदनमनुमोदमानेनापि सिद्धान्तिना स्वनिर्णयस्य अतिव्यापितया लक्षणानङ्गत्वकथनम्	४	१०
	गृहीतग्राहिणां धारावाहिकज्ञानानां व्यावृत्तये प्रमाणलक्षणे 'अपूर्व'पदमुपादेयमित्याशङ्का	४	१५
४.	गृहीतग्राहिणां धारावाहिकज्ञानानां प्रामाण्यसमर्थनेन अपूर्वपदस्यानुपादेयतासूचनम्	४	१९
	द्रव्यापेक्षया पर्यायापेक्षया च ज्ञाने गृहीतग्राहित्वासंभवसमर्थनम्	४	२०
	अवग्रहादीनां गृहीतग्राहित्वेनैव प्रामाण्यसमर्थनम्	४	२४
	गृहीतग्राहित्वेऽपि स्मृतेः प्रामाण्याभ्युपगमप्रदर्शनम्	५	१
	स्मृत्यप्रामाण्ये न गृहीतग्राहित्वं प्रयोजकमित्यत्र जयन्तसंवादः	५	३
५.	संशयस्य लक्षणम्	५	७
६.	अनध्यवसायस्य लक्षणम्	५	१३
७.	विपर्ययलक्षणम्	५	१७
	प्रामाण्यनिश्चयो स्वतः परतो वा न घटते इति पूर्वपक्षः	५	२२
८.	सिद्धान्तिना स्वतः परतो वा प्रामाण्यनिश्चयस्य समर्थनम्	६	१
	अभ्यासदशापन्नप्रत्यक्षेऽनुमाने च स्वतः प्रामाण्यनिश्चयसमर्थनम्	६	२
	अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे परतः निश्चयसमर्थनम्	६	६
	दृष्टादृष्टार्थके शाब्दे परतः प्रामाण्यनिश्चयसमर्थनम्	६	१३
	नैयायिकस्य प्रमाणलक्षणस्य निरासः	६	१६
	भासर्वज्ञोक्तस्य प्रमाणलक्षणस्य निरासः	६	२३
	सौगतस्य प्रमाणलक्षणस्य निरासः	६	२६
९.	प्रमाणस्य द्वेधा विभजनम्	७	७
	अन्यथाविभागवादिनां मतान्युल्लिख्य निरासः	७	१०
	प्रमाणद्वैविध्यं किं सौगतवत् प्रत्यक्षानुमानरूपमुतान्यथा इत्याशङ्का	७	१४
१०.	प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणविभागः	७	१६
	अक्षशब्दस्य अर्थत्रयप्रदर्शनेन प्रत्यक्षद्वैविध्यसूचनम्	७	१७

सू०	विषयः	पं०	पृ०
	परोक्षशब्दस्य निरुक्तिः	७	२०
	सूत्रगतचकारेण सर्वप्रमाणानां सम-कक्षत्वसूचना	७	२१
	'न प्रत्यक्षादन्यत् प्रमाणम्' इति लौकायतिकानामाशङ्का	७	२५
११.	प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिसमर्थनेन शङ्कानिरासः	७	२६
	प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थाधर्मिणा परो-क्षप्रमाणस्य सिद्धिः	७	२८
	परचेतोवृत्त्यधिगमान्यथानुपपत्त्या पुनः तस्यैव सिद्धिः	८	७
	परलोकादिनिषेधान्यथानुपपत्त्यापि तस्यैव सिद्धिः	८	१०
	अर्थाव्यभिचारात् प्रत्यक्षप्रामाण्यवत् परोक्षप्रामाण्यसिद्धिः	८	१३
	परोक्षप्रामाण्यसिद्धौ संवादकतया धर्मकीर्त्युक्तेरुल्लेखः	८	१८
	परोक्षार्थविषयमनुमानमेवेति सौग-तमतस्य निरासः	८	२२
	अभावस्तु निर्विषयत्वात् न प्रमाण-मिति न प्रमाणान्तर्भूत इति निर्देशः	८	२८
	अभावः कथं निर्विषय इत्याशङ्का	८	२९
१२.	अभावस्य निर्विषयत्वसमर्थनेन तत्समाधानम्	८	३०
	वस्तुनो भावाभावोभयात्मकत्वसमर्थ-नेन अभावैकरूपवस्तुनो निरा-करणद्वारा अभावप्रमाणस्य निर्वि-षयत्वाविष्करणम्	८	३१
	प्रत्यक्षपरोक्षयोः भावाभावोभयग्राह-कत्वसमर्थनम्	९	२
	अभावांशोऽभावप्रमाणगोचर इति कुमारिलस्य पूर्वपक्षः	९	६
	अभावो प्रत्यक्षगोचर इति कृत्वा निरासः	९	१७
	अभावस्तुच्छरूपत्वादप्रमाणरूप इति तस्य प्रामाण्याभावस्योपसंहारः	९	२१
१३.	प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	९	२६
१४.	वैशद्यस्य लक्षणे	१०	६
१५.	मुख्यप्रत्यक्षरूपकेवलज्ञानस्य लक्षणम्	१०	१४
	आत्मनः प्रकाशस्वभावत्वसिद्धिः	१०	२१

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	प्रकाशस्वभावत्वेऽप्यात्मनः साव-रणत्वसिद्धिः	१०	२७
	अनादेरपि आवरणस्य सुवर्णमलवत् विलयोपपत्तिसमर्थनम्	११	३
	अमूर्तत्वेऽपि आत्मन आवरणसंभवः	११	६
	आत्मनः कूटस्थनित्यत्वे दूषणम्	११	८
	परिणामिनित्यात्मसमर्थनम्	११	११
	मुख्यप्रत्यक्षस्य तद्वतो वा सिद्धौ प्रत्यक्षादीनामसामर्थ्यात् तदसिद्धि-परा कुमारिलस्याशङ्का	११	१७
१६.	साधकप्रमाणद्वारा केवलज्ञान-समर्थनेनोक्तशङ्कानिरासः	११	२९
	अतिशयत्व-प्रमेयत्व-ज्योतिर्ज्ञानावि-संवादान्यथानुपपत्तिभिर्हेतुभिः केवल-ज्ञानस्य सिद्धिः	१२	१
	चोदना हि त्रैकालिकविषयावग-मिका इति मन्यमानेन शबरस्वा-मिना सर्वज्ञः स्वीकार्य एव इति युक्त्या सर्वज्ञसमर्थनम्	१२	८
	सिद्धसंवादेनागमेन सर्वज्ञसिद्धिः	१२	१५
	प्रत्यक्षेण सर्वज्ञसिद्धिः	१२	२४
	'भवतु यथाकथञ्चिदीश्वरादयः सर्वज्ञाः, मनुष्यस्तु न' इति वदन्तं कुमारिलं प्रत्याचार्यस्य दोषवृष्टिः	१२	२६
	ब्रह्मादीनां रागादिमत्त्वं सर्वज्ञत्वं च कथं स्यादिति विरोधस्य सोपहा-समाविष्करणम्	१३	११
	ब्रह्मादीनां वीतरागत्वे तु विप्रतिपत्त्य-भावकथनम्	१४	१
१७.	बाधकप्रमाणाभावाच्च केवलज्ञानस्य सिद्धिः	१४	८
	प्रत्यक्षस्याबाधकत्वप्रदर्शनम्	१४	१०
	अनुमानस्याबाधकत्वोपदर्शनम्	१४	२१
	आगमस्याप्याबाधकत्वप्रकटनम्	१५	१
१८.	मुख्यप्रत्यक्षत्वेन अवधिमनःपर्याय-योर्निर्देशः	१५	४
	अवधिज्ञानस्य निरूपणम्	१५	७
	मनःपर्यायस्य निरूपणम्	१५	११
१९.	अवधिमनःपर्याययोर्वैलक्षण्यस्य निरूपणम्	१५	१७
	विशुद्धिकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	१८

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	क्षेत्रकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	२१
	स्वामिकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	२३
	विषयकृतभेदस्य निरूपणम्	१५	२७
२०.	**सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य लक्षणम्**	१६	२
	बौद्धसंमतस्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रकारस्य स्वेष्टप्रत्यक्षे समावेशनम्	१६	१२
२१.	**इन्द्रियलक्षणानां तद्भेदानां च निरूपणम्**	१६	१७
	इन्द्रियाणां आत्मसहत्वस्य आत्मलिङ्गत्वस्य च समर्थनम्	१६	१९
	इन्द्रियाणां लिङ्गत्वे तज्जन्यात्मवर्तिज्ञानस्यानुमानिकत्वापत्त्यानवस्थाप्रदर्शनम्	१६	२१
	भावेन्द्रियाणां स्वसंविदितत्वसमर्थनेनानवस्थाभङ्गप्रकटनम्	१६	२४
	इन्द्रियाणां निरुक्त्यन्तरप्रदर्शनम्	१६	२५
	द्रव्यभावेन्द्रिययोः स्वरूपम्	१६	२७
	इन्द्रियस्वामिनां निरूपणम्	१७	५
	इन्द्रियसंख्याविषये सांख्यस्य विप्रतिपत्तिः तन्निरासश्च	१७	१८
	परस्परमिन्द्रियाणां भेदाभेदसिद्धिः	१७	२२
	आत्मन इन्द्रियाणां भेदाभेदसिद्धिः	१८	१
	द्रव्येन्द्रियाणामपि परस्परं स्वारम्भकपुद्गलेभ्यश्च भेदाभेदसमर्थनम्	१८	५
	इन्द्रियविषयाणां स्पर्शादीनामपि भेदाभेदात्मकत्वनिरूपणम्	१८	७
२२.	**द्रव्येन्द्रियस्य लक्षणम्**	१८	११
२३.	**लब्ध्युपयोगतया भावेन्द्रियस्य द्वैविध्यप्रकटनम्**	१८	१९
	लब्ध्युपयोगयोः स्वरूपनिर्देशः	१८	२०
	स्वार्थसंविदि योग्यतात्वेन लब्धीन्द्रियं तत्रैव पुनर्व्यापारात्मकत्वेन उपयोगेन्द्रियं निरूप्य द्वयोरन्तरप्रदर्शनम्	१८	२५
	उपयोगेन्द्रियस्य इन्द्रियत्वाभावाशङ्का तत्समाधानं च	१९	१
२४.	**मनसो लक्षणम्**	१९	८
	मनोद्वैविध्यप्रकटनम्	१९	१७
	अर्थालोकावपि ज्ञाननिमित्तत्वेन वाच्याविति शङ्का	१९	२०
२५.	**अर्थालोकयोर्ज्ञाननिमित्तत्वाभावप्रतिपादनेनोक्तशङ्कानिरासः**	१९	२५
	अर्थालोकयोरभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिसमर्थनम्	१९	२८
	सौगतसंमतस्य ज्ञानार्थयोर्जन्यजनकभावस्य निरासः	२०	६
	सौगतसंमतस्य तदुत्पत्तितदाकारवादस्य निराकरणम्	२०	१७
२६.	**अवग्रहस्य लक्षणम्**	२१	२
	[illegible] [illegible]विकल्पादवग्रहस्य भेदप्रतिपादनम्	२१	१२
२७.	**ईहाया लक्षणम्**	२१	१५
	ईहोहयोर्भेदप्रतिपादनम्	२१	२१
	ईहायाः प्रामाण्यसमर्थनम्	२१	२५
२८.	**अवायस्य लक्षणम्**	२१	२८
२९.	**धारणाया लक्षणम्**	२२	१
	धारणायाः संस्काराभिन्नत्वस्य कालपरिमाणस्य च निरूपणम्	२२	३
	वैशेषिकसंमतस्य संस्कारस्वरूपस्य निरासः	२२	५
	वृद्धाचार्यैर्धारणात्वेनोक्ताया अविच्युतेरपि अवाये स्वेष्टधारणायाञ्च समावेशविधिः	२२	९
	अवग्रहादीनां क्रमस्त्रिदेकत्वप्रतिपादनम्	२२	१७
	नैयायिकसंमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य निरासः	२२	२२
	प्रसङ्गाच्चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धिः	२३	३
	धर्मकीर्त्यभिमतप्रत्यक्षस्य निरासः	२३	८
	मीमांसकाभिमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य निरासः	२३	१६
	वृद्धसांख्याचार्येश्वरकृष्णस्य च प्रत्यक्षलक्षणस्य खण्डनम्	२४	१३
३०.	**प्रमाणविषयस्य लक्षणम्**	२४	२६
	लक्षणगतानां पदानां व्यावृत्तिप्रदर्शनम्	२५	५
३१.	**अर्थक्रियासमर्थत्वात् द्रव्यपर्यायात्मकस्य वस्तुनो विषयत्वेनावधारणम्**	२५	१२
३२.	**वस्तुनोऽर्थक्रियासामर्थ्यरूपात्मकस्य व्यवस्थापनम्**	२५	१६
	निरेकरूपद्रव्यात्मकवस्तुनः क्रमयौग-		

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	पद्याभ्यामर्थक्रियाकरणाभावसमर्थनेन सत्त्वाभावप्रतिपादनम्	२५	२४
	अनित्यैकरूपपर्यायात्मकवस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणाभावसमर्थनेन सत्त्वाभावप्रतिपादनम्	२६	२०
	काणादाभिमतस्य परस्परात्यन्तभिन्नद्रव्यपर्यायवादस्य निरासः	२७	१४
	जैनाभिमते द्रव्यपर्यायोर्कथञ्चिद्भेदाभेदवादे विरोधादिदूषणानि तन्निरासश्च	२८	१
	वस्तुनः द्रव्यपर्यायात्मकत्वपक्षेपि अर्थक्रियाकरणाभावाशङ्कोपन्यासः	२८	२४
३३.	द्रव्यपर्यायात्मकवस्तुनः अर्थक्रियासामर्थ्यप्रतिपादनेन उक्ताशङ्काया निरासः	२९	५
३४.	अर्थप्रकाशस्य प्रमाणव्यवहितफलत्वेन प्रतिपादनम्	२९	१७
३५–३७.	एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदेपि ज्ञानस्य कर्तृस्थव्यापारत्वेन कर्मोन्मुखव्यापारत्वेन च व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावं प्रदर्श्य तयोर्भेदव्यवस्थापनम्	२९	२६
३८.	अव्यवहितस्याज्ञाननिवृत्तिरूपफलान्तरस्य निरूपणम्	३०	१२
३९.	व्यवहितफलप्रदर्शनव्याजेन ईहादीनां क्रमोपजनधर्माणां प्रमाणफलोभयत्वसमर्थनम्	३०	१८
४०.	हानादिबुद्धीनामपि प्रमाणफलत्वेन निर्देशः	३१	४
४१.	मतान्तरनिरासपूर्वकं प्रमाणफलयोः भेदाभेदसमर्थनम्	३१	८
४२.	प्रमातृलक्षणम्	३१	२१
	प्रमातुः स्वपराभासित्वसमर्थनम्	३१	२२
	प्रमातुर्परिणामित्वसमर्थनम्	३२	१

द्वितीयमाह्निकम् ।

१.	परोक्षस्य लक्षणम्	३३	३
२.	परोक्षविभागस्य निरूपणम्	३३	७
	स्मृत्यादीनां परोक्षत्वप्रकटनम्	३३	१०
३.	स्मृतेर्लक्षणम्	३३	१६
	स्मृतेर्प्रामाण्यप्रतिपादनम्	३३	२३
४.	प्रत्यभिज्ञानस्य लक्षणम्	३४	११
	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञायां समावेशः	३५	५
	प्रत्यभिज्ञानं स्मृत्यनुभवरूपज्ञानद्वयात्मकत्वेन मन्वानस्य सौगतस्य निराकरणम्	३५	१६
	प्रत्यभिज्ञानं न प्रत्यक्षादन्यत् इति नैयायिकमतस्य निराकरणम्	३५	२५
	प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यप्रतिपादनम्	३६	१३
५.	ऊहस्य लक्षणम्	३६	२०
	व्याप्तिग्रहे प्रत्यक्षानुमानयोरसामर्थ्यप्रकटनेन ऊहस्य तत्सामर्थ्यसमर्थनम्	३६	२४
	बौद्धसंमतप्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पे व्याप्तिग्रहणसामर्थ्यस्य निषेधः	३७	७
	वैशेषिकसंमतस्य ऊहापोहविकल्पे व्याप्तिग्रहणसामर्थ्यस्य निषेधः	३७	१५
	यौगाभिमतस्य तर्कसहकृतप्रत्यक्षे व्याप्तिग्रहसामर्थ्यस्य निरासः	३७	२०
६.	व्याप्तेर्निरूपणम्	३८	३
	व्याप्तेर्व्यापकधर्मतया निरूपणम्	३८	५
	व्याप्तेर्व्याप्यधर्मत्वेन प्रतिपादनम्	३८	११
	व्याप्तेरुक्तोभयधर्मप्रतिपादनस्य फलप्रदर्शनम्	३८	१६
७.	अनुमानस्य लक्षणम्	३८	२२
८.	स्वार्थपरार्थभेदादनुमानस्य विभागः	३९	४
९.	स्वार्थानुमानस्य लक्षणम्	३९	८
	साधनस्य लक्षणम्	३९	१०
	सौगतेन हेतोस्त्रैलक्षण्यसमर्थनम्	३९	१६
	सिद्धान्तिना त्रैलक्षण्यस्य निरासः	४०	११
	नैयायिकाभिमतस्य हेतोः पञ्चलक्षणकत्वस्यापि निराकरणम्	४१	१
१०.	अविनाभावस्य लक्षणम्	४१	१२
	प्रत्यक्षानुमानयोरविनाभावनिश्चये		

सू०	विषयः	पृ०	पं०
	सामर्थ्याभावं प्रदर्श्य कुतः प्रमाणात् तन्निश्चय इत्याशङ्का	४१	१७
११.	ऊहाप्रमाणात् अविनाभावनिश्चयस्य प्रतिपादनेन उक्ताशङ्कायाः समाधानम्	४१	२४
१२.	स्वभावादिभेदेन लिङ्गस्य विभजनम्	४२	१
	स्वभावलिङ्गस्य निरूपणम्	४२	४
	असाधारणधर्मे साधनत्वाभावं मन्यानस्य सौगतस्य निराकरणम्	४२	५
	कारणस्य लिङ्गत्वसमर्थनम्	४२	२२
	लिङ्गत्वेन संमतस्य कारणस्वरूपस्य निर्देशः	४३	१०
	कार्यलिङ्गस्य निरूपणम्	४३	१८
	प्राणादिरूपस्यासाधारणकार्यस्य लिङ्गत्वसमर्थनम्	४४	८
	व्यतिरेकस्यैव हेतुनियामकरूपत्वेन निर्णयः	४४	११
	एकार्थसमवायिलिङ्गस्य प्रतिपादनम्	४४	२२
	स्वभावादीनां विधिसाधनत्वनिर्देशः	४५	९
	सूत्रस्थचकारेण स्वभावाद्यनुपलब्धेर्निषेधसाधकत्वस्थापनम्	४५	११
	विरोधिलिङ्गस्य प्रतिपादनम्	४५	१६
१३.	साध्यस्य लक्षणम्	४५	२०
	सूत्रस्थसिषाधयिषितपदस्य व्यावृत्तिप्रदर्शनम्	४४	२१
	असिद्धपदस्य व्यावृत्तिनिर्देशः	४५	२६
	अबाध्यपदस्य फलम्	४५	२९
१४.	साधाया विधाप्रदर्शनम्	४६	२
१५.	धर्मस्य धर्मिणश्च साध्यत्वसमर्थनम्	४६	१२
१६.	धर्मिणः प्रमाणसिद्धत्वप्रदर्शनम्	४६	१८
	धर्मी बुद्ध्यारूढ एवेति सौगतमतस्य प्रतिक्षेपः	४६	२०
१७.	धर्मिणो बुद्धिसिद्धत्वस्यापि समर्थनम्	४७	२
	बुद्धिसिद्धे धर्मिणि सौगतस्याशङ्का तन्निरासश्च	४७	७
	उभयसिद्धस्यापि धर्मिणः प्रदर्शनम्	४७	१९
१८.	दृष्टान्तस्यानुमानाङ्गत्वनिरासः	४७	२४
१९.	दृष्टान्तस्यानुमानानङ्गत्वे हेतूपन्यासः	४७	२७
	दृष्टान्ते अनुमानाङ्गत्वस्य विकल्प्य दूषणम्	४८	१
२०.	दृष्टान्तस्य लक्षणम्	४८	९
	अनुमानाङ्गत्वाभावेऽपि लक्षणप्रणयनस्य प्रयोजनम्	४८	१२
२१.	दृष्टान्तस्य साधर्म्यवैधर्म्यतया विभागवचनम्	४८	१८
२२.	साधर्म्यदृष्टान्तस्य लक्षणम्	४८	२२
२३.	वैधर्म्यदृष्टान्तस्य लक्षणम्	४९	२६

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

१.	परार्थानुमानस्य लक्षणम्	४९	२
२.	वचनेऽनुमानव्यवहारस्योपचारेण स्थीकरणम्	४९	७
३.	वचनात्मकपरार्थानुमानस्य द्वैविध्यप्रकटनम्	४९	२०
४.	तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां परार्थानुमानस्य प्रयोगभेदप्रदर्शनम्	४९	२३
५.	प्रयोगभेदेऽपि तात्पर्याभेदस्य प्रकटनम्	५०	६
६.	तात्पर्याभेदे द्वयोर्युगपत् प्रयोगस्य वैकल्यप्रदर्शनम्	५०	१५
७.	प्रतिज्ञायाः प्रयोजनम्	५०	२४
	प्रतिज्ञाप्रयोगस्य समर्थनम्	५१	१
	प्रतिज्ञार्थस्य अर्थादापन्नत्वात् प्रतिज्ञायाः प्रयोगे पौनरुक्त्यमिति सौगतस्याशङ्का	५१	१६
८.	पक्षधर्मोपसंहारवचनवत् प्रतिज्ञावचनसार्थक्यसमर्थनेन उक्ताशङ्काया निराकरणम्	५१	२१
	अनुमानप्रयोगे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्	५२	४
९.	स्वामिमतपक्षप्रयोगप्रदर्शनेन विप्रतिपत्तिनिरासः	५२	८

सू०	विषयः	पृ०	पं०
१०.	बोध्यमपेक्ष्य प्रयोगप्रदर्शनम्	५२	१६
११.	प्रतिज्ञायाः लक्षणम्	५२	२४
१२.	हेतोर्लक्षणम्	५२	२९
१३.	उदाहरणस्य लक्षणम्	५३	६
१४.	उपनयस्य लक्षणम्	५३	१३
१५.	निगमनस्य लक्षणम्	५३	१७
	अवयवपञ्चकशुद्धिं प्रदर्श्य दशावयवप्रयोगप्रकटनम्	५३	२०
१६.	हेत्वाभासस्य विभागवचनम्	५४	३
	हेत्वाभासशब्दप्रयोगस्य औपचारिकत्वप्रकटनम्	५४	४
	हेत्वाभासस्य संख्यान्तरनिराकरणम्	५४	७
१७.	असिद्धहेत्वाभासस्य निरूपणम्	५४	१६
	स्वरूपासिद्धस्य निरूपणे सौगतस्याशङ्का तन्निरासश्च	५४	१८
	सन्दिग्धासिद्धस्य प्ररूपणम्	५४	२५
१८.	वाद्यादिभेदेन असिद्धभेदस्य विधानम्	५५	४
१९.	विशेष्यासिद्धादीनां स्वोक्तभेदेष्वन्तर्भाववचनम्	५५	१४
२०.	विरुद्धहेत्वाभासस्य लक्षणम्	५५	२७
	अन्याभिमतविरुद्धभेदानां संग्रहः	५६	६
२१.	अनैकान्तिकस्य निरूपणम्	५६	१७
	अन्याभिमतानैकान्तिकभेदानां स्वोक्तानैकान्तिकेऽन्तर्भावः	५६	२१
२२.	दृष्टान्ताभासानां संख्यावचनम्	५७	९
२३.	साध्यसाधनोभयविकलतया साधर्म्यदृष्टान्ताभासानां निरूपणम्	५७	१४
२४.	साध्यसाधनोभयाव्यावृत्तत्वेन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासानां प्ररूपणम्	५७	२०
२५.	सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेकाणां दृष्टान्ताभासानां प्रतिपादनम्	५८	२
२६.	विपरीतान्वयव्यतिरेकयोर्दृष्टान्ताभासयोर्निरूपणम्	५८	१६
२७.	अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकयोर्दृष्टान्ताभासयोः प्रतिपादनम्	५८	२५
	सर्वदृष्टान्ताभासानां अनन्वयाव्यतिरेकाभिन्नत्वेन तन्निरूपणे तयोः पृथग्वचनानर्थक्यसमर्थनम्	५९	७
२८.	दूषणस्य लक्षणम्	५९	१५
२९.	दूषणाभासस्य लक्षणम्	५९	२०
	दूषणाभासत्वेन संमतानां चतुर्विंशतेर्जात्युत्तरप्रयोगाणां क्रमशो विस्तरतः प्रदर्शनम्	६०	१
	जात्युत्तरप्रयोगस्य प्रतिसमाधानप्रदर्शनम्	६२	१६
	दूषणाभासत्वेन संमतानां छलानां निरूपणम्	६२	२२
३०.	वादस्य लक्षणम्	६३	६
	तत्त्वरक्षणं जल्पवितण्डयोर्प्रयोजनमिति नैयायिकमतमाशङ्क्य तन्निराकरणम्	६३	२१
	जल्पवितण्डयोर्कथान्तरत्वाभावसमर्थनेन वादात्मकैकैव कथेति स्वेष्टसमर्थनम्	६३	३०
३१.	जयस्य लक्षणम्	६४	२६
३२.	पराजयस्य लक्षणम्	६५	३
३३.	निग्रहस्य निरूपणम्	६५	८
३४.	नैयायिकसंमतस्य विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रस्य पराजयहेतुत्वस्य निराकरणम्	६५	१३
	नैयायिकसंमतानां द्वाविंशतिभेदभिन्नानां निग्रहस्थानानां क्रमशो निरूपणम्, परीक्षा च	६५	२०
३५.	सौगतसंमतस्य असाधनाङ्गवचनादोषोद्भावनयोर्निग्रहहेतुत्वस्य परीक्ष्य निराकरणम्	७२	१०
	असाधनाङ्गवचनमित्यस्य त्रिरूपलिङ्गावचनमित्यादिप्रथमव्याख्यानस्य खण्डनम्	७२	१६
	असाधनाङ्गमित्यस्य साधर्म्येण हेतोर्वचनमित्यादिरूपव्याख्यानान्तरस्य निषेधः	७३	१४
	अदोषोद्भावनमित्यस्य प्रसज्यप्रतिषेध इत्यादिव्याख्यानस्य निषेधः	७४	१८
	पत्रवाक्यस्य लक्षणकरणप्रतिज्ञा	७४	२७

भाषाटिप्पणानि ।

प्रथमाध्याय का प्रथमाह्निक ।

नं०		पृ०	पं०
१	पाणिनि, पिङ्गल, कणाद और अक्षपाद के ग्रन्थों का निर्देश	१	६
२	वाचकमुख्य उमास्वाति का परिचय	१	६
३	दिगम्बराचार्य अकलङ्क के ग्रन्थों का निर्देश	१	११
४	धर्मकीर्ति के कुछ ग्रन्थों का निर्देश	१	१४
५	प्रथम सूत्र की शब्द रचना के आधार का ऐतिहासिक दिग्दर्शन	१	२१
६	भाष्य में हेमचन्द्र ने 'अथ' के जो तीन अर्थ किये हैं उनके मूल का ऐतिहासिक अवलोकन	२	११
७	जैनपरंपराप्रसिद्ध पांच परमेष्ठिओं का निर्देश	३	६
८	हेमचन्द्राचार्य कृत प्रमाणनिर्वचन के मूल का निर्देश	३	११
९	शास्त्र-प्रवृत्ति के दो, तीन, और चार प्रकारों के विवाद का रहस्य । हेमचन्द्र द्वारा इस विषय में किये गए नैयायिकों के अनुकरण का निर्देश	३	१७
१०	मीमांसा शब्द के विशिष्ट अर्थ का आधार क्या है ? और उससे आचार्य को क्या अभिप्रेत है उसका निदर्शन	४	२१
११	कणादकृत कारणशुद्धिमूलक प्रमाण-सामान्य लक्षण और उसमें नैयायिक-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध द्वारा किए गए उत्तरोत्तर विकास का तुलनात्मक ऐतिहासिक दिग्दर्शन । जैनाचार्यों के प्रमाण लक्षणों की विभिन्न शब्द रचना के आधार का ऐतिहासिक अवलोकन । जैन परंपरा में हेमचन्द्र के संशोधन का अवलोकन	५	१
१२	लक्षण के प्रयोजन के विषय में दार्शनिकों की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन	८	६
१३	सूत्र १. १. २ की व्याख्या के आधार की सूचना	८	१६
१४	अर्थ के प्रकारों के विषय में दार्शनिकों के मतभेद का दिग्दर्शन	९	५
१५	स्वप्रकाश के स्थापन में प्रयुक्त युक्तिओं के आधार का निर्देश	१०	२५
१६	प्रमाण लक्षण में स्वपद क्यों नहीं रखा उसका आचार्यकृत खुलासा	११	८
१७	दर्शनशास्त्र में जब धर्मकीर्ति ने धारा-वाहि के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा दाखिल की तब उसके विषय में सभी दार्शनिकों ने जो मन्तव्य प्रगट किया है उसका रहस्योद्घाटन	११	१७
१८	सूत्र १. १. ४ की रचना के उद्देश्य और वैशिष्ट्य का सूचन	१४	५
१९	सूत्र १. १. ४ और उसकी वृत्ति की विशिष्टता तत्त्वोपप्लव के आचार्यकृत अवलोकन से फलित होने की संभावना	१४	१५
२०	संशय के विभिन्न लक्षणों की तुलना	१४	२२
२१	प्रशस्तपाद कृत अनध्यवसाय के स्वरूप का निर्देश	१५	८
२२	हेमचन्द्र कृत विपर्यय के लक्षण की तुलना	१५	२१
२३	प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतः परतः की चर्चा के प्रारंभ का इतिहास और इस विषय में दार्शनिकों के मन्तव्य का दिग्दर्शन	१६	१८
२४	परोक्षार्थक आगम के प्रामाण्य के समर्थन में अक्षपाद की तरह मन्त्रायुर्वेद को दृष्टान्त न करके आचार्य हेमचन्द्र ने ज्योतिष शास्त्र का दृष्टान्त दिया है उसका ऐतिहासिक दृष्टि से रहस्योद्घाटन	१८	१२
२५	आचार्य द्वारा बौद्ध-नैयायिकों के प्रमाण लक्षण का निरास	१९	४
२६	जैन परंपरा में पाई जानेवाली आगमिक और तार्किक ज्ञान-चर्चा का ऐतिहासिक दृष्टि से विस्तृत अवलोकन	१९	२९
२७	वैशेषिक संमत प्रमाणद्वित्ववाद और प्रमाणत्रित्ववाद का निर्देश	२३	८
२८	प्रत्यक्षवटक अक्षशब्द के अर्थों में		

नं०		पृ०	पं०
	दार्शनिकों के मतभेद का दिग्दर्शन	२३	२४
२९	भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रमाण को ज्येष्ठ मानने की परंपराओं का वर्णन	२४	१३
३०	सूत्र १. १. ११ की आधारभूत कारिका की सूचना और उसकी व्याख्या की न्यायावतार वृत्ति के साथ तुलना	२५	३
३१	अभावप्रमाणवाद के पक्षकार और प्रतिपक्षियों का निर्देश । सूत्र १. १. १२ की व्याख्या की न्यायावतार वृत्ति के साथ तुलना	२६	१
३२	प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में भिन्न २ परंपराओं का वर्णन	२६	११
३३	सर्वज्ञवाद और धर्मज्ञवाद का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन । सर्वज्ञ के विषय में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन । सर्वज्ञ और धर्मज्ञ की चर्चा में मीमांसक और बौद्धों के द्वारा दी गई मनोरंजक दलीलों का वर्णन	२७	१२
३४	पुनर्जन्म और मोक्ष माननेवाले दार्शनिकों के सामने आनेवाले समान प्रश्नों का तथा उनके समान मन्तव्यों का परिगणन	३४	१०
३५	समानभाव से सभी दार्शनिकों में पाये जानेवाले साम्प्रदायिक दोष का निदर्शन	३६	१६
३६	सूत्र १. १. १७ को ठीक २ समझने के लिये तत्त्वसंग्रह देखने की सूचना	३६	२०
३७	वक्तृत्व आदि हेतुओं की सर्वज्ञत्व विषयक असाधकता को प्रगट करनेवाले आचार्यों का निर्देश	३७	१
३८	मनःपर्यायज्ञान के विषय में दो परंपराओं के स्वरूप संबंधी मतभेद का वर्णन	३७	७
३९	इन्द्रिय पद की निरुक्ति, इन्द्रियों का कारण, उनकी संख्या, उनके विषय, उनके आकार, उनका पारस्परिक भेदाभेद, उनके प्रकार तथा उनके स्वामी इत्यादि इन्द्रिय निरूपण विषयक दार्शनिकों के मन्तव्यों का तुलनात्मक दिग्दर्शन	३८	२१
४०	मनके स्वरूप, कारण, कार्य, धर्म और स्थान आदि अनेक विषयों में दार्शनिकों के मतभेदों का संक्षिप्त वर्णन	४२	१४
४१	आचार्यवर्णित चार प्रत्ययों के मूल स्थान का निर्देश	४३	२८
४२	अर्थालोककारणतावाद नैयायिक-बौद्ध उभय मान्य होने पर भी उसे बौद्ध सम्मत ही समझ कर जैनाचार्यों ने जो खण्डन किया है उसका खुलासा	४४	१२
४३	तदुत्पत्ति-तदाकारता का सिद्धान्त सौत्रान्तिक सम्मत होने की तथा योगाचार बौद्धों के द्वारा उसके खण्डन की सूचना	४४	२६
४४	ज्ञानोत्पत्ति के क्रम का दार्शनिकों के द्वारा भिन्न भिन्न रूप से किये गए वर्णन का तुलनात्मक निरूपण	४५	१६
४५	अनध्यवसाय, मानसज्ञान और अवग्रह के परस्पर भिन्न होने की आचार्यकृत सूचना का निर्देश । प्रतिसंख्यानिरोध का स्वरूप	४६	६
४६	अवाय और अपाय शब्द के प्रयोग की भिन्न २ परंपरा का और अकलंक कृत समन्वय का वर्णन	४६	१४
४७	धारणा के अर्थ के विषय में जैनाचार्यों के मतभेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्णन	४७	५
४८	हेमचन्द्र ने स्वमतानुसार प्रत्यक्ष का लक्षण स्थिर करके परपरिकल्पित लक्षणों का निरास करने में जिस प्रथा का अनुकरण किया है उसके इतिहास पर दृष्टिपात	४८	१४
४९	अक्षपादीय प्रत्यक्षसूत्र की वाचस्पति की व्याख्या पर 'पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन' इस शब्द से आचार्य ने जो आक्षेप किया है और जो असंगत दिखता है उसकी संगति दिखाने का प्रयत्न	४९	७
५०	इन्द्रियों के प्राप्याप्राप्यकारित्व के विषय में दार्शनिकों के मतभेदों की सूची	४९	२३
५१	प्रत्यक्षलक्षण विषयक दो बौद्ध परंपराओं का निर्देश और उन दोनों के लक्षणों के निरास करने वाले कुछ		

नं०		पृ०	पं०
	आचार्यों का निर्देश	५०	१०
५२	कल्पना शब्द की अनेक अर्थों में प्रसिद्धि होने की सूचना	५१	८
५३	जैमिनी के प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या के विषय में मीमांसकों के मतभेदों का निर्देश और उस सूत्र का खण्डन करने वाले दार्शनिकों का निर्देश	५१	२०
५४	सांख्यदर्शनप्रसिद्ध प्रत्यक्षलक्षण के तीन प्रकारों का निर्देश और उनके कुछ खण्डन करनेवालों की सूचना	५२	१६
५५	प्रमाण की विषयभूत वस्तु के स्वरूप तथा वस्तुस्वरूपनिश्चायक कसौटिओं के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन। बौद्धों की अर्थक्रियाकारित्वरूप कसौटी का अपने पक्ष की सिद्धि में आचार्य द्वारा किये गये उपयोग का निर्देश	५३	६
५६	व्याकरण, जैन तथा जैनेतर दार्शनिक साहित्य में द्रव्य शब्द की भिन्न भिन्न अर्थों में प्रसिद्धि का ऐतिहासिक सिंहावलोकन। जैनपरंपराप्रसिद्ध गुण-पर्याय के भेदाभेदवाद का संक्षिप्त इतिहास और गुण-पर्याय तथा द्रव्य के भेदाभेदवाद के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन	५४	१७
५७	केवल नित्यत्व आदि भिन्न २ वादों के समर्थन में सभी दार्शनिकों के द्वारा प्रयुक्त बंध-मोक्ष की व्यवस्था आदि समान युक्तियों का ऐतिहासिक दिग्दर्शन	५७	२१
५८	सन्तान का वर्णन और उसका खण्डन करने वालों का निर्देश	६०	२०
५९	अनेकान्तवाद के इतिहास पर दृष्टिपात	६१	५
६०	अनेकान्तवाद पर दिये जाने वाले दोषों की संख्या विषयक भिन्न भिन्न परंपराओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन	६५	८
६१	फल के स्वरूप और प्रमाण-फल के भेदाभेदवाद के विषय में वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरा के मन्तव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक वर्णन	६६	७
६२	आत्मा के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का संक्षिप्त वर्णन	७०	८

द्वितीयाह्निक ।

नं०		पृष्ठ	पं०
६३	भिन्न भिन्न दार्शनिकों के द्वारा रचित स्मरण के लक्षणों के भिन्न भिन्न आधारों का दिग्दर्शन	७२	२
६४	अधिक से अधिक संस्कारोद्बोधक निमित्तों के संग्राहक न्यायसूत्र का निर्देश	७२	१६
६५	स्मृति ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में दार्शनिकों की युक्तियों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक दिग्दर्शन	७२	२१
६६	'नाकारणं विषयः' इस विषय में सौत्रान्तिक और नैयायिकों के मन्तव्य की तुलना	७४	२४
६७	प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप और प्रामाण्य के बारे में दार्शनिकों के मतभेद का तुलनात्मक दिग्दर्शन	७५	३
६८	ऊह और तर्क शब्दों का निर्देश तथा उसके स्वरूप और प्रामाण्य के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों की तुलना	७६	२५
६९	हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत अर्चटोक्त व्याप्ति का रहस्योद्घाटन	७८	२५
७०	अनुमान और प्रत्यक्ष के स्वार्थ-परार्थरूप दो भेदों के विषय में दार्शनिकों का मन्तव्य	८०	१६
७१	हेतु के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न परंपराओं का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विचार	८०	१०
७२	हेतु के प्रकारोंके बारे में जैनाचार्यों के मन्तव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन	८३	२३
७३	कारणलिङ्गक अनुमान के विषय में धर्मकीर्ति के साथ अपना मतभेद होने पर भी हेमचन्द्र ने उनके लिये 'सूक्ष्म-		

नं०		पृ०	पं०
	दर्शिन्' विशेषण का प्रयोग किया है इससे धर्मकीर्ति के ऊपर उनके आदर की सूचना	८५	२६
७४	'प्राणादिमत्त्वात्' इस हेतु की सत्यता के बारे में इतर दार्शनिकों के साथ बौद्धों के मतभेद का दिग्दर्शन	८६	१
७५	हेतु के नियामक रूप के बारे में धर्मकीर्ति का जो मत हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है उसकी निर्मूलता के बारे में शंका और समाधान। अन्वय और व्यतिरेकविषयक जैन-बौद्ध मन्तव्यों का समन्वय	८६	१२
७६	पक्ष का लक्षण, लक्षणगत पदों का फल, पक्ष के आकार और प्रकार इन बातों में दार्शनिकों के मन्तव्यों का ऐतिहासिक अवलोकन	८७	२६
७७	दृष्टान्त के लक्षण और उपयोग के बारे में नैयायिक और जैन-बौद्ध मन्तव्यों का दिग्दर्शन	९०	१५

द्वितीयाध्याय का प्रथमाह्निक ।

नं०		पृ०	पं०
७८	वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरागत परार्थानुमान की चर्चा का इतिहास	९२	१
७९	परार्थानुमान के प्रयोग प्रकारों के बारे में वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरा के मन्तव्यों की तुलना	९२	२०
८०	परार्थानुमान में पक्ष प्रयोग करने न करने के मतभेद का दिग्दर्शन। हेमचन्द्र द्वारा अपने मन्तव्य की पुष्टि में वाचस्पति का अनुकरण	९३	१७
८१	परार्थानुमान स्थल में प्रयोग परिपाटी के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन	९४	१४
८२	अनुमान के शब्दात्मक पांच अवयवों के वर्णन में हेमचन्द्र कृत अक्षपाद के अनुकरण की सूचना	९६	९
८३	हेत्वाभास के विभाग के बारे में दार्शनिकों की विप्रतिपत्ति का ऐतिहासिक अवलोकन	९६	१४
८४	दार्शनिकों के असिद्धविषयक मन्तव्य का तुलनात्मक वर्णन	९८	१९
८५	दार्शनिकों के विरुद्धविषयक मन्तव्य का तुलनात्मक दिग्दर्शन	९९	१५
८६	अनैकान्तिक के बारे में दार्शनिकों के मतभेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन	१००	१४
८७	दृष्टान्ताभास के निरूपण का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक अवलोकन	१०२	२६
८८	दूषण-दूषणाभास का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन	१०८	१५
८९	वादकथा का इतिहास	११५	२८
९०	निग्रह-स्थान तथा जय-पराजय व्यवस्था का तुलनात्मक वर्णन	११९	१४

शुद्धि पत्रक ।

नं०		पृ०	पं०
९१	निर्विकल्प के बारे में दार्शनिकों के मन्तव्य की तुलना	१२५	१
९२	ज्ञान की स्वप्रकाशकता के विषय में दार्शनिकों के मन्तव्य	१३०	७
९३	प्रत्यक्ष विषयक दार्शनिकों के मन्तव्य	१३२	७
९४	प्रतिसंख्यान	१३५	३०
९५	हेमचन्द्र की प्रमाण-फल व्यवस्था में उनका वैयाकरणत्व	१३६	१
९६	आत्मप्रत्यक्ष का विचार	१३६	११
९७	अनुमानप्रमाण का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन	१३८	१
९८	दिङ्नाग का हेतुचक्र	१४१	१४

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

स्वोपज्ञवृत्तिसहिता

॥ प्र मा ण मी मां सा ॥

अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दमयात्मने ।
नमोऽर्हते कृपाक्लृप्तधर्मतीर्थाय तायिने ॥ १ ॥
बोधिबीजमुपस्कर्तुं तत्त्वाभ्यासेन धीमताम् ।
जैनसिद्धान्तसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥ २ ॥

§ १. ननु यदि भवदीयानीमानि जैनसिद्धान्तसूत्राणि तर्हि भवतः पूर्वं कानि किमीयानि वा तान्यासञ्जिति ? अत्यल्पमिदमन्वयुङ्क्थाः । पाणिनि-पिङ्गल-कणादा-ऽक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणीत्येतदपि पर्यनुयुङ्क्ष्व ! अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते । किं नाश्रौषीः 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति ? यदि वा प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्रचूडामणिभूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति ।

§ २. यद्येवम्—अकलङ्क-धर्मकीर्त्यादिवत् प्रकरणमेव किं नारभ्यते, किमनया सूत्रकारत्वाहोपुरुषिकया ? मैवं वोचः; भिन्नरुचिर्ह्ययं जनः ततो नास्य स्वेच्छाप्रतिबन्धे लौकिकं राजकीयं वा शासनमस्तीति यत्किञ्चिदेतत् ।

§ ३. तत्र वर्णसमूहात्मकैः पदैः, पदसमूहात्मकैः सूत्रैः, सूत्रसमूहात्मकैः प्रकरणैः, प्रकरणसमूहात्मकैः आह्निकैः, आह्निकसमूहात्मकैः पञ्चभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः । तस्य च प्रेक्षावत्प्रवृत्यङ्गमभिधेयमभिधातुमिदमादिसूत्रम्—

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥

§ ४. अथ-इत्यस्य अधिकारार्थत्वाच्छास्त्रेणाधिक्रियमाणस्य प्रस्तूयमानस्य प्रमाणस्याभिधानात् सकलशास्त्रतात्पर्यव्याख्यानेनैं प्रेक्षावन्तो बोधिताः प्रवर्तिताश्च भवन्ति । आनन्तर्यार्थो वा अथ-शब्दः, शब्द-काव्य-छन्दोनुशासनेभ्योऽनन्तरं प्रमाणं मीमांस्यत

---

१ तत्त्वश्रद्धानं सामान्यज्ञानं वा दर्शनम् । २ ०रचित० । ३ प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिर्बोधिस्तस्य बीजं सम्यक्त्वम् । ४ कस्य सत्कानि ? ५ वृथाभिनिवेशेन । ६ —०व्याख्याने प्रेक्षा०-ता० ।

इत्यर्थः । अनेन शब्दानुशासनादिभिरस्यैककर्तृकत्वमाह । अधिकारार्थस्य च अथ-शब्दस्यान्यार्थनीयमानकुसुमदामजलकुम्भादेर्दर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायापि कल्पत इति । मङ्गले च सति परिपन्थिविघ्नविघातात् अक्षेपेण शास्त्रसिद्धिः, आयुष्मच्छ्रोतृकता च भवति । परमेष्ठिनमस्कारादिकं तु मङ्गलं कृतमपि न निवेशितं लाघवार्थिना सूत्रकारेणेति ।

§ ५. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्, तस्य मीमांसा–उद्देशादिरूपेण पर्यालोचनम् । त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं परीक्षा च । तत्र नामधेयमात्रकीर्तनमुद्देशः, यथा इदमेव सूत्रम् । उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनं लक्षणम् । तद् द्वेधा सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च । सामान्यलक्षणमनन्तरमेव सूत्रम् । विशेषलक्षणम् "**विशदः प्रत्यक्षम्**" [१.१.१३] इति । विभागस्तु विशेषलक्षणस्यैवाङ्गमिति न पृथगुच्यते । लक्षितस्य 'इदमित्थं भवति नेत्थम्' इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा, यथा तृतीयं सूत्रम् ।

§ ६. पूजितविचारवचनश्च मीमांसा-शब्दः । तेन न प्रमाणमात्रस्यैव विचारोऽत्राधिकृतः, किन्तु तदेकदेशभूतानां दुर्नयनिराकरणद्वारेण परिशोधितमार्गाणां नयानामपि–"**प्रमाणनयैरधिगमः**"[11] [तत्त्वा० १.६.] इति हि वाचकमुख्यः, सकलपुरुषार्थेषु मूर्द्धाभिषिक्तस्य सोपायस्य[12] सप्रतिपक्षस्य[13] मोक्षस्य च । एवं हि पूजितो विचारो भवति । प्रमाणमात्रविचारस्तु प्रतिपक्षनिराकरणपर्यवसायी वाक्कलहमात्रं स्यात् । तद्विवक्षायां तु "**अथ प्रमाणपरीक्षा**" [प्रमाणपरी० पृ० १] इत्येव[14] क्रियेत । तत् स्थितमेतत्–प्रमाणनयपरिशोधितप्रमेयमार्गं सोपायं सप्रतिपक्षं मोक्षं विवक्षितुं मीमांसाग्रहणमकार्याचार्येणेति ॥ १ ॥

§ ७. तत्र प्रमाणसामान्यलक्षणमाह–

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥ २ ॥

§ ८. प्रमाणम्-इति लक्ष्यनिर्देशः, शेषं लक्षणम्, प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धस्य विधानं लक्षणार्थः । तत्र यत्तदविवादेन प्रमाणमिति धर्मि प्रसिद्धं तस्य सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वं धर्मो विधीयते । अत्र प्रमाणत्वादिति हेतुः । न च धर्मिणो हेतुत्वमनुपपन्नम्; भवति हि विशेषे[16] धर्मिणि तत्सामान्यं हेतुः, यथा अयं धूमः साग्निः, धूमत्वात्, पूर्वोपलब्धधूमवत् । न च दृष्टान्तमन्तरेण न गमकत्वम्; अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यसिद्धेः, 'सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादिवदिति दर्शयिष्यते ।

१ अस्य–शास्त्रस्य । २ आयुष्मन्तः श्रोतारोऽस्मिन् । ३ आदेः स्तुति-नमस्कारकीर्तने । ४ -०र्थिना शास्त्रका०- डे० मु० । ५ आदिग्रहणात् विपर्ययानध्यवसायौ । ६ सङ्ख्याद्वारेण भेदकथनं विभागः, यथा "**प्रमाणं द्वेधा । प्रत्यक्षं परोक्षं च ।**" [१.१.९-१०] । ७ -०स्तु लक्ष०-ता० । ८ अङ्गम्-अवयवः कारणमिति यावत् । ९ -०तीयसू०-डे० । १० परिशोधितः प्रमाणानां मार्गोऽनेकान्तात्मकं वस्तु यैः । ११ अधिगमाय शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न वाक्कलहाय । १२ ज्ञानदर्शनचारित्ररूपोपायसहितस्य । १३ प्रतिपक्षः संसारः । १४ यथा अकलङ्केन (?) [इयं टिप्पणकारस्य भ्रान्तिः मूलदाशना भाति । वस्तुतः प्रमाणपरीक्षा न अकलङ्ककृता किन्तु विद्यानन्दकृता -सम्पा०] । १५ अनेकान्तात्मकवस्तुरूपो मार्गो यस्य मोक्षस्य । १६ व्यक्तिरूपे धर्मिणि, तद्यथा विवादाध्यासितं घटप्रत्यक्षं सम्यगर्थनिर्णयात्मकम्, प्रत्यक्षत्वादिति । १७ "**न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम्**" [१. २. १८] इति सूत्रे ।

§ ९. तत्र निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम् । ततो निर्णय-पदेनाज्ञानरूपस्येन्द्रियसन्निकर्षादेः[3], ज्ञानरूपस्यापि संशयादेः प्रमाणत्वनिषेधः ।

§ १०. अर्यतेऽर्थ्यते वा अर्थो हेयोपादेयोपेक्षणीयलक्षणः, हेयस्य हातुम् , उपादेयस्योपादातुम् , उपेक्षणीयस्योपेक्षितुम् अर्थ्यमानत्वात् । न चानुपादेयत्वादुपेक्षणीयो हेय एवान्तर्भवति; अहेयत्वादुपादेय एवान्तर्भावप्रसक्तेः । उपेक्षणीय एव च मूर्द्धाभिषिक्तोऽर्थः, योगिभिस्तस्यैवार्यमाणत्वात् । अस्मदादीनामपि हेयोपादेयाभ्यां भूयानेवोपेक्षणीयोऽर्थः; तन्नायमुपेक्षितुं क्षमः । अर्थस्य निर्णय इति कर्मणि षष्ठी, निर्णीयमानत्वेन व्याप्यत्वादर्थस्य । अर्थग्रहणं च स्वनिर्णयव्यवच्छेदार्थं तस्य सतोऽप्यलक्षणत्वादिति वक्ष्यामः ।

§ ११. सम्यग्-इत्यविपरीतार्थमव्ययं समञ्चतेर्वा रूपम् । तच्च निर्णयस्य विशेषणम् , तस्यैव सम्यक्त्वाऽसम्यक्त्वयोगेन विशेषणमुचितत्वात् ; अर्थस्तु स्वतो न सम्यग् नाप्यसम्यगिति सम्भवव्यभिचारयोरभावान्न विशेषणीयः । तेन सम्यग् योऽर्थनिर्णय इति विशेषणाद्विपर्ययनिरासः । ततोऽतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवदोषविकलमिदं प्रमाणसामान्यलक्षणम् ॥ २ ॥

§ १२. ननु अर्थनिर्णयवत् स्वनिर्णयोऽपि वृद्धैः प्रमाणलक्षणत्वेनोक्तः-"**प्रमाणं स्वपराभासि**" [न्यायाव० १] इति, "**स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**" [तत्त्वार्थश्लोकवा० १.१०.७७] इति च । न चासावसन्[12], 'घटमहं जानामि' इत्यादौ कर्तृकर्मवत् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति । न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावनम् , तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् । उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था । अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः । एतेन 'अर्थस्य सम्भवो नोपपद्येत न चे[त्] ज्ञानं स्यात्' इत्यर्थापत्त्यापि तदुपलम्भः प्रत्युक्तः; तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात् । अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञाने अनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेस्तदवस्थः परिभवः । तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयापि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वनिर्णयात्मकत्वमप्यस्ति । ननु अनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः; मैवं वोचः; ज्ञातुर्ज्ञातृत्वेनेव अनुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात् । न चानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः; अर्थापेक्षयानुभूतित्वात् , स्वापेक्षयाऽनुभाव्यत्वात् , स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववत् विरोधाभावात् । न च स्वात्मनि क्रियाविरोधः; अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः । अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः; तथाहि-ज्ञानं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात् , प्रदीपवत् ।

---

१ प्रथमाक्षसन्निपातेन यत् ज्ञानम् । यथाऽनध्यवसाय एव निर्विकल्पकं तथाऽभ्युह्य सौगतमतनिराकरणायाविकल्पकत्वेनेति पदम् । २-०स्पत्व०-डे० । ३ आदिपदात् ज्ञातृव्यापारः । ४ अर्थ्यमानत्वात् । ५ "शकधृष ......" [हैमश० ५. ४. ९०] इति तुम् । ६ योग्यः । ७ नत्तु निर्णी०-ता० । ८ जडत्वात् । ९ सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद् भवति । १० निश्चयात्मकम् । ११ स्वनिर्णयः । १२ पुरुषस्य । १३ स्वनिर्णयोपलम्भ० । १४ अनवस्थादोषेण । १५ अर्थोऽस्तासतीत्येवंरूपो व्यवहारः । १६ न चेतत् ज्ञा०-डे० । १७ अर्थोपलम्भोपलम्भः । १८ अर्थापत्तिज्ञाने । १९ अर्थापत्त्यन्तरस्यापि ज्ञानार्थं पुनरप्यर्थापत्त्यन्तरं कल्प(ल्प्य)मित्यनवस्था । २० यदा त्वर्थापत्त्यन्तरस्य प्रस्तुतार्थापत्तेः ज्ञानं तदेतरेतराश्रयः । २१ कर्मत्वात् ।

संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात् प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत्; न; अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः। न च नेत्रादिभिरनैकान्तिकता; तेषां भावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा, संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः यथा घटः। तथा, यत् ज्ञानं तत् आत्मबोधं प्रत्यनपेक्षितपरव्यापारम्, यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात् प्राग्भावि गोचरान्तरग्राहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्, ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानमिति। संवित् स्वप्रकाशे स्वावान्तरजातीयं नापेक्षते, वस्तुत्वात्, घटवत्। संवित् परप्रकाश्या, वस्तुत्वात्, घटवदिति चेत्; न; अस्याप्रयोजकत्वात्, न खलु घटस्य वस्तुत्वात् परप्रकाश्यता अपि तु बुद्धिव्यतिरिक्तत्वात्। तस्मात् स्वनिर्णयोऽपि प्रमाणलक्षणमस्त्वित्याशङ्क्याह—

स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥ ३ ॥

§ १३. सन्नपि—इति परोक्तमनुमोदते। अयमर्थः—न हि अस्ति इत्येव सर्वं लक्षणत्वेन वाच्यं किन्तु यो धर्मो विपक्षाद्व्यावर्त्तते। स्वनिर्णयस्तु अप्रमाणेऽपि संशयादौ वर्त्तते; नहि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम। ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदोषः ॥ ३ ॥

§ १४. ननु च परिच्छिन्नमर्थं परिच्छिन्दता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात्। तथा च गृहीतग्राहिणां धारावाहिज्ञानानामपि प्रामाण्यप्रसङ्गः। ततोऽपूर्वार्थनिर्णय इत्यस्तु लक्षणम्, यथाहुः—"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" [परीक्षामु० १. १] इति, "तत्रापूर्वार्थविज्ञानम्" इति च। तत्राह—

ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥४॥

§ १५. अयमर्थः—द्रव्यापेक्षया वा गृहीतग्राहित्वं विप्रतिषिध्येत पर्यायापेक्षया वा? तत्र पर्यायापेक्षया धारावाहिज्ञानानामपि गृहीतग्राहित्वं न सम्भवति, क्षणिकत्वात् पर्यायाणाम्; तत्कथं तन्निवृत्त्यर्थं विशेषणमुपादीयेत? अथ द्रव्यापेक्षया; तदप्ययुक्तम्; द्रव्यस्य नित्यत्वादेकत्वेन गृहीतग्रहीष्यमाणावस्थयोर्न भेदः। ततश्च कं विशेषमाश्रित्य ग्रहीष्यमाणग्राहिणः प्रामाण्यम्, न गृहीतग्राहिणः? अपि च अवग्रहेहादीनां गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रामाण्यमिष्यत एव। न चैषां भिन्नविषयत्वम्; एवं ह्यवगृहीतस्य अनीहनात्, ईहितस्य अनिश्चयादसमञ्जसमापद्येत। न च पर्यायापेक्षया अनधिगतविशेषावसायादपूर्वार्थत्वं वाच्यम्; एवं हि न कस्यचिद् गृहीतग्राहित्वमित्युक्तप्रायम्।

---

१ –०मिति न अज्ञा०–ता०। २ आदेः संशयादिनिरासः। ३ ज्ञानान्तरानपेक्षितव्यापारम्। ४ घटविषयम्। ५ –०ज्ञानप्रा०–डे०। ६ केवलान्वय्यनुमानम्। ७ ज्ञानान्तरम्। ८ लक्षणं वाच्यं–डे०। ९ –०वाहिकज्ञाना०–डे०। १० स्वस्य अपूर्वार्थस्य च। ११ तथापू०–डे०। संवेति प्रत्नं···भट्टः (?)। १२ प्राभाकराः। १३–०हिकज्ञा०–डे०। १४ गृहीतार्थग्राहिज्ञाननिरासार्थेत्यर्थः। १५ ईहितं–डे०।

§ १६. स्मृतेश्च प्रमाणत्वेनाभ्युपगताया गृहीतग्राहित्वमेव सतत्त्वम् । यैरपि स्मृतेरप्रामाण्यमिष्टं तैरप्यर्थादनुत्पाद एव हेतुत्वेनोक्तो न गृहीतग्राहित्वम्, यदाह—

"न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम् ।
अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्" [न्यायम० पृ० २३]

इति ॥ ४ ॥

§ १७. अथ प्रमाणलक्षणप्रतिक्षिप्तानां संशयानध्यवसायविपर्ययाणां लक्षणमाह—

अनुभयत्रोभय[1]कोटि[2]स्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥ ५ ॥

§ १८. अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शनशीलं ज्ञानं सर्वात्मना शेत इवात्मा यस्मिन् सति स संशयः, यथा अन्धकारे दूरादूर्ध्वाकारवस्तूपलम्भात् साधकबाधकप्रमाणाभावे सति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति प्रत्ययः । अनुभयत्रग्रहणमुभयरूपे वस्तुन्युभयकोटिसंस्पर्शेऽपि संशयत्वनिराकरणार्थम्, यथा 'अस्ति च नास्ति च घटः', 'नित्यश्चानित्यश्चात्मा' इत्यादि ॥ ५ ॥

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥ ६ ॥

§ १९. दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मावमर्शरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मकत्वात् अनध्यवसायः, यथा 'किमेतत्' इति । यदप्यविकल्पकं प्रथमक्षणभावि परेषां प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनाभिमतं तदप्यनध्यवसाय एव, विशेषोल्लेखस्य तत्राप्यभावादिति ॥ ६ ॥

अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥ ७ ॥

§ २०. यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यासरूपत्वाद्विपर्ययः, यथा धातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादिप्रत्ययः, तिमिरादिदोषात् एकस्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः, नौयानात् अगच्छत्स्वपि वृक्षेषु गच्छत्प्रत्ययः, आशुभ्रमणात् अलातादावचक्रेऽपि चक्रप्रत्यय इति । अवसितं प्रमाणलक्षणम् ॥ ७ ॥

§ २१. ननु अस्तूक्तलक्षणं प्रमाणम्; तत्प्रामाण्यं तु स्वतः, परतो वा निश्चीयेत ? न तावत् स्वतः; तद्धि स्व(स्व)संविदितत्वात् ज्ञानमित्येव गृह्णीयात्, न पुनः सम्यक्त्वलक्षणं प्रामाण्यम्, ज्ञानत्वमात्रं तु प्रमाणाभाससाधारणम् । अपि च स्वतः प्रामाण्ये सर्वेषामविप्रतिपत्तिप्रसङ्गः । नापि परतः; परं हि तद्गोचरगोचरं वा ज्ञानम् अभ्युपेयेत, अर्थक्रियानिर्भासं वा, तद्गोचरनान्तरीयकार्थदर्शनं वा ? तच्च सर्वं स्वतोऽनवधृतप्रामाण्यमव्यवस्थितं सत् कथं पूर्वं प्रवर्तकं ज्ञानं व्यवस्थापयेत् ? स्वतो वाऽस्य प्रामाण्ये कोऽपराधः प्रवर्तकज्ञानस्य येन तस्यापि तन्न स्यात् ? न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्युक्तमेव, परतस्त्वनवस्थेत्याशङ्क्याह—

१ स्वरूपम् । २ उभयेत्युपलक्षणम् आ(न्या)दिकोटिसंस्पर्शेऽपि संशयस्य सद्भावात् । ३ –०टिसंस्प०-डे० । ४ –०दिद्रव्ये०-डे० । ५ उल्मुकादौ । ६ प्रमाणम् । तद्धि संवि०-डे० । ७ तस्य प्रथमज्ञानस्य गोचरो विषयो जलादिः, स गोचरो यस्य द्वितीयज्ञानस्य । ८ तस्य ज्ञानस्य गोचरोऽग्न्यादिस्तदविनाभूतो धूमादिः । ९ पूर्वप्रवर्तकज्ञाने-डे० । १० तत्–स्वतः प्रामाण्यम् ।

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥

§ २२. प्रामाण्यनिश्चयः क्वचित् स्वतः यथाऽभ्यासदशापन्ने स्वकरतलादिज्ञाने, स्नानपानावगाहनोदन्योपशमादावर्थक्रियानिर्भासे वा प्रत्यक्षज्ञाने; नहि तत्र परीक्षाकाङ्क्षास्ति प्रेक्षावताम्, तथाहि–जलज्ञानम्, ततो दाहपिपासार्तस्य तत्र प्रवृत्तिः, ततस्तत्प्राप्तिः, ततः स्नानपानादीनि, ततो दाहोदन्योपशम इत्येतावतैव भवति कृती प्रमाता; न पुनर्दाहोदन्योपशमज्ञानमपि परीक्षते इत्यस्य स्वतः प्रामाण्यम्। अनुमाने तु सर्वस्मिन्नपि सर्वथा निरस्तसमस्तव्यभिचाराशङ्के स्वत एव प्रामाण्यम्, अव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्; न लिङ्गाकारं ज्ञानं लिङ्गं विना, न च लिङ्गं लिङ्गिनं विनेति।

§ २३. क्वचित् परतः प्रामाण्यनिश्चयः, यथा अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे। नहि तत् अर्थेन गृहीताव्यभिचारमिति तदेकविषयात् संवादकात् ज्ञानान्तराद्वा, अर्थक्रियानिर्भासाद्वा, नान्तरीयार्थदर्शनाद्वा तस्य प्रामाण्यं निश्चीयते। तेषां च स्वतः प्रामाण्यनिश्चयान्नानवस्थादिदौःस्थ्यावकाशः।

§ २४. शाब्दे तु प्रमाणे दृष्टार्थेऽर्थाव्यभिचारस्य दुर्ज्ञानत्वात् संवादाद्यधीनः परतः प्रामाण्यनिश्चयः; अदृष्टार्थे तु दृष्टार्थग्रहोपराग-नष्ट-मुष्ट्यादिप्रतिपादकानां संवादेन प्रामाण्यं निश्चित्य संवादमन्तरेणाप्याप्तोक्तत्वेनैव प्रामाण्यनिश्चय इति सर्वमुपपन्नम्।

§ २५. **"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्"** इति नैयायिकाः। तत्रार्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रम्; तदा तत् सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं करणं हेतुशब्देन विवक्षितम्; तर्हि तत् ज्ञानमेव युक्तं नेन्द्रियसन्निकर्षादि, यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति स तत्करणम्। न च इन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावे स भवति, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिष्यते, व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दधिभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः। तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्, अन्यत्रोपचारात्।

§ २६. **"सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्"** [न्यायसा० पृ० १] इत्यत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्य प्रमाणत्वं सिध्यति, तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैवेति तदेव प्रमाणत्वेनैष्टव्यम्।

§ २७. **"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्"** [प्रमाणवा० २. १] इति सौगताः। तत्रापि यद्यविकल्पकं ज्ञानम्; तदा न तद् व्यवहारजननसमर्थम्। सांव्यवहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य लक्षणमिति च भवन्तः, तत्कथं तस्य प्रामाण्यम्? उत्तरकालभाविनो व्यवहारजननसमर्थाद्विकल्पात् तस्य प्रामाण्ये याचितकमण्डनन्यायः, वरं च व्यवहारहेतोर्विकल्पस्यैव

१ लिङ्गग्रहणपरिणामि। २ तदेकदेशविष०-डे०। ३ तदेकविषयसंवादकज्ञानान्तरादीनाम्। ४ वाक्यानाम्। ५ स-ज्ञानलक्षणोऽर्थः। ६ सत्योपलम्भस्य कारणम्। ७ अर्थोपलम्भः। ८ संगतो व्यवहारः प्रयोज[न]मस्यैति। ९ अविकल्पकस्य।

प्रामाण्यमभ्युपगन्तुम्; एवं हि परम्परापरिश्रमः परिहृतो भवति । विकल्पस्य चाप्रामाण्ये कथं तन्निमित्तो व्यवहारोऽविसंवादी ? दृष्ट(श्य)विकल्प(ल्प्य)योरर्थयोरेकीकरणेन तैमिरिकज्ञानवत् संवादाभ्युपगमे चोपचरितं संवादित्वं स्यात् । तस्मादनुपचरितमविसंवादित्वं प्रमाणस्य लक्षणमिच्छता निर्णयः प्रमाणमेष्टव्य इति ॥ ८ ॥

§ २८. प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा परीक्ष्य च विशेषलक्षणं वक्तुकामो विभागमन्तरेण तद्वचनस्याशक्यत्वात् विभागप्रतिपादनार्थमाह–

प्रमाणं द्विधा ॥ ९ ॥

§ २९. सामान्यलक्षणसूत्रे प्रमाणग्रहणं परीक्ष्यान्तरितमिति न 'तदा' परामृष्टं किन्तु साक्षादेवोक्तं प्रमाणम्-इति । द्विधा द्विप्रकारमेव, विभागस्यावधारणफलत्वात् । तेन प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः, प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणमिति वैशेषिकाः, तान्येवेति साङ्ख्याः, सहोपमानेन चत्वारीति नैयायिकाः, सहार्थापत्त्या पञ्चेति प्राभाकराः, सहाऽभावेन षडिति भाट्टाः इति न्यूनाधिकप्रमाणवादिनः प्रतिक्षिप्ताः । तत्प्रतिक्षेपश्च वक्ष्यते ॥ ९ ॥

§ ३०. तर्हि प्रमाणद्वैविध्यं किं तथा यथाहुः सौगताः "**प्रत्यक्षमनुमानं च**" [प्रमाणस० १. २, न्यायबिं० १.३] इति, उतान्यथा ? इत्याह–

प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥१०॥

§ ३१. अश्नुते अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानिति अक्षो जीवः, अश्नुते विषयम् इति अक्षम्–इन्द्रियं च । प्रतिः प्रतिगतार्थः । अक्षं प्रतिगतं तदाश्रितम्, अक्षाणि चेन्द्रियाणि तानि प्रतिगतमिन्द्रियाण्याश्रित्योज्जिहीते यत् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणलक्षणम् । अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति परेणेन्द्रियादिना चोक्ष्यत इति परोक्षं वक्ष्यमाणलक्षणमेव । चकारः स्वविषये द्वयोस्तुल्यबलत्वख्यापनार्थः । तेन यदाहुः– "**सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षम्**" इति तदपास्तम् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वादितरप्रमाणानां तस्य ज्येष्ठतेति चेत्; न; प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणान्तरपूर्वकत्वोपलब्धेः, लिङ्गात् आप्तोपदेशाद्वा वह्न्यादिकमवगम्य प्रवृत्तस्य तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेः ॥ १० ॥

§ ३२. न प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमिति लौकायतिकाः । तत्राह–

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥११॥

§ ३३. प्रमाणाप्रमाणविभागस्य, परबुद्धेः, अतीन्द्रियार्थनिषेधस्य च सिद्धिर्नानुमानादिप्रमाणं विना । चार्वाको हि काश्चिज्ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं

१ "दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य" –तत्त्वोप० लि० पृ० ११३; बृहतीप० १.१.५.पृ० ५३ –सम्पा० ।
२ 'तत्'शब्देन । ३ –क्षं च परो०–डे० मु० मू० । ४ विषयमिन्द्रि०–ता० । ५ –०क्षमितिपूर्व०–डे० ।

प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत्। न च सन्निहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते। न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति। तस्माद्यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च परोक्षान्तर्गतमनुमानरूपं प्रमाणान्तरमुपासीत।

§ ३४. अपि च [अ]प्रतिपिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको न परीक्षकः' इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात्। न च प्रत्यक्षेण परचेतोवृत्तीनामधिगमोस्ति। चेष्टाविशेषदर्शनात्तदवगमे च परोक्षस्य प्रामाण्यमनिच्छतोऽप्यायातम्।

§ ३५. परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, सन्निहितमात्रविषयत्वात्तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः।

§ ३६. किञ्च, प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यं तच्चार्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतः परोक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते? व्यभिचारिणोपि परोक्षस्य दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत्; प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषादप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्; इतरत्रापि तुल्यमेतदन्यत्र पक्षपातात्। धर्मकीर्तिरप्येतदाह—

"प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥ १॥
अर्थस्यासम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ २॥ इति।

§ ३७. यथोक्तसङ्ख्यायोगेऽपि च परोक्षार्थविषयमनुमानमेव सौगतैरुपगम्यते; तदयुक्तम्; शब्दादीनामपि प्रमाणत्वात् तेषां चानुमानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वात्। एकेन तु सर्वसङ्ग्राहिणा प्रमाणेन प्रमाणान्तरसङ्ग्रहे नायं दोषः। तत्र यथा इन्द्रियजमानसात्मसंवेदनयोगिज्ञानानां प्रत्यक्षेण सङ्ग्रहस्तथा स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमानां परोक्षेण सङ्ग्रहो लक्षणस्याविशेषात्। स्मृत्यादीनां च विशेषलक्षणानि स्वस्थान एव वक्ष्यन्ते। एवं परोक्षस्योपमानस्य प्रत्यभिज्ञाने, अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावोऽभिधास्यते॥ ११॥

§ ३८. यत्तु प्रमाणमेव न भवति न तेनान्तर्भूतेन बहिर्भूतेन वा किञ्चित् प्रयोजनम्, यथा अभावः। कथमस्याप्रामाण्यम्? निर्विषयत्वात् इति ब्रूमः। तदेव कथम्? इति चेत्—

भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥१२॥

§ ३९. नहि भावैकरूपं वस्त्वस्ति विश्वस्य वैश्वरूप्यप्रसङ्गात्, नाप्यभावैकरूपं नीरू-

१ ...तेनान्त०–डे०। २ इतरत्रा०–डे०। ३ –०वे भावा०–डे०।

त्वप्रसङ्गात्; किन्तु स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावरूपं वस्तु तथैव प्रमाणानां प्रवृत्तेः। तथाहि–प्रत्यक्षं तावत् भूतलमेवेदं घटादि[1] न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकद्वारेण वस्तु परिच्छिन्दत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति कं विषयमाश्रित्याभावरूपं प्रमाणं स्यात्?। एवं परोक्षाण्यपि प्रमाणानि भावाभावरूपवस्तुग्रहणप्रवणान्येव, अन्यथाऽसङ्कीर्णस्वस्वविषयग्रहणासिद्धेः, यदाह–

"अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते ॥"

इति ।　　[श्लोकवा० अभाव० श्लो. १५.]

§४०. अथ भवतु भावाभावरूपता वस्तुनः, किं नश्छिन्नम्?, वयमपि हि तथैव प्रत्यपीपदाम। केवलं भावांश इन्द्रियसन्निकृष्टत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणगोचरः अभावांशस्तु न तथेत्यभावप्रमाणगोचर इति कथमविषयत्वं स्यात्?, तदुक्तम्–

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥१॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥२॥"

इति ।　　[श्लोकवा० अभाव० श्लो. १८, २७]

§४१. ननु भावांशादभावांशस्याभेदे कथं प्रत्यक्षेणाग्रहणम्?, भेदे वा घटाद्यभावरहितं भूतलं प्रत्यक्षेण गृह्यत इति घटादयो गृह्यन्त इति प्राप्तम्, तदभावा[2]ग्रहणस्य तत्सद्भावग्रहणनान्तरीयकत्वात्। तथा चा[3]भावप्रमाणमपि पश्चात्प्रवृत्तं न तानुत्सारयितुं पटिष्ठं स्यात्, अन्यथा[4]ऽसङ्कीर्णस्य सङ्कीर्णताग्रहणात् प्रत्यक्षं भ्रान्तं स्यात्।

§४२. अपि चायं प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपत्वात् तुच्छः। तत एवाज्ञानरूपः कथं प्रमाणं भवेत्?। तस्मादभावांशात्कथञ्चिदभिन्नं भावांशं परिच्छिन्दता प्रत्यक्षादिना प्रमाणेना[5]भावांशो गृहीत एवेति तदतिरिक्तविषयाभावान्निर्विषयोऽभावः। तथा च न प्रमाण[6]मिति स्थितम् ॥१२॥

§४३. विभागमुक्त्वा विशेषलक्षणमाह–

विशदः प्रत्यक्षम् ॥१३॥

§४४. सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इति प्रमाणसामान्यलक्षणमनूद्य 'विशदः' इति विशेषलक्षणं प्रसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य विधीयते। तथा च प्रत्यक्षं धर्मि। विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकमिति साध्यो धर्मः। प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः। यद्विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकं न भवति न तत् प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षमिति व्यतिरेकी।

---

१ घटादि न भव० –डे०। २ तदभावग्रहण०–डे०। ३ चाभावग्रहणमपि–डे०। ४ अन्यथा सङ्की०–डे०। ५–०विनाभावां०–ता०। ६ प्रमाणमिति। विभाग०–ता०।

धर्म्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयदोष इति चेत्; न; विशेषे धर्मिणि धर्मिसामान्यस्य हेतुत्वात्। तस्य च विशेषनिष्ठत्वेन विशेषेष्वन्वयसम्भवात्। सपक्षे वृत्तिमन्तरेणापि च विपक्षव्यावृत्तिबलाद्गमकत्वमित्युक्तमेव ॥१३॥

§ ४५. अथ किमिदं वैशद्यं नाम? । यदि स्वविषयग्रहणम्; तत् परोक्षेप्यस्ति। अथ स्फुटत्वम्; तदपि स्वसंविदितत्वात् सर्वविज्ञानानां सममित्याशङ्क्याह–

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥१४॥

§ ४६. प्रस्तुतात् प्रमाणाद् यदन्यत् प्रमाणं शब्दलिङ्गादिज्ञानं तत् प्रमाणान्तरं तन्निरपेक्षता 'वैशद्यम्'। नहि शाब्दानुमानादिवत् प्रत्यक्षं स्वोत्पत्तौ शब्दलिङ्गादिज्ञानं प्रमाणान्तरमपेक्षते इत्येकं वैशद्यलक्षणम्। लक्षणान्तरमपि 'इदन्तया प्रतिभासो वा' इति, इदन्तया विशेषनिष्ठतया यः प्रतिभासः सम्यगर्थनिर्णयस्य सोऽपि 'वैशद्यम्'। 'वा'शब्दो लक्षणान्तरत्वसूचनार्थः ॥१४॥

§ ४७. अथ मुख्यसांव्यवहारिकभेदेन द्वैविध्यं प्रत्यक्षस्य हृदि निधाय मुख्यस्य लक्षणमाह–

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥१५॥

§ ४८. 'तत्' इति प्रत्यक्षपरामर्शार्थम्, अन्यथानन्तरमेव वैशद्यमभिसम्बध्येत। दीर्घकालनिरन्तरसत्कारासेवितरत्नत्रयप्रकर्षपर्यन्ते एकत्ववितर्काविचारध्यानबलेन निःशेषतया ज्ञानावरणादीनां घातिकर्मणां प्रक्षये सति चेतनास्वभावस्यात्मनः प्रकाशस्वभावस्येति यावत्, स्वरूपस्य प्रकाशस्वभावस्य सत एवावरणापगमेन 'आविर्भावः' आविर्भूतं स्वरूपं मुखमिव शरीरस्य सर्वज्ञानानां प्रधानं 'मुख्यम्' प्रत्यक्षम्। तच्चेन्द्रियादिसाहायकविरहात् सकलविषयत्वादसाधारणत्वाच्च 'केवलम्' इत्यागमे प्रसिद्धम्।

§ ४९. प्रकाशस्वभावता कथमात्मनः सिद्धेति चेत्; एते ब्रूमः–आत्मा प्रकाशस्वभावः, असन्दिग्धस्वभावत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासावसन्दिग्धस्वभावो यथा घटः, न च तथात्मा, न खलु कश्चिदहमस्मि न वेति सन्दिग्धे इति नासिद्धो हेतुः। तथा, आत्मा प्रकाशस्वभावः, बोद्धृत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासौ बोद्धा यथा घटः, न च न बोद्धात्मेति। तथा, यो यस्याः क्रियायाः कर्ता न स तद्विषयो यथा गतिक्रियायाः कर्ता चैत्रो न तद्विषयः, ज्ञप्तिक्रियायाः कर्ता चात्मेति।

§ ५०. अथ प्रकाशस्वभावत्व आत्मनः कथमावरणम्?, आवरणे वा सततावरणप्रसङ्गः; नैवम्; प्रकाशस्वभावस्यापि चन्द्रार्कादेरिव रजोनीहाराभ्रपटलादिभिरिव ज्ञाना-

---

१ डुकृञ्-कृ-कुंक् शब्दे-गण–II 26, 27, 28। उणादौ स्थाछुसोऽस्य [१८५] इति णे ऊनमपराधः। २ शब्दानु०– डे०। ३ प्रत्यक्षस्य परा०–डे०। ४ बहुमान०। ५ ज्ञानावरणीयादीनाम्–डे०।

वरणीयादिकर्म्मभिरावरणस्य सम्भवात्, चन्द्रार्कादेरिव च प्रबलपवमानप्रायैर्ध्यानभावनादिभिर्विलयस्येति।

§५१. ननु सादित्वे स्यादावरणस्योपायतो विलयः; नैवम्; अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्, तद्वदेवानादेरपि ज्ञानावरणीयादिकर्मणः प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः।

§५२. न चामूर्त्तस्यात्मनः कथमावरणमिति वाच्यम्; अमूर्त्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणदर्शनात्।

§५३. अथावरणीयतत्प्रतिपक्षाभ्यामात्मा विक्रियेत न वा?। किं चातः?।

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥"

इति चेत्; न; अस्य दूषणस्य कूटस्थनित्यतापक्ष एव सम्भवात्, परिणामिनित्यश्चात्मेति तस्य पूर्वापरपर्यायोत्पादविनाशसहितानुवृत्तिरूपत्वात्, एकान्तनित्यक्षणिकपक्षयोः सर्वथार्थक्रियाविरहात्, यदाह–

"अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता॥" [लघी० २.१]

इति॥१५॥

§५४. ननु प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था। न च मुख्यप्रत्यक्षस्य तद्वतो वा सिद्धौ किञ्चित् प्रमाणमस्ति। प्रत्यक्षं हि रूपादिविषयविनियमितव्यापारं नातीन्द्रियेऽर्थे प्रवर्तितुमुत्सहते। नाप्यनुमानम्, प्रत्यक्षदृष्टलिङ्गलिङ्गिसम्बन्धबलो[प]जननधर्मकत्वात्तस्य। आगमस्तु यद्यतीन्द्रियज्ञानपूर्वकस्तत्साधकः; तदेतरेतराश्रयः–

"नर्ते तदागमात्सिध्येन्न च तेनागमो विना।"

[श्लोकवा० सू० २. श्लो० १४२]

इति। अपौरुषेयस्तु तत्साधको नास्त्येव। योऽपि–

"अपाणिपादो यमनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥"

[श्वेताश्व० ३. १९.]

इत्यादिः कश्चिदर्थवादरूपोऽस्ति नासौ प्रमाणम् विधावेव प्रामाण्योपगमात्। प्रमाणान्तराणां चात्रानवसर एवेत्याशङ्क्याह–

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः॥१६॥

१ चन्द्रादेरिव ता०। २ –०पवनप्राय०–ता०। ३ विलयस्य चेति–डे० मु०। ४ –०सहितानुवृत्तरूप०–डे०। ५ विषयविनिर्मित–डे० मु०। ६ –०बलोपजनितध०–डे० मु०। ७ –०श्रयम्–ता०। ८ –०पादो यम०–ता०। ९ अत्र 'जवनो' इत्येव सम्यक्, तस्यैव शङ्करेण व्याख्यातत्वात्। १० वेद्यं–श्वेता०।

§५५. प्रज्ञाया अतिशयः – तारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम्, अतिशयत्वात्, परिमाणातिशयवदित्यनुमानेन निरतिशयप्रज्ञासिद्धया तस्य केवलज्ञानस्य सिद्धिः, तत्सिद्धिरूपत्वात् केवलज्ञानसिद्धेः । 'आदि'ग्रहणात् सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् घटादिवदितो, ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तेश्च तत्सिद्धिः, यदाह–

"धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ॥"
[सिद्धिवि० पृ० ४१३A]

§५६. अपि च–"नोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमेवञ्जातीयकमर्थमवगमयति नान्यत्किञ्चनेन्द्रियम्" - [शाबर भा० १. १. २.] इति वदता भूताद्यर्थपरिज्ञानं कस्यचित् पुंसोऽभिमतमेव, अन्यथा कस्मै वेदस्त्रिकालविषयमर्थं निवेदयेत् ? । स हि निवेदयंस्त्रिकालविषयतत्त्वज्ञमेवाधिकारिणमुपादत्ते, तदाह–

"त्रिकालविषयं तत्त्वं कस्मै वेदो निवेदयेत् ।
अक्षय्यावरणैकान्तान्न चेद्वेद तथा नरः ॥" [सिद्धिवि० पृ० ४१४A]

इति त्रिकालविषयवस्तुनिवेदनाऽन्यथानुपपत्तेरतीन्द्रियकेवलज्ञानसिद्धिः ।

§५७. किञ्च, प्रत्यक्षानुमानसिद्धसंवादं शास्त्रमेवातीन्द्रियार्थदर्शिसद्भावे प्रमाणम् । य एव हि शास्त्रस्य विषयः स्याद्वादः स एव प्रत्यक्षादेरपीति संवादः, तथाहि–

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥"

इति दिशा प्रमाणसिद्धं स्याद्वादं प्रतिपादयन्नागमोऽर्हतस्सर्वज्ञतामपि प्रतिपादयति, यदस्तुम–

"यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमात्मभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥"
[अयोग० २१]

इति । प्रत्यक्षं तु यद्यप्यैन्द्रियि(य)कं नातीन्द्रियज्ञानविषयं तथापि समाधिबललब्धजन्मकं[1] योगिप्रत्यक्षमेव बाह्यार्थस्येव स्वस्यापि वेदकमिति प्रत्यक्षतोऽपि तत्सिद्धिः ।

§५८. अथ–

"ज्ञानमप्रतिघं[2] यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥"

इति वचनात्सर्वज्ञत्वमीश्वरादीनामस्तु मानुषस्य तु कस्यचिद्विद्याचरणवतोऽपि तदसम्भावनीयम्, यत्कुमारिलः–

"अथापि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ? ॥"
[तत्त्वसं० का० ३२०८]

---

१ –०जन्मकयोगि० –डे० मु० । २ अप्रतिघातम् ।

इति ; आः ! सर्वज्ञापलापपातकिन् ! दुर्वदवादिन् ! मानुषत्वनिन्द्रार्थवादापदेशेन देवाधिदेवानधिक्षिपसि ? । ये हि जन्मान्तरार्जितोर्जितपुण्यप्राग्भाराः सुरभवमनुपमं सुखमनुभूय दुःखपङ्कमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्षवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखासिकामृतवृष्टयो मनुष्यलोकमवतेरुः जन्मसमयसमकालचलितासनसकलसुरेन्द्रवृन्दविहितजन्मोत्सवाः किङ्करायमाणसुरसमूहाहमहमिकारब्धसेवाविधयः स्वयमुपनतामतिप्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवदवधूय समतृणमणिशत्रुमित्रवृत्तयो निजप्रभावप्रशमितेतिमरकादिजगदुपद्रवाः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्माण आविर्भूतनिखिलभावाभावस्वभावावभासिकेवलबलदलितसकलजीवलोकमोहप्रसराः सुरासुरविनिर्मितां समवसरणभुवमधिष्ठाय स्वस्वभाषापरिणामिनीभिर्वाग्भिः प्रवर्तितधर्मतीर्थाश्चतुस्त्रिंशदतिशयमयीं तीर्थनाथत्वलक्ष्मीमुपभुज्य परं ब्रह्म सततानन्दं सकलकर्मनिर्मोक्षमुपेयिवांसस्तान्मानुषत्वादिसाधारणधर्मोपदेशेनापवदन् सुमेरुमपि लेष्ट्वादिना साधारणीकर्तुं पार्थिवत्वेनापवदेः ! । किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्भोगदुर्ललितवृत्तीनां विविधहेतिसमूहधारिणामक्षमालाद्यायत्तमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्ववित्त्वसाम्राज्यम् !, यदवदाम स्तुतौ—

"मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥"

[अयोग०-२५]

---

१ अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ॥ —मु-टि०

२ मरको मारिः ।

३ अतिशयाः ३४—

"तेषां च देहोऽद्भुतरूपगन्धो निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च ।
श्वासोऽब्जगन्धो रुधिरामिषं तु गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम् ॥१॥
आहारनीहारविधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः ।
क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ॥२॥
वाणी नृतिर्यक्सुरलोकभाषा संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ॥३॥
साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा वैरेतयो मार्यतिवृष्ट्यवृष्टयः ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥४॥
खे धर्मचक्रं चमराः सपादपीठं मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्रत्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासे च चामीकरपङ्कजानि ॥५॥
वप्रत्रयं चारु चतुर्मुखाङ्गता चैत्यद्रुमोऽधोवदनाश्च कण्टकाः ।
द्रुमानतिर्दुन्दुभिनाद उच्चकैर्वातोऽनुकूलः शकुनाः प्रदक्षिणाः ॥६॥
गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टिः कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ॥७॥
ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूलत्वमित्यमी ।
एकोनविंशतिर्दैव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिताः ॥८॥"   [अभिधा० १. ५६-६३] मु-टि०

४ लोभेन च सम्म०—डे० ।

इति । अथापि रागादिदोषकालुष्यविरहिताः सततज्ञानानन्दमयमूर्तयो ब्रह्मादयः; तर्हि तादृशेषु तेषु न विप्रतिपद्यामहे, अवोचाम हि–

"यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥"

[अयोग–२१]

इति । केवलं ब्रह्मादिदेवताविषयाणां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासकथानां वैतथ्यमासज्येत । तदेवं साधकेभ्यः प्रमाणेभ्योऽतीन्द्रियज्ञानसिद्धिरुक्ता ॥१६॥

बाधकाभावाच्च ॥१७॥

§ ५९. सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वात् सुखादिवत् तत्सिद्धिः इति सम्बध्यते । तथाहि केवलज्ञानबाधकं भवत् प्रत्यक्षं वा भवेत् प्रमाणान्तरं वा ? । न तावत् प्रत्यक्षम् ; तस्य विधावेवाधिकारात्–

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना ।" [श्लोकवा० सू० ४, श्लो० ८४]

इति स्वयमेव भणनात् ।

§ ६०. अथ न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं तद्बाधकं किन्तु निवर्तमानम् तत् ; तर्हि(द्धि)यदि नियतदेशकालविषयत्वेन बाधकं तर्हि सम्प्रतिपद्यामहे । अथ सकलदेशकालविषयत्वेन; तर्हि न तत् सकलदेशकालपुरुषपरिषत्साक्षात्कारमन्तरेण सम्भवतीति सिद्धं नः समीहितम् । न च जैमिनिरन्यो वा सकलदेशादिसाक्षात्कारी सम्भवति सत्त्वपुरुषत्वादेः रथ्यापुरुषवत् । अथ प्रज्ञायाः सातिशयत्वात्तत्प्रकर्षोऽप्यनुमीयते; तर्हि तत एव सकलार्थदर्शी किं नानुमीयते ? । स्वपक्षे चानुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञाभावे कुतः प्रमाणयेद्विशेषात् ? ।

§ ६१. न चानुमानं तद्बाधकं सम्भवति; धर्मिग्रहणमन्तरेणानुमानाप्रवृत्तेः, धर्मिग्रहणे वा तत्प्राहकप्रमाणबाधितत्वादनुत्थानमेवानुमानस्य । अथ विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् पुरुषत्वाद्वा रथ्यापुरुषवदित्यनुमानं तद्बाधकं भूषे ; तदसत् ; यतो यदि प्रमाणपरिदृष्टार्थवक्तृत्वं हेतुः; तदा विरुद्धः, तादृशस्य वक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव भावात् । अथासद्भूतार्थवक्तृत्वम् ; तदा सिद्धसाध्यता, प्रमाणविरुद्धार्थवादिनामसर्वज्ञत्वेनेष्टत्वात् । वक्तृत्वमात्रं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकम् ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात् , प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वक्तृत्वातिशयस्यैवोपलब्धेः । एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम् । पुरुषत्वं हि यदि रागाद्यदूषितं तदा विरुद्धम् , ज्ञानवैराग्यादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्य सर्वज्ञतामन्तरेणानुपपत्तेः । रागादिदूषिते तु पुरुषत्वे सिद्धसाध्यता । पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमित्यबाधकम् ।

१ प्रमाणोपपन्न० । २ नियर्तमानम् । (तर्हि) यदि मु० । ३ –०साक्षात्कारण०–के० ।

§६२. नाप्यागमस्तद्बाधकः तस्यापौरुषेयस्यासम्भवात्; सम्भवे वा तद्बाधकस्य तस्यादर्शनात्। सर्वज्ञोपज्ञश्चागमः कथं तद्बाधकः?, इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति ॥ १७ ॥

§६३. न केवलं केवलमेव मुख्यं प्रत्यक्षमपि त्वन्यदपीत्याह–

तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च[2] ॥१८॥

§६४. सर्वथावरणविलये केवलम्, तस्यावरणविलयस्य 'तारतम्ये' आवरणक्षयोपशमविशेषे तन्निमित्तकः 'अवधिः' अवधिज्ञानं 'मनःपर्यायः' मनःपर्यायज्ञानं च मुख्यमिन्द्रियानपेक्षं प्रत्यक्षम्। तत्रावधीयत इति 'अवधिः' मर्यादा सा च "रूपिष्ववधेः" [तत्त्वा० १.२८] इति वचनात् रूपवद्द्रव्यविषया अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। स द्वेधा भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च। तत्राद्यो देवनारकाणां पक्षिणामिव वियद्गमनम्। गुणप्रत्ययो मनुष्याणां तिरश्चां च।

§६५. मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं 'मनःपर्यायः'। तथाविधमनःपर्यायान्यथानुपपत्त्या तु यद्बाह्यचिन्तनीयार्थज्ञानं तत् आनुमानिकमेव न मनःपर्यायप्रत्यक्षम्, यदाहुः–

"जाणइ बज्झेणुमाणेणं।" [विशेषा० गा० ८१४] इति। ॥१८॥

§६६. ननु रूपिद्रव्यविषयत्वे क्षायोपशमिकत्वे च तुल्ये को विशेषोऽवधिमनःपर्याययोरित्याह–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥१९॥

§६७. सत्यपि कथञ्चित्साधर्म्ये विशुद्ध्यादिभेदादवधिमनःपर्यायज्ञानयोर्भेदः। तत्रावधिज्ञानान्मनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम्। यानि हि मनोद्रव्याणि अवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि जानीते।

§६८. क्षेत्रकृतश्चानयोर्भेदः–अवधिज्ञानमङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागादिषु भवति आ सर्वलोकात्, मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति।

§६९. स्वामिकृतोऽपि–अवधिज्ञानं संयतस्यासंयतस्य संयतासंयतस्य च सर्वगतिषु भवति; मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्य प्रकृष्टचारित्रस्य प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु गुणस्थानकेषु भवति। तत्रापि वर्धमानपरिणामस्य नेतरस्य। वर्धमानपरिणामस्यापि ऋद्धिप्राप्तस्य नेतरस्य। ऋद्धिप्राप्तस्यापि कस्यचिन्न सर्वस्येति।

§७०. विषयकृतश्च–रूपवद्द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धस्तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य इति। अवसितं मुख्यं प्रत्यक्षम् ॥१९॥

---

१ उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्–अभि० ६. ९–सम्पा०। २ अष्टादशं एकोनविंशतितमं चेति सूत्रद्वयं ता– मू० प्रती भेदकचिह्नं विना एकसूत्रत्वेन लिखितं दृश्यते। ३ क्षेत्रतश्च–ता०। ४ मनोलक्षणे।

§ ७१. अथ सांव्यवहारिकमाह—

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥२०॥

§ ७२. इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि, मनश्च निमित्तं कारणं यस्य स तथा । सामान्यलक्षणानुवृत्तेः सम्यगर्थनिर्णयस्येदं विशेषणं तेन 'इन्द्रियमनोनिमित्तः' सम्यगर्थनिर्णयः । कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—'अवग्रहेहावायधारणात्मा' । अवग्रहादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः त आत्मा यस्य सोऽवग्रहेहावायधारणात्मा । 'आत्म'ग्रहणं च क्रमेणोत्पद्यमानानामप्यवग्रहादीनां नात्यन्तिको भेदः किन्तु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तररूपतया परिणामादेकात्मकत्वमिति प्रदर्शनार्थम् । समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारस्तत्प्रयोजनं 'सांव्यवहारिकम्' प्रत्यक्षम् । इन्द्रियमनोनिमित्तत्वं च समस्तं व्यस्तं च बोद्धव्यम् । इन्द्रियप्राधान्यात् मनोबलाधानाच्चोत्पद्यमान इन्द्रियजः । मनस एव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानो मनोनिमित्त इति ।

§ ७३. ननु स्वसंवेदनरूपमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति तत् कस्मान्नोक्तम् ?, इति न वाच्यम् ; इन्द्रियजज्ञानस्वसंवेदनस्येन्द्रियप्रत्यक्षे, अनिन्द्रियजसुखादिसंवेदनस्य मनःप्रत्यक्षे, योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावात् । स्मृत्यादिस्वसंवेदनं तु मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम प्रत्यक्षमस्तीति भेदेन नोक्तम् ॥२०॥

§ ७४. इन्द्रियेत्युक्तमितीन्द्रियाणि लक्षयति—

स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥२१॥

§ ७५. स्पर्शादिग्रहणं लक्षणं येषां तानि यथासङ्ख्यं स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि, तथाहि स्पर्शाद्युपलब्धिः करणपूर्वा क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् । तत्रेन्द्रेणकर्मणा सृष्टानीन्द्रियाणि नामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गानि वा, कर्ममलीमसस्य हि स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्यात्मनोऽर्थोपलब्धौ निमित्तानि इन्द्रियाणि ।

§ ७६. नन्वेवमात्मनोऽर्थज्ञानमिन्द्रियात् लिङ्गादुपजायमानमानुमानिकं स्यात् । तथा च लिङ्गपरिज्ञानेऽनुमानानुदयात् । तस्यानुमानात्परिज्ञानेऽनवस्थाप्रसङ्गः; नैवम् ; भावेन्द्रियस्य स्वसंविदितत्वेनानवस्थानवकाशात् । यद्वा, इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गान्यात्मगमकानि इन्द्रियाणि करणस्य वास्यादिवत्कर्त्राधिष्ठितत्वदर्शनात् ।

§ ७७. तानि च द्रव्यभावरूपेण भिद्यन्ते । तत्र द्रव्येन्द्रियाणि नामकर्मोदयनिमि-

---

१ इन्द्रियजा०—ता० । २ —०सुखादिस्वसं०—मु० । ३ भेदेनोक्तम्—हे० मु० । ४ 'इन्द्रियाणि' इत्यन्तमेकं 'भेदानि' इत्यन्तं च अपरम् इति सूत्रद्वयं सं-मू०प्रतौ दृश्यते ।

त्तानि, भावेन्द्रियाणि पुनस्तदावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्तानि । सैषा पञ्चतयी स्पर्शग्रहणलक्षणं स्पर्शनेन्द्रियं, रसग्रहणलक्षणं रसनेन्द्रियमित्यादि । सकलसंसारिषु भावाच्छरीरव्यापकत्वाच्च स्पर्शनस्य पूर्वं निर्देशः, ततः क्रमेणाल्पाल्पजीवविषयत्वाद्रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणाम् ।

§ ७८. तत्र स्पर्शनेन्द्रियं तदावरणक्षयोपशमसम्भवं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनां शेषेन्द्रियावरणवतां स्थावराणां जीवानाम् । तेषां च "पुढवी चित्तमन्तमक्खाया" [दशवै० ४.१] इत्यादेराप्तागमात्सिद्धिः । अनुमानाच्च—ज्ञानं क्वचिदात्मनि परमापकर्षवत् अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणवत्, यत्र तदपकर्षपर्यन्तस्त एकेन्द्रियाः स्थावराः । न च स्पर्शनेन्द्रियस्याप्यभावे भस्मादिषु ज्ञानस्यापकर्षो युक्तः । तत्र हि ज्ञानस्याभाव एव न पुनरपकर्षस्ततो यथा गगनपरिमाणादारभ्यापकृष्यमाणविशेषं परिमाणं परमाणौ परमापकर्षवत् तथा ज्ञानमपि केवलज्ञानादारभ्यापकृष्यमाणविशेषमेकेन्द्रियेष्वत्यन्तमपकृष्यते । पृथिव्यादीनां च प्रत्येकं जीवत्वसिद्धिरग्रे वक्ष्यते । स्पर्शनरसनेन्द्रिये कृमि-अपादिका-नूपुरक-गण्डूपद-शङ्ख-शुक्तिका-शम्बूका-जलूकाप्रभृतीनां त्रसानाम् । स्पर्शन-रसन-घ्राणानि पिपीलका-रोहणिका-उपचिका-कुन्थु-तुबरक-त्रपुस-बीज-कर्पासास्थिका-शतपदी-श्येनक-तृणपत्र-काष्ठहारकादीनाम् । स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षूंषि भ्रमर-वटर-सारङ्ग-मक्षिका-पुत्तिका-दंश-मशक-वृश्चिक-नन्द्यावर्त्त-कीटक-पतङ्गादीनाम् । सह श्रोत्रेण तानि मत्स्य-उरग-भुजग-पक्षि-चतुष्पदानां तिर्यग्योनिजानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानामिति ।

§ ७९. ननु वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दहेतवो वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणान्यपीन्द्रियाणीति साङ्ख्यास्तत्कथं पञ्चैवेन्द्रियाणि ?; न; ज्ञानविशेषहेतूनामेवेहेन्द्रियत्वेनाधिकृतत्वात्, चेष्टाविशेषनिमित्तत्वेनेन्द्रियत्वकल्पनायामिन्द्रियानन्त्यप्रसङ्गः, चेष्टाविशेषाणामनन्तत्वात्, तस्मात्युक्तिनिर्देशात् पञ्चैवेन्द्रियाणि ।

§ ८०. तेषां च परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थादेशात्, स्याद्भेदः पर्यायार्थादेशात्, अभेदैकान्ते हि स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादेरपि ग्रहणप्रसङ्गः । तथाचेन्द्रियान्तरकल्पना वैयर्थ्यम्, कस्यचित् साकल्ये वैकल्ये वान्येषां साकल्यवैकल्यप्रसङ्गश्च । भेदैकान्तेऽपि तेषामेकत्र सकल(सङ्कलन)ज्ञानजनकत्वाभावप्रसङ्गः सन्तानान्तरेन्द्रियवत् । मनस्तस्य जनकमिति चेत्; न; तस्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वाभावात् । इन्द्रियापेक्षं मनोऽनुसन्धानस्य जनकमिति चेत्; सन्तानान्तरेन्द्रियापेक्षस्य कुतो न जनकत्वमिति वाच्यम् ? । प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्; अत्र का प्रत्यासत्तिरन्यत्रैकद्रव्यतादात्म्यात् ?, प्रत्यासत्त्यन्तरस्यै च

१ रोहिणिकापिचिका-डे० । २ तुबरका०-ता० । तुंबुरक-मु० । ३ त्रिपुस-डे० । ४ बीजककर्पा०-ता० । ५ वठर-डे० । ६ पुत्तिनिका-डे० । पुत्तिका-मु० । ७ हेतूनि वाक्-डे० । ८ -०हेतूनामेवेन्द्रि०-ता० । ९ -०र्थाभेदात्-डे० । १० "तेषामेकत्वसङ्कलनज्ञानजनकत्वाभावप्रसङ्गात्"—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ३२७ । ११ -०स्य स्य०-ता० ।

व्यभिचारादिति । एतेन तेषामात्मना भेदाभेदैकान्तौ प्रतिव्यूढौ । आत्मना करणानामभेदैकान्ते कर्तृत्वप्रसङ्गः, आत्मनो वा करणत्वप्रसङ्गः, उभयोरुभयात्मकत्वप्रसङ्गो वा, विशेषाभावात् । ततस्तेषां भेदैकान्ते चात्मनः करणत्वाभावः सन्तानान्तरकरणवद्विपर्ययो वेति प्रतीतिसिद्धत्वाद्बाधकाभावाच्चानेकान्त एवाश्रयणीयः ।

§८१. द्रव्येन्द्रियाणामपि परस्परं स्वारम्भकपुद्गलद्रव्येभ्यश्च भेदाभेदद्वारानेकान्त एव युक्तः, पुद्गलद्रव्यार्थादेशादभेदस्य पर्यायार्थादेशाच्च भेदस्योपपद्यमानत्वात् ।

§८२. एवमिन्द्रियविषयाणां स्पर्शादीनामपि द्रव्यपर्यायरूपतया भेदाभेदात्मकत्वमवसेयम्, तथैव निर्बाधमुपलब्धेः । तथा च न द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वेन्द्रियविषय इति स्पर्शादीनां कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्वं च द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

§८३. 'द्रव्यभावभेदानि' इत्युक्तं तानि क्रमेण लक्षयति—

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः[1] ॥२२॥

§८४. 'द्रव्येन्द्रियम्' इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । नियतो विशिष्टो बाह्य आभ्यन्तरश्चाकारः संस्थानविशेषो येषां ते 'नियताकाराः' पूरणगलनधर्माणः स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः 'पुद्गलाः', तथाहि श्रोत्रादिषु यः कर्णशष्कुलीप्रभृतिर्बाह्यः पुद्गलानां प्रचयो यश्चाभ्यन्तरः कदम्बगोलकाद्याकारः स सर्वो द्रव्येन्द्रियम्, पुद्गलद्रव्यरूपत्वात् । अप्राधान्ये वा द्रव्यशब्दो यथा अङ्गारमर्दको द्रव्याचार्य इति । अप्रधानमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम्, व्यापारवत्यपि तस्मिन् सन्निहितेऽपि चालोकप्रभृतिनि सहकारिपटले भावेन्द्रियं विना स्पर्शाद्युपलब्ध्यसिद्धेः[2] ॥२२॥

भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥२३॥

§८५. लम्भनं 'लब्धिः' ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः । यत्सन्निधानादात्मा[3] द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामविशेष उपयोगः । अत्रापि 'भावेन्द्रियम्' इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । भावशब्दोऽनुपसर्जनार्थः[4] । यथैवेन्दनधर्मयोगित्वेनानुपचरितेन्द्रत्वो भावेन्द्र उच्यते तथैवेन्द्रलिङ्गत्वादिधर्मयोगेनानुपचरितेन्द्रलिङ्गत्वादिधर्मयोगि 'भावेन्द्रियम्' ।

§८६. तत्र लब्धिस्वभावं तावदिन्द्रियं स्वार्थसंवित्तावात्मनो योग्यतामादधद्भावेन्द्रियतां प्रतिपद्यते । नहि तत्रायोग्यस्य तदुत्पत्तिराकाशवदुपपद्यते स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिरिति । उपयोगस्वभावं पुनः स्वार्थसंविदि व्यापारात्मकम् । नह्यव्यापृतं स्पर्शनादिसंवेदनं स्पर्शादि[5] प्रकाशयितुं शक्तम्, सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाशकत्वप्राप्तेः ।

---

१ द्वाविंशतितमं त्रयोविंशतितमं च सूत्रद्वयमेकत्वेन ता-मू० प्रतौ दृश्यते । २ -०लब्ध्ययोग्यतया सिद्धेः-ता० । ३ -०धानाद्ध्यात्मा-डे० । ०धानाद्धयात्मा-मु० । ४ प्राधान्यार्थः । ५ स्पर्शादि०-ता० ।

§ ८७. स्वार्थप्रकाशने व्यापृतस्य संवेदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिन्द्रियत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; कारणधर्मस्य कार्येऽनुवृत्तेः । नहि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येन्द्रियत्वम्, तेनैव फलत्वमिष्यते येन विरोधः स्यात् । साधकतमस्वभावेन हि तस्येन्द्रियत्वं क्रियारूपतया च फलत्वम् । यथैव हि प्रदीपः प्रकाशात्मना प्रकाशयतीत्यत्र साधकतमः प्रकाशात्मा करणम्, क्रियात्मा फलम्, स्वतन्त्रत्वाच्च कर्त्तेति सर्वमिदमनेकान्तवादे न दुर्लभमित्यलं प्रसङ्गेन॥२३॥

§ ८८. 'मनोनिमित्तः' इत्युक्तमिति मनो लक्षयति—

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥२४॥

§ ८९. सर्वे न तु स्पर्शनादीनां स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्तेऽनेनेति 'सर्वार्थग्रहणं मनः' 'अनिन्द्रियम्' इति 'नोइन्द्रियम्' इति चोच्यते । सर्वार्थं मन इत्युच्यमाने आत्मन्यपि प्रसङ्ग इति करणत्वप्रतिपादनार्थं 'ग्रहणम्' इत्युक्तम् । आत्मा तु कर्त्तेति नातिव्याप्तिः, सर्वार्थग्रहणं च मनसः प्रसिद्धमेव । यत् वाचकमुख्यः "श्रुतमनिन्द्रियस्य ।" [तत्त्वा० २.२२] श्रुतमिति हि विषयिणा विषयस्य निर्देशः । उपलक्षणं च श्रुतं मतेः तेन मतिश्रुतयोर्यो विषयः स मनसो विषय इत्यर्थः । "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" [तत्त्वा० १.२७] इति वाचकवचनान्मतिश्रुतज्ञानयोः सर्वविषयत्व मिति मनसोऽपि सर्वविषयत्वं सिद्धम् ।

§ ९०. मनोऽपि पञ्चेन्द्रियवद् द्रव्यभावभेदात् द्विविधमेव। तत्र द्रव्यमनो मनस्त्वेन परिणतानि पुद्गलद्रव्याणि। भावमनस्तु तदावरणीयकर्मक्षयोपशमात्मा लब्धिरात्मनश्चार्थग्रहणोन्मुखो व्यापारविशेष इति ॥२४॥

§ ९१. नन्वल्पमिदमुच्यते 'इन्द्रियमनोनिमित्तः' इति । अन्यदपि हि चक्षुर्ज्ञानस्य निमित्तमर्थ आलोकश्चास्ति, यदाहुः—

"रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रजायते ।
विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोशकृद्भ्य इवानलः ॥"

इत्यत्राह—

नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥२५॥

§ ९२. बाह्यो विषयः प्रकाशश्च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणम्, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते, ज्ञानावरणादिक्षयोपशमसामर्थ्यामादुपकारित्वेनाञ्जनादिवच्चक्षुरुपकारित्वेन चाभ्युपगमात् । कुतः पुनः साक्षान्न कारणत्वमित्याह—'अव्यतिरेकात्' व्यतिरेकाभावात् । न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम्,

---

१ निबन्धः सर्वद्रव्ये०— तत्त्वा० । २ मनोपि चेन्द्रि०—दे० । ३ संप्रवर्तते ।

अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि । न चासावर्थालोकयोर्हेतुभावेऽस्ति; मरुमरीचिकादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानस्य, वृषदंशादीनां चालोकाभावेऽपि सान्द्रतमतमःपटलविलिप्तदेशगतवस्तुग्रतिपत्तेश्च दर्शनात् । योगिनां चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य[1] निमित्तत्वम् ? । निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः ।

§ ९३. न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वम्[2], प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वदर्शनात् । ईश्वरज्ञानस्य च नित्यत्वेनाभ्युपगतस्य कथमर्थजन्यत्वं नाम ? । अस्मदादीनामपि जनकस्यैव ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः । येषां चैकान्तक्षणिकोऽर्थो जनकश्च ग्राह्यो[3] इति दर्शनम् तेषामपि जन्यजनकयोर्ज्ञानार्थयोर्भिन्नकालत्वान्न ग्राह्यग्राहकभावः सम्भवति । अथ न जन्यजनकभावातिरिक्तः सन्दंशायोगोलकवत् ज्ञानार्थयोः कश्चिद् ग्राह्यग्राहकभाव इति मतम्[4] ,

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्" [प्रमाणवा० ३. २४७]

इति वचनात् ; तर्हि सर्वज्ञज्ञानस्य वार्तमानिकार्थविषयत्वं न कथञ्चिदुपपद्यते वार्तमानिकक्षणस्याजनकत्वात् अजनकस्य चाग्रहणात् । स्वसंवेदनस्य च स्वरूपाजन्यत्वे कथं ग्राहकत्वं स्वरूपस्य वा कथं ग्राह्यत्वमिति चिन्त्यम् । तस्मात्[5] स्वस्वसामग्रीप्रभवयोर्दीपप्रकाशघटयोरिव ज्ञानार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्भवान्न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थालोकयोरिति स्थितम् ।

§ ९४. नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था ?, तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते, तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् ; नैवम्; तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः । तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्याश्रयणीया, अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः । तदाकारता स्वर्थाकारसङ्क्रान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् । अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यमित्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साभ्युपेया । अतः[6]–

"अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम्" [प्रमाण वा० ३.३०५]

इति यत्किञ्चिदेतत् ।

§ ९५. अपि च व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम् । यदि व्यस्ते; तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति, तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च । अथ समस्ते; तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति । ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्; तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरपूर्वज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत । तत्र योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारणं पश्यामः ॥ २५ ॥

---

१ °विलुप्त० । २ किमर्थनिमि०-ता० । ३ प्रका···दात्म०–ता० । ४ ग्राह्यत इति-डे० । ५ सार्वज्ञ०–डे० । ६ तस्मात् स्वसाम०–डे० । ७ –०प्रभवयोः प्रका०–डे । ८ –०णाम स एवाभ्यु०–ता० । ९ –०पेया ततः–डे० ।

§ ९६. 'अवग्रहेहावायधारणात्मा' इत्युक्तमिस्यवग्रहादीँल्लक्षयति—

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥ २६ ॥

§ ९७. 'अक्षम्' इन्द्रियं द्रव्यभावरूपम्, 'अर्थः' द्रव्यपर्यायात्मा तयोः 'योगः' सम्बन्धोऽनतिदूरासन्नव्यवहितदेशाद्यवस्थानलक्षणा योग्यता । नियता हि सा विषयविषयिणोः, यदाह,

"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासए अपुट्ठं तु ॥" [आव० नि० ५]

इत्यादि । तस्मिन्नक्षार्थयोगे सति 'दर्शनम्' अनुल्लिखितविशेषस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः । तदनन्तरमिति क्रमप्रतिपादनार्थमेतत् । एतेन दर्शनस्यावग्रहं प्रति परिणामितोक्ता, नह्यसत एव सर्वथा कस्यचिदुत्पादः, सतो वा सर्वथा विनाश इति दर्शनमेवोत्तरं परिणामं प्रतिपद्यते । 'अर्थस्य' द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थक्रियाक्षमस्य 'ग्रहणम्', 'सम्यगर्थनिर्णयः' इति सामान्यलक्षणानुवृत्तेर्निर्णयो न पुनरविकल्पकं दर्शनमात्रम् 'अवग्रहः' ।

§ ९८. न चायं मानसो विकल्पः, चक्षुरादिसन्निधानापेक्षत्वात् प्रतिसङ्ख्यानेनाप्रत्याख्येयत्वाच्च । मानसो हि विकल्पः प्रतिसङ्ख्यानेन निरुध्यते, न चायं तथेति न विकल्पः ॥ २६ ॥

अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥ २७ ॥

§ ९९. अवग्रहगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य 'किमयं शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा' इति संशये सति 'माधुर्यादयः शाङ्खधर्मा एवोपलभ्यन्ते न कार्कश्यादयः शार्ङ्गधर्माः' इत्यन्वयव्यतिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा मतिश्चेष्टा 'ईहा' । इह चावग्रहेहयोरन्तराले अभ्यस्तेऽपि विषये संशयज्ञानमस्त्येव आशुभावात्तु नोपलक्ष्यते । न तु प्रमाणम्, सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वाभावात् ।

§ १००. ननु परोक्षप्रमाणभेदरूपमूहाख्यं प्रमाणं वक्ष्यते तत्कस्तस्मादीहाया भेदः ? । उच्यते—त्रिकालगोचरः साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणपटुरूहो यमाश्रित्य "**व्याप्तिग्रहणकाले योगीव सम्पद्यते प्रमाता**" इति न्यायविदो वदन्ति । ईहा तु वार्त्तमानिकार्थविषया प्रत्यक्षप्रभेद इत्यपौनरुक्त्यम् ।

§ १०१. ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्याः । न चानिर्णयरूपत्वादप्रमाणत्वमस्याः शङ्कनीयम्; स्वविषयनिर्णयरूपत्वात्, निर्णयान्तरासाद्ये निर्णयान्तराणामप्यनिर्णयत्वप्रसङ्गः ॥२७॥

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ २८ ॥

§ १०२. ईहाक्रोडीकृते वस्तुनि विशेषस्य 'शाङ्ख एवायं शब्दो न शार्ङ्गः' इत्येवंरूपस्यावधारणम् 'अवायः' ॥ २८ ॥

---

१ पारिणामिककारणतोक्ता-डे० । २ बौद्धानामिव । ३ अनिराकार्यत्वात् । ४ विशेषार्थचिन्तनेन । ५-०विशेषका०-डे० । ६ शङ्ख०-डे० । ७ स्वविषये निर्णयत्वात्-डे० ।

स्मृतिहेतुर्धारणा ॥ २९ ॥

§१०३. 'स्मृतेः' अतीतानुसन्धानरूपायाः 'हेतुः' परिणामिकारणम्, संस्कार इति यावत्, सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं ज्ञानस्यावस्थानं 'धारणा' । अवग्रहादयस्तु त्रय आन्तर्मौहूर्त्तिकाः ।

§१०४. संस्कारस्य च प्रत्यक्षभेदरूपत्वात् ज्ञानत्वमुन्नेयम्, न पुनर्यथाहुः परे– "ज्ञानादतिरिक्तो भावनाख्योऽयं संस्कारः" इति । अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, नहि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति । अज्ञानरूपत्वे चास्यात्मधर्मत्वं न स्यात्, चेतनधर्मस्याचेतनत्वाभावात् ।

§१०५. नन्वविच्युतिमपि धारणामन्वशिषन् वृद्धाः, यद्भाष्यकारः–"अविचुई धारणा होई" [विशेषा० गा० १८०] तत्कथं स्मृतिहेतोरेव धारणात्वमङ्गत्रयः ? । सत्यम्, अस्त्यविच्युतिर्नाम धारणा, किन्तु साऽवाय एवान्तर्भूतेति न पृथगुक्ता । अवाय एव हि दीर्घदीर्घोऽविच्युतिर्धारणेत्युच्यत इति । स्मृतिहेतुत्वाद्वाऽविच्युतिर्धारणयैव सङ्गृहीता । न ह्यवायमात्रादविच्युतिरहितात् स्मृतिर्भवति, गच्छत्तृणस्पर्शप्रायाणामवायानां परिशीलनविकलानां स्मृतिजनकत्वादर्शनात् । तस्मात् स्मृतिहेतू अविच्युतिसंस्कारावनेन सङ्गृहीतावित्यदोषः । यद्यपि स्मृतिरपि धारणाभेदत्वेन सिद्धान्तेऽभिहिता तथापि परोक्षप्रमाणभेदत्वादिह नोक्तेति सर्वमवदातम् ।

§१०६. इह च क्रमभाविनामप्यवग्रहादीनां कथञ्चिदेकत्वमवसेयम् । विरुद्धधर्माध्यासो ह्येकत्वप्रतिपत्तिपरिपन्थी । न चाऽसौ प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रत्यर्थितां भजते । अनुभूयते हि खलु हर्षविषादादिविरुद्धविवर्त्ताक्रान्तमेकं चैतन्यम् । विरुद्धधर्म्माध्यासाच्च बिभ्यद्भिरपि कथमेकं चित्रपटी ज्ञानमेकानेकाकारोल्लेखशेखरमभ्युपगम्यते सौगतैः, चित्रं वा रूपं नैयायिकादिभिरिति ? ।

§१०७ नैयायिकास्तु–"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्या० १. १. ४.] इति प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते । अत्र च पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन सङ्ख्यावद्भिस्त्रिलोचनवाचस्पतिप्रमुखैरयमर्थः समर्थितो यथा–इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्येव प्रत्यक्षलक्षणम् । 'यतः'-शब्दाध्याहारेण च यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादुक्तविशेषणविशिष्टं ज्ञानं यतो भवति तत् तथाविधज्ञानसाधनं ज्ञानरूपमज्ञानरूपं वा प्रत्यक्षं प्रमाणमिति । अस्य च फलभूतस्य ज्ञानस्य द्वयी गतिरविकल्पं सविकल्पं च । तयोरुभयोरपि प्रमाणरूपत्वमभिधातुं विभागवचनमेतत् 'अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकम्' इति ।

§१०८. तत्रोभयरूपस्यापि ज्ञानस्य प्रामाण्यमुपेक्ष्य 'यतः'शब्दाध्याहारक्लेशेनाऽज्ञानरूपस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यसमर्थनमयुक्तम् । कथं ह्यज्ञानरूपाः सन्निकर्षादयोऽर्थपरि-

१ वैशेषिकाः । २ धारणा तस्स-विशेषा० । ३ –०दविच्युतिनिर०–डे० । ४ –०दीर्घ ज्ञान०–डे० । ५ –०त्येवं प्र०–डे० । ६ –०त्मकं स०–डे । ७ –०त्मकं वा । तयो० –डे० ।

च्छिसौ साधकतमा भवन्ति व्यभिचारात्[1], सत्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षेऽर्थोपलब्धेरभावात् । ज्ञाने सत्येव भावात्, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिति ।

§ १०९. सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्तः संयोगादिसम्बन्धस्तर्हि स चक्षुषोऽर्थेन सह नास्ति अप्राप्यकारित्वात्तस्य । दृश्यते हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितस्यार्थस्य चक्षुषोपलब्धिः । अथ प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद्वास्यादिवदिति ब्रूषे; तर्ह्ययस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः । न च संयुक्तसंयोगादिः सन्निकर्षस्तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसङ्गादिति ।

§ ११०. सौगतास्तु "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायवि० १.४] इति लक्षणमवोचन् । "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना तया रहितमे"—[न्यायवि० १.५,६] कल्पनापोढम् इति । एतच्च व्यवहारानुपयोगित्वात्प्रमाणस्य लक्षणमनुपपन्नम्, तथाहि एतस्माद्विनिश्चित्यार्थमर्थक्रियार्थिनस्तत्समर्थेऽर्थे प्रवर्तमाना विसंवादभाजो मा भूवन्निति प्रमाणस्य लक्षणपरीक्षायां प्रवर्तन्ते परीक्षकाः । व्यवहारानुपयोगिनश्च तस्य वायससदसद्दर्शनपरीक्षायामिव निष्फलः परिश्रमः । निर्विकल्पोत्तरकालभाविनः सविकल्पकात्तु व्यवहारोपगमे वरं तस्यैव प्रामाण्यमास्थेयम्, किमविकल्पकेन शिखण्डिनेति ? ।

§ १११. जैमिनीयास्तु धर्मं प्रति अनिमित्तत्वव्याजेन "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" [जैमि० १.१.४] इत्यनुवादभङ्ग्या प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते, यदाहुः—

"एवं सत्यनुवादित्वं लक्षणस्यापि सम्भवेत् ।" [श्लोकवा० सू० ४.३९]

इति । व्याचक्षते च—इन्द्रियाणां सम्प्रयोगे सति पुरुषस्य जायमाना बुद्धिः प्रत्यक्षमिति ।

§ ११२. अत्र संशयविपर्ययबुद्धिजन्मनोऽपीन्द्रियसंप्रयोगे सति प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिः । अथ 'सत्सम्प्रयोग' इति सता सम्प्रयोग इति व्याख्यायते तर्हि निरालम्बनविभ्रमा एवार्थनिरपेक्षजन्मानो निरस्ता भवेयुर्न सालम्बनौ संशयविपर्ययौ । अथ सति सम्प्रयोग इति सत्सप्तमीपक्ष एव न त्यज्यते संशयविपर्ययनिरासाय च 'सम्प्रयोग' इत्यत्र 'सम्' इत्युपसर्गो वर्ण्यते, यदाह—

"सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात्" [श्लोकवा० सू० ४. ३८-९]

१ काचाभ्रपटलस्फ०-डे० । २ -०स्यार्थस्य-डे० । ३ -०न्निकर्षेण व्य०-ता० । ४ -०गादिसन्नि० -डे० । ५ रहितम् तथापोढम्-डे० । रहितम् तयापोढम् -मु० । ६ वाससदसत्(वाससदसान)परी० -ता० ।

७ एतत्समानम्—काकस्य कति वा दन्ता मेषस्याण्डं किमत्यलम् ।
गर्दभे कति रोमाणीत्येषा मूर्खविचारणा ॥ -मु-टि०

८ शिखण्डिन्—स्वयंवरे वृतेन भीष्मेणापाकृता काचिदम्बानाम्नी राजकन्या तपसा पुरुषत्वं प्राप्ता । सैव शिखण्डीति संज्ञया व्यवजहे । सा च स्त्रीपूर्वत्वान्निन्दास्पदम् । ततो भारते युद्धे तं पुरस्कृत्यार्जुनो भीष्मं जघान । सोऽपि च शिखण्डी पश्चादश्वत्थाम्ना हतः । -मु-टि० । ९ -०वादत्वं-मु० । १० -०संयोगे-डे० ।

इति; तथापि प्रयोगसम्यक्त्वस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षानवगम्यत्वात्कार्यतोऽवगतिर्वक्तव्या। कार्यं च ज्ञानम् न च तदविशेषितमेव प्रयोगसम्यक्त्वावगमनायालम् । न च तद्विशेषणपरमपरमिह पदमस्ति । सतां सम्प्रयोगइति च वरं निरालम्बनविज्ञाननिवृत्तये, 'सति' इति तु सामर्थ्येन व्यर्थमेवम् ।

§ ११३. येऽपि "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षं यद्विषयं ज्ञानं तेन सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षं यदन्यविषयज्ञानमन्यसम्प्रयोगे भवति न तत्प्रत्यक्षम् ।" [शाबरभा० १.१.५] इत्येवं तैस्ततोऽर्थस्यथेन लक्षणमनवद्यमित्याहुः, तेषामपि क्लिष्टकल्पनैव, संशयज्ञानेन व्यभिचारानिवृत्तेः । तत्र हि यद्विषयं ज्ञानं तेन सम्प्रयोग इन्द्रियाणामस्त्येव । यद्यपि चोभयविषयं संशयज्ञानं तथापि तयोरन्यतरेणेन्द्रियं संयुक्तमेव उभयावमर्शित्वाच्च संशयस्य येन संयुक्तं चक्षुस्तद्विषयमपि तज्ज्ञानं भवत्येवेति नातिव्याप्तिपरिहारः । अव्याप्तिश्च चाक्षुषज्ञानस्येन्द्रियसम्प्रयोगजत्वाभावात् । अप्राप्यकारि च चक्षुरित्युक्तप्रायम् ।

§ ११४. "श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्" इति वृद्धसाङ्ख्याः । अत्र श्रोत्रादीनामचेतनत्वात्तद्वृत्तेः सुतरामचैतन्यमिति कथं प्रमाणत्वम् ? । चेतनसंसर्गात्तच्चैतन्याभ्युपगमे वरं चित एव प्रामाण्यमभ्युपगन्तुं युक्तम् । न चाविकल्पकत्वे प्रामाण्यमस्तीति यत्किञ्चिदेतत् ।

§ ११५. "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" [सां०का०५] इति प्रत्यक्षलक्षणमितीश्वरकृष्णः । तदप्यनुमानेन व्यभिचारित्वादलक्षणम् । अथ 'प्रतिः' आभिमुख्ये वर्तते तेनाभिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमित्युच्यते; तदप्यनुमानेन तुल्यम् घटोऽयमितिवदयं पर्वतोऽग्निमानित्याभिमुख्येन प्रतीतेः । अथ अनुमानादिविलक्षणो अभिमुखोऽध्यवसायः प्रत्यक्षम् ; तर्हि प्रत्यक्षलक्षणमकरणीयमेव शब्दानुमानलक्षणविलक्षणतयैव तत्सिद्धेः ।

§ ११६. ततश्च परकीयलक्षणानां दुष्टत्वादिदमेव 'विशदः प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम् ॥ २९ ॥

§ ११७. प्रमाणविषयफलप्रमातृरूपेषु चतुर्षु विधिषु तत्त्वं परिसमाप्यत इति विषयादिलक्षणमन्तरेण प्रमाणलक्षणमसम्पूर्णमिति विषयं लक्षयति—

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥ ३० ॥

§ ११८. प्रत्यक्षस्य प्रकृतत्वात्तस्यैव विषयादौ लक्षयितव्ये 'प्रमाणस्य' इति प्रमाणसामान्यग्रहणं प्रत्यक्षवत् प्रमाणान्तराणामपि विषयादिलक्षणमिहैव वक्तुं युक्तमविशेषात्तथा च लाघवमपि भवतीत्येवमर्थम् । जातिनिर्देशाच्च प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां 'विषयः' गोचरो 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु' । द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम् ।

१ सता सम्प्र–ता० डे० । २ तेनैव सम्प्र० –मु–पा० । ३ तत्सर्वतोऽव्य०–डे० । ४ –०कल्पत्वे–डे० ।
५ दृष्टमिति प्रत्य०–ता० । ६ विधेषु इत्यपि पठितुं शक्यं ता० प्रतौ । ७ –०मर्थं जाति०–डे० ।

पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्ध्वतासामान्यमिति यावत् । परियन्त्युत्पादविनाशधर्म्माणो भवन्तीति पर्याया विवर्ताः । तच्च ते चात्मा स्वरूपं यस्य तत् द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु, परमार्थसदित्यर्थः, यद्वाचकमुख्यः–"**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**" [तत्त्वा० ५.२९] इति, पारमर्षमपि "**उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा**" इति ।

§ ११९. तत्र 'द्रव्यपर्याय'ग्रहणेन द्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तवादिपरिकल्पितविषयव्युदासः । 'आत्म'ग्रहणेन चात्यन्तव्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायवादिकाणादयौगाभ्युपगतविषयनिरासः । यच्छ्रीसिद्धसेनः–

"**दोहिं वि नएहिं नीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं ।**
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खं" ॥ [सन्म० ३. ४९] त्ति ॥३०॥

§ १२०. कुतः पुनर्द्रव्यपर्यायात्मकमेव वस्तु प्रमाणानां विषयो न द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रमुभयं वा स्वतन्त्रम् ? इत्याह–

अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥ ३१ ॥

§ १२१. 'अर्थस्य' हानोपादानादिलक्षणस्य 'क्रिया' निष्पत्तिस्तत्र 'सामर्थ्यात्', द्रव्यपर्यायात्मकस्यैव वस्तुनोऽर्थक्रियासमर्थत्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

§ १२२. यदि नामैवं ततः किमित्याह–

तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥ ३२ ॥

§ १२३. 'तद्' अर्थक्रियासामर्थ्यं 'लक्षणम्' असाधारणं रूपं यस्य तत् तल्लक्षणं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । कस्य ? । 'वस्तुनः' परमार्थसतो रूपस्य । अयमर्थः–अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रमाणमन्वेषते, अपि नामेतः प्रमेयमर्थक्रियाक्षमं विनिश्चित्य कृतार्थो भवेयमिति न व्यसनितया । तद्यदि प्रमाणविषयोऽर्थोऽर्थक्रियाक्षमो न भवेत्तदा नासौ प्रमाणपरीक्षणमाद्रियेत । यदाह–

"**अर्थक्रियाऽसमर्थस्य विचारैः किं तदर्थिनाम् ।**
षण्ढस्य रूपवैरूप्ये कामिन्याः किं परीक्षया ? ॥" [प्रमाणवा० १.२१५] इति ।

§ १२४. तत्र न द्रव्यैकरूपोऽर्थोऽर्थक्रियाकारी, स ह्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः कथमर्थक्रियां कुर्वीत क्रमेणाक्रमेण वा ?, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न क्रमेण; स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्; न तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्, "**सापेक्षमसमर्थम्**" [पात० महा० ३.१.८] इति हि किं नाश्रौषीः ? । न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्तेऽपि तु

१ ध्रौव्याणां योगः । २ अणनिर०–मु० । अणुणनिर०–डे० । ३ निरपेक्षौ नयौ । ४ एकत्रिंशत्तमं द्वात्रिंशत्तमं च सूत्रद्वयं सं–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते –सम्पा० । ५ –०क्रियार्थसम०–डे० । ६ –०त्वाद्वा वस्तुनः–सं–मू० । ७ प्रमाणान्वेषणभावनायाम् । ८ यदाहुः–ता० । ९ सामर्थ्ये पर०–ता० ।

कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्; तत्किं स भावोऽसमर्थः ?। समर्थश्चेत्; किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति ?। ननु समर्थमपि बीजमिलाजलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा; तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत, न वा ?। नो चेत्; स किं पूर्ववन्नोदास्ते। उपक्रियेत चेत्; स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते इति निर्वचनीयम्। अभेदे स एव क्रियते इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता। भेदे स कथं तस्योपकारः ?, किं न सह्यविन्ध्यादेरपि ?। तत्सम्बन्धात्तस्यायमिति चेत्; उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः ?। न संयोगः; द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। नापि समवायस्तस्य प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वं युक्तम्, तत्त्वे वा तत्कृत उपकारोऽस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वम्। नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वे समवायस्य विशेषणविशेष्यभावो हेतुरिति चेत्; उपकार्योपकारकभावाभावे तस्यापि प्रतिनियमहेतुत्वाभावात्। उपकारे तु पुनर्भेदाभेदविकल्पद्वारेण तदेवावर्तते। तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते।

§ १२५. नाप्यक्रमेण। न ह्येको भावः सकलकालकलाभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात् ?। करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणेऽनर्थक्रियाकारित्वादवस्तुत्वप्रसङ्गः — इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति तदपि स्वव्याप्यं सत्त्वमित्यसन् द्रव्यैकान्तः।

§ १२६. पर्यायैकान्तरूपोऽपि प्रतिक्षणविनाशी भावो न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न चैकान्तविनाशिनि सास्ति। यदाहुः—

> "यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
> न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥"

§ १२७. न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति, सन्तानस्याऽवस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वम्; सुस्थितः पर्यायैकान्तवादः ! यदाहुः—

१ कार्याणि। २ बीजमिलादि०–डे०। ३ क्रियेत इति–डे०। ४ –०न्त्याद्विर०–डे०। ५ नियतसम्बन्धिकृतः। ६ समवायस्य। ७ ०–त्वम् सम्बन्धत्वे –डे०। ८ नियतसम्बन्धिनोर्थजोपकारयोः सम्बन्धत्वेऽनयोः समवाय इति विशेषणविशेष्यभावः। ९ कलाशब्देनांशाः। १० स हि कालान्तरभाविनीः क्रिया इत्यादिको ग्रन्थ आवर्तनीयः। ११ तदप्यर्थक्रियाकारित्वं व्यापकं निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयति। १२ कर्तरि षष्ठी। १३ पर्यायैकान्तवादे। १४ –०त्वं न सु०–डे०। १५ यदुक्तम्–डे०।

"अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्ताननामानमुपैषि भावम् ।
उत्तिष्ठ भिक्षो ! फलितास्तवाशाः सोऽयं समासः क्षणभङ्गवादः ॥"

[न्यायम० पृ० ४६४] इति ।

§ १२८. नाप्यक्रमेण क्षणिकेऽर्थक्रिया सम्भवति । स ह्येको रूपादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् यद्येकेन स्वभावेन जनयेत्तदा तेषामेकत्वं स्यादेकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति – किञ्चिदुपादानभावेन किञ्चित् सहकारित्वेन; ते तर्हि स्वभावास्तस्यात्मभूता अनात्मभूता वा ? । अनात्मभूताश्चेत् ; स्वभावहानिः । यदि तस्यात्मभूताः; तर्हि तस्यानेकत्वं स्वभावानां वैकत्वं प्रसज्येत । अथ य एवैकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते; तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च मा भूत् । अथाक्रमात् क्रमिणामनुत्पत्तेर्नैवमिति चेत्; एकानंशकारणात् युगपदनेककारणसाध्यानेककार्यविरोधात् क्षणिकानामप्यक्रमेण कार्यकारित्वं मा भूदिति पर्यायैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्याऽर्थक्रियापि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तत इत्यसन् पर्यायैकान्तोऽपि ।

§ १२९. काणादास्तु द्रव्यपर्यायावुभावप्युपागमन् पृथिव्यादीनि गुणाद्याधाररूपाणि द्रव्याणि, गुणादयस्त्वाधेयत्वात्पर्यायाः । ते च केचित् क्षणिकाः, केचिद्यावद्द्रव्यभाविनः, केचिन्नित्या इति केवलमितरेतरविनिर्लुठितधर्मिधर्माभ्युपगमान्न समीचीनविषयवादिनः । तथाहि–यदि द्रव्यादत्यन्तविलक्षणं सत्त्वं तदा द्रव्यमसदेव भवेत् । सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्; असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम् ?, सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्; तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन ? । सत्तायोगात् प्राक् भावो न सन्नाप्यसन्, सत्तासम्बन्धात्तु सन्निति चेत्; वाङ्मात्रमेतत्, सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात् । अपि च 'पदार्थः सत्ता योगः' इति न त्रितयं चकास्ति । पदार्थसत्तयोश्च योगो यदि तादात्म्यम्, तदनभ्युपगमबाधितम् । अत एव न संयोगः, समवायस्त्वनाश्रित इति सर्वं सर्वेण सम्बध्नीयान्न वा किञ्चित् केनचित् । एवं द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वादिभिः, द्रव्यस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषैः, पृथिव्यप्तेजोवायूनां पृथिवीत्वादिभिः, आकाशादीनां च द्रव्याणां स्वगुणैर्योगो यथायोगं सर्वमभिधानीयम्, एकान्तभिन्नानां केनचित् कथञ्चित् सम्बन्धायोगात् इत्यौलूक्यपक्षेऽपि विषयव्यवस्था दुःस्था ।

१ –०ता तथा०–डे० । २ बीजपूरादौ । ३ युगपदेकान्–ता० । ४ नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेणेत्यादिको ग्रन्थो न घटते । ५ न हि एकांश उपादानस्वरूपोऽन्यश्च सहकारिस्वरूपो भवन्मतेऽस्ति । ६ –०मेणाकारि० –डे० । ७ –०नुभावप्युपा०–डे० । ८ गुणादयः । ९ घटरूपादयः । १० आप्यरूप्या(पा)दयः [जलादिपरमाणुरूपादीनां नित्यत्वात्] । ११ –०मिश्र० । १२ –०र्थस०–डे० । १३ अनभ्युपगमबाधितत्वात् एव । १४ संयोगो हि द्रव्ययोरेव । १५ आदेर्गुणत्वकर्मत्वे । १६ केनचित् सम्ब०–ता० मु० ।

§ १३०. ननु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनस्तदवस्थमेव दौरध्यम्; तथाहि—द्रव्यपर्याययोरैकान्तिकभेदाभेदपरिहारेण कथञ्चिद्भेदाभेदवादः स्याद्वादिभिरुपेयते, न चासौ युक्तो विरोधादिदोषात्—विधिप्रतिषेधरूपयोरेकत्र वस्तुन्यसम्भवान्नीलानीलवत् १। अथ केनचिद्रूपेण भेदः केनचिदभेदः; एवं सति भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् २। यं चात्मानं पुरोधाय भेदो यं चाश्रित्याभेदस्तावप्यात्मानौ भिन्नाभिन्नावन्यथैकान्तवादप्रसक्तिस्तथा च सत्यनवस्था ३। येन च रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्च येन चाभेदस्तेनाप्यभेदश्च भेदश्चेति सङ्करः ४। येन रूपेण भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनो विविक्तेनाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ६। ततश्चाप्रतिपत्तिः ७ इति न विषयव्यवस्था ८। नैवम्; प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधस्यासम्भवात्। यत्सन्निधाने यो नोपलभ्यते स तस्य विरोधीति निश्चीयते। उपलभ्यमाने च वस्तुनि को विरोधगन्धावकाशः ?। नीलानीलयोरपि यद्येकत्रोपलम्भोऽस्ति तदा नास्ति विरोधः। एकत्र चित्रपटज्ञाने सौगतैर्नीलानीलयोर्विरोधानभ्युपगमात्, यौगैश्चैकस्य चित्रस्य रूपस्याभ्युपगमात्, एकस्यैव च पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः प्रकृते को विरोधशङ्कावकाशः ?। एतेन वैयधिकरण्यदोषोऽप्यपास्तः; तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रागुक्तयुक्तिदिशा प्रतीतेः। यदप्यनवस्थानं दूषणमुपन्यस्तम् तदप्यनेकान्तवादिमतानभिज्ञेनैव, तन्मतं हि द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यपर्यायावेव भेदः भेदध्वनिना तयोरेवाभिधानात्, द्रव्यरूपेणाभेदः इति द्रव्यमेवाभेदः एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः। यौ च सङ्करव्यतिकरौ तौ भेदकज्ञाननिदर्शनेन सामान्यविशेषदृष्टान्तेन च परिहृतौ। अथ तत्र तथाप्रतिभासः समाधानम्; परस्यापि तदेवास्तु प्रतिभासस्यापक्षपातित्वात्। निर्णीते चार्थे संशयोऽपि न युक्तः, तस्य सकम्पप्रतिपत्तिरूपत्वादकम्पप्रतिपत्तौ दुर्घटत्वात्। प्रतिपन्ने च वस्तुन्यप्रतिपत्तिरिति साहसम्। उपलब्ध्यभिधानादनुपलम्भोऽपि न सिद्धस्ततो नाभाव इति दृष्टेष्टाविरुद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्त्विति ॥३२॥

§ १३१. ननु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनः कथमर्थक्रिया नाम ?। सा हि क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ता द्रव्यपर्यायैकान्तवदुभयात्मकादपि व्यावर्तताम्। शक्यं हि वक्तुमुभयात्मा भावो न क्रमेणार्थक्रियां कर्तुं समर्थः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। न च सहकार्यपेक्षा युक्ता, द्रव्यस्याविकार्यत्वेन सहकारिकृतोपकारनिरपेक्षत्वात्। पर्यायाणां च क्षणिकत्वेन पूर्वापरकार्यकालाप्रतीक्षणात्। नाप्यक्रमेण, युगपद्धि सर्वकार्याणि कृत्वा पुनरकुर्वतोऽनर्थ-

---

१ भेदाभेदरूपयोः। २ स्वभावम्। ३ युगपदुभयप्राप्तिः सङ्करः। ४ परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। ५ छायेवातपस्य। ६ परोक्षदृष्टान्तं दूषयन्नाह। ७ योगः प्रत्याहारादिस्तं वेत्त्यधीते वा यौगः "तद्वेत्त्यधीते" [हैमश० ६. २. ११७] इत्यण्। ८ चित्ररूपस्य एकस्माऽवयविनोऽभ्युपगमात्। ९ एकस्यैव पटा० -वे०। १० विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्। ११ द्रव्यपर्यायात्मा। १२ प्रथमद्वितीयकार्य(र्ये)योः कालः।

क्रियाकारित्वादसत्त्वम्, कुर्वतः क्रमपक्षभावी दोषः । द्रव्यपर्यायवादयोश्च यो दोषः स उभयवादेऽपि समानः—

"प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः ?"

इति वचनादित्याह—

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन नास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

§ १३२. 'पूर्वोत्तरयोः' 'आकारयोः' विवर्तयोर्यथासङ्ख्येन यौ 'परिहारस्वीकारौ' ताभ्यां स्थितिः सैव 'लक्षणम्' यस्य स चासौ परिणामश्च, तेन 'अस्य' द्रव्यपर्यायात्मकस्यार्थक्रियोपपद्यते ।

§ १३३. अयमर्थः—न द्रव्यरूपं न पर्यायरूपं नोभयरूपं वस्तु, येन तत्तत्पक्षभावी दोषः स्यात्, किन्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकं शबलं जात्यन्तरमेव वस्तु । तेन तत्तत्सहकारिसन्निधाने क्रमेण युगपद्वा तां तामर्थक्रियां कुर्वतः सहकारिकृतां चोपकारपरम्परामुपजीवतो भिन्नाभिन्नोपकारादिनोदनानुमोदनाप्रमुदितात्मनः उभयपक्षभाविदोषशङ्काकलङ्काऽकान्दिशीकस्य भावस्य न व्यापकानुपलब्धिबलेनार्थक्रियायाः, नापि तस्याः सत्त्वस्य निवृत्तिरिति सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमाणस्य विषयः ॥३३॥

§ १३४. फलमाह—

फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥

§ १३५. 'प्रमाणस्य' इति वर्तते, प्रमाणस्य 'फलम्' 'अर्थप्रकाशः' अर्थसंवेदनम्; अर्थार्थी हि सर्वः प्रमातेत्यर्थसंवेदनमेव फलं युक्तम् । नन्वेवं प्रमाणमेव फलत्वेनोक्तं स्यात्, ओमिति चेत्, तर्हि प्रमाणफलयोरभेदः स्यात् । ततः किं स्यात् ? । प्रमाणफलयोरैक्ये सदसत्पक्षभावी दोषः स्यात्, नासतः करणत्वं न सतः फलत्वम् । सत्यम्, अस्त्ययं दोषो जन्मनि न व्यवस्थायाम् । यदाहुः—

"नासतो हेतुता नापि सतो हेतोः फलात्मता ।
इति जन्मनि दोषः स्याद् व्यवस्था तु न दोषभाक् ॥" इति ॥३४॥

§ १३६. व्यवस्थामेव दर्शयति—

कर्मस्था क्रिया ॥३५॥

§ १३७. कर्मोन्मुखो ज्ञानव्यापारः फलम् ॥३५॥

१ —०क्षणेन परि० —सं—मू० । २ —०नास्य क्रियो० —सं—मू० । ३ स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायरूपम् । ४ आदेश्यकार्युपकारयोः सम्बन्धः । ५ "कान्दिशीको भयद्रुते"—अभि० चि० ३.३० । ६ क्रमाक्रमौ व्यापकौ तयोः । ७ —०स्यास्य सत्त्व० —डे० । ८ अर्थक्रियाक्षमं वस्तु अत्रार्थशब्देनोच्यते । ९ अविद्यमानप्रमाणस्य । १० फलात् प्रमाणस्याभेदो भवन्मते । ततश्च फलस्य साध्यत्वेनासत्त्वात् प्रमाणस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः । असंश्च न करणं भवति सिद्धस्यैवाङ्गीकारात् । तथा, प्रमाणात् फलस्य यद्यभेदः तदा प्रमाणस्य सत्त्वात् फलमपि सदेव स्याद्विद्यमानस्य च [न] फलत्वं साध्यस्यैव फलत्वाभ्युपगमात् । ११ पञ्चत्रिंशत्तमं षट्त्रिंशत्तमं च सूत्रद्वयं ता—मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते—सम्पा० ।

§ १३८. प्रमाणं किमित्याह–

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

§ १३९. कर्तृस्थापारमुल्लिखन् बोधः प्रमाणम् ॥३६॥

§ १४०. कथमस्य प्रमाणत्वम् ? । करणं हि तत् साधकतमं च करणमुच्यते । अव्यवहितफलं च तदित्याह–

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥

§ १४१. 'तस्याम्' इति कर्तृस्थायां प्रमाणरूपायां क्रियायां 'सत्याम्' 'अर्थप्रकाशस्य' फलस्य 'सिद्धेः' व्यवस्थापनात् । एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात्तु भेद इति भेदाभेदरूपः स्याद्वादमबाधितमनुपतति प्रमाणफलभाव इतीदमखिलप्रमाणसाधारणमव्यवहितं फलमुक्तम् ॥ ३७ ॥

§ १४२. अव्यवहितमेव फलान्तरमाह–

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

§ १४३. प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वं प्रमातुर्विवक्षिते विषये यत् 'अज्ञानम्' तस्य 'निवृत्तिः' फलमित्यन्ये । यदाहुः–

"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥" [न्याया० २८] इति ॥३८॥

§ १४४. व्यवहितमाह–

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥

§ १४५. अवग्रहेहावायधारणास्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानानां क्रमेणोपजायमानानां यद्यत् पूर्वं तत्तत्प्रमाणं यद्यदुत्तरं तत्तत्फलरूपं प्रतिपत्तव्यम् । अवग्रहपरिणामवान् ह्यात्मा ईहारूपफलतया परिणमति इतीहाफलापेक्षया अवग्रहः प्रमाणम् । ततोऽपीहा प्रमाणमवायः फलम् । पुनरवायः प्रमाणं धारणा फलम् । ईहाधारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया । ततो धारणा प्रमाणं स्मृतिः फलम् । ततोऽपि स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं फलम् ।

१ कर्मस्था प्र० – ता–मू० । २ तथाहि कर्मस्था कर्तृस्था चेत् (स्था च) क्रिया प्रतीयते तथा (?) ज्ञानस्यापि । त(य)थाहि वह्निगता तावत् काचिद्दाहिका शक्तिरभ्युपेया यद्व्यापारात् काष्ठानि दग्धानि भवन्ति तथा काष्ठगता दाह्यक्रिया काचिदस्ति यस्यास्तानि भस्मीभवन्ति । एवमन्यत्रापि ज्ञानार्थयोर्भावनीयम् । ३ –०फलं तदि०–डे० । ४ वस्तुत ऐक्येऽपि ज्ञानोन्मुखोऽर्थप्रकाशः अर्थोन्मुखी अज्ञाननिवृत्तिः इति भेदः । ५ अव्यवहितम् । ६ –०पजननधर्मा०–सं–मू० । ७ –०धर्मिणाम्–ता० । ८ एकोनचत्वारिंशत्तमं चत्वारिंशत्तमं च सूत्रद्वयं ता– मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते–सम्पा० । ९ ईहायाश्चेष्टारूपत्वात् धारणायाश्च संस्काररूपत्वात् अज्ञानत्वमिति परस्य अभिसन्धिः । १० ज्ञानमुपादानं ययोर्ज्ञानस्योपादनं वा ।

ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमूहः फलम् । तर्कोऽप्यूहः प्रमाणमनुमानं फलमिति प्रमाण-फलविभाग इति ॥ ३९ ॥

§ १४६. फलान्तरमाह—

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

§ १४७. हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो वा प्रमाणस्य फलम् । फलबहुत्वप्रतिपादनं सर्वेषां फलत्वेन न विरोधो वैवक्षिकैकत्वात् फलस्येति प्रदिपादनार्थम् ॥ ४० ॥

§ १४८. एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिमतपरीक्षार्थमाह—

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

§ १४९. करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेदः । अभेदे प्रमाणफलभेद-व्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत् । अप्रमाणाद्व्यावृत्त्या प्रमाणव्यवहारः, अफलाद्व्यावृत्त्या च फलव्यवहारो भविष्यतीति चेत्; नैवम्; एवं सति प्रमाणान्तराद्व्यावृत्त्याऽप्रमाणव्यवहारः, फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलव्यवहारोऽप्यस्तु, विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्विशेषस्तुनः ।

§ १५०. तथा, तस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः । भेदे त्वात्मान्तरवच्चदनुपपत्तिः । अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणया प्रत्यासत्त्या प्रमाणफल-व्यवस्थितिरिति नात्मान्तरे तत्प्रसङ्ग इति चेत्; नः समवायस्य नित्यत्वाद्व्यापकत्वान्नि-यतात्मवत्सर्वात्मस्वप्यविशेषान्न ततो नियतप्रमातृसम्बन्धप्रतिनियमः तत् सिद्धमेतत् प्रमाणात्फलं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं चेति ॥ ४१ ॥

§ १५१ प्रमातारं लक्षयति—

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

§ १५२. स्वम् आत्मानं परं चार्थमाभासयितुं शीलं यस्य स 'स्वपराभासी' स्वोन्मुख-तयाऽर्थोन्मुखतया चावभासनात् घटमहं जानामीति कर्मकर्तृक्रियाणां प्रतीतेः, अन्यतर-प्रतीत्यपलापे प्रमाणाभावात् । न च परप्रकाशकत्वस्य स्वप्रकाशकत्वेन विरोधः प्रदीप-वत् । नहि प्रदीपः स्वप्रकाशे परमपेक्षते । अनेनैकान्तस्वाभासिपराभासिवादिमतनिरासः । स्वपराभास्येव 'आत्मा प्रमाता' ।

---

१ —०पेक्षया मु०—ता० । २ अर्थप्रकाशादीनाम् । ३ —०क्षितत्वात्—ता० । ४ अ[न्य]प्रमाणात् । ५ —०लत्वव्य० —डे० । ६ प्रमाणान्तरात् । ७ यथैकात्मगतस्य प्रमाणस्य सम्बन्धि द्वितीयात्मगतं फलं न भवति तथैकात्मगतयोरपि मा भूदत्यन्तभेदस्योभयपक्षयोरप्यविशिष्टत्वात् । ८ —०तारं कथयति—डे० । ९ एतत्सूत्रानन्तरं ता—मू० प्रतौ एवं लिखितं वर्तते—"इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम् । सं—मू० प्रतौ तु —०ध्यायस्याद्याह्निकम् । १० बौद्धस्य ।

§ १५३. तथा, परिणाम उक्तलक्षणः स विद्यते यस्य स 'परिणामी'। कूटस्थनित्ये ह्यात्मनि हर्षविषादसुखदुःखभोगादयो विवर्ताः प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्माणो न वर्तेरन्। एकान्तनाशिनि च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्युन्मार्गणप्रभृतयश्च प्रतिप्राणिप्रतीता व्यवहारा विशीर्येरन्। परिणामिनि तूत्पादव्ययध्रौव्यधर्मण्यात्मनि सर्वमुपपद्यते। यदाहुः–

"यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम्।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते ॥
तथैव नित्यचैतन्यस्वरूपस्यात्मनो हि न।
निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि वा ॥
किं त्वस्य विनिवर्तन्ते सुखदुःखादिलक्षणाः।
अवस्थास्ताश्च जायन्ते चैतन्यं त्वनुवर्तते ॥
स्यातामत्यन्तनाशे हि कृतनाशाकृतागमौ।
सुखदुःखादिभोगश्च नैव स्यादेकरूपिणः ॥
न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थां समाश्रिते।
ततोऽवस्थावतस्तत्त्वात् कर्तैवाप्नोति तत्फलम् ॥" [तत्त्वसं० का० २२३–२२७]

इति अनेकान्तनित्यानित्यवादव्युदासः। 'आत्मा' इत्यनात्मवादिनो व्युदस्यति। कायप्रमाणता त्वात्मनः प्रकृतानुपयोगान्नोक्तेति सुस्थितं प्रमातृलक्षणम् ॥४२॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

---

१ एकान्तनाशिनी (?) २ अवस्थायाः। ३ –०वतस्तात्त्वात्–डे०। ०स्थास् तत्त्वात्–तत्त्वसं० का० २२७। ४ एकत्वात्। ५ –०कम्। श्रेयः–ता०।

॥ अथ द्वितीयमाह्निकम् ॥

§ १. इहोद्दिष्टे प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणे प्रमाणद्वये लक्षितं प्रत्यक्षम्। इदानीं परोक्ष-लक्षणमाह—

अविशदः परोक्षम्[1] ॥ १ ॥

§ २. सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इत्यनुवर्तते। तेनाविशदः सम्यगर्थनिर्णयः परोक्षप्रमाणमिति ॥१॥

§ ३. विभागमाह—

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः[2] ॥ २ ॥

§ ४. 'तत्' इति परोक्षस्य परामर्शस्तेन परोक्षस्यैते प्रकारा न तु स्वतन्त्राणि प्रमाणान्तराणि प्रक्रान्तप्रमाणसङ्ख्याविघातप्रसङ्गात्।

§ ५. ननु स्वतन्त्राण्येव स्मृत्यादीनि प्रमाणानि किं नोच्यन्ते ?, किमनेन द्रविड-मण्डकभक्षणन्यायेन ?। मैवं वोचः, परोक्षलक्षणसङ्गृहीतानि परोक्षप्रमाणान्न विभेदवर्तीनि; यथैव हि प्रत्यक्षलक्षणसङ्गृहीतानीन्द्रियज्ञान-मानस-स्वसंवेदन-योगिज्ञानानि सौगतानां न प्रत्यक्षादतिरिच्यन्ते, तथैव हि परोक्षलक्षणाक्षिप्तानि स्मृत्यादीनि न मूलप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थीनीति। स्मृत्यादीनां पञ्चानां द्वन्द्वः ॥२॥

§ ६. तत्र स्मृतिं लक्षयति—

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः[3] ॥३॥

§ ७. 'वासना'[4] संस्कारस्तस्याः 'उद्बोधः' प्रबोधस्तद्धेतुका तन्निबन्धना,

"कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा" [विशेषा० गा० ३३२]

इति वचनाच्चिरकालस्थायिन्यपि वासनाऽनुद्बुद्धा न स्मृतिहेतुः, आवरणक्षयोपशम-सदृशदर्शनादिसामग्रीलब्धप्रबोधो तु स्मृतिं जनयतीति 'वासनोद्बोधहेतुका' इत्युक्तम्। अस्या उल्लेखमाह 'तदित्याकारा' सामान्योक्तौ नपुंसकनिर्देशस्तेन स घटः, सा पटी, तत् कुण्डलमित्युल्लेखवती मतिः स्मृतिः।

§ ८. सा च प्रमाणम् अविसंवादित्वात् स्वयं निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। नन्वनुभूयमानस्य विषयस्याभावाच्चिरालम्बना स्मृतिः कथं प्रमाणम् ?। नैवम्, अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यं प्रसज्येत। स्वविषयावभासनं स्मृतेरप्यविशिष्टम्। विनष्टो विषयः कथं स्मृतेर्जनकः ?, तथा-

---

१ अत्र प्रथमं द्वितीयं च सूत्रद्वयं ता-मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते—सम्पा०। २ —०मिज्ञोहा०—सं—मू०। ३ धारणा। ४ स्मृतिजननाभिमुख्यम्। ५—०धा अनुस्मृ०-मु-पा०। ६ अभ्यासदशापन्नायां गुणनादौ तदित्याकाराभावात् प्राथिकमिदम्। ७ कुण्डमि०—डे०। ८ —०वती स्मृ०—डे०। ९ अविसंवादित्वमस्या [अ]सिद्धमिति चेदित्याह। १० यथानुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वेऽपि स्मृतेरप्रामाण्यमातिष्ठसे तदा प्रत्यक्षस्यापि किं नाप्रामाण्यं भवेदिति एकोद्देशेन तस्यापि निरालम्बनत्वात्। ११ अनुभूतविषय०।

चार्थाजन्यत्वान्न प्रामाण्यमस्या इति चेत्; तत् किं प्रमाणान्तरेऽप्यर्थजन्यत्वमविसंवादहेतुरिति विप्रलब्धोऽसि? । मैवं मुहः, यथैव हि प्रदीपः स्वसामग्रीबललब्धजन्मा घटादिभिरजनितोऽपि तान् प्रकाशयति तथैवावरणक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियानिन्द्रियबललब्धजन्म संवेदनं विषयमवभासयति । "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाकारणं विषयः" इति तु प्रलापमात्रम्, योगिज्ञानस्यातीतानागतार्थगोचरस्य तदजन्यस्यापि प्रामाण्यं प्रति विप्रतिपत्तेरभावात् । किंच, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानाय दत्तो जलाञ्जलिः, तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्; लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणपूर्वकमनुमानमिति हि सर्ववादिसिद्धम् । ततश्च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति[3] सिद्धम् ॥ ३ ॥

§ ९. अथ प्रत्यभिज्ञानं लक्षयति–

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

§ १०. 'दर्शनम्' प्रत्यक्षम्, 'स्मरणम्' स्मृतिस्ताभ्यां सम्भवो यस्य तत्तथा दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनाज्ञानं 'प्रत्यभिज्ञानम्' । तस्योल्लेखमाह–'तदेवेदम्', सामान्यनिर्देशेन नपुंसकत्वम्, स एवायं घटः, सैवेयं घटी, तदेवेदं कुण्डमिति । 'तत्सदृशः' गोसदृशो गवयः, 'तद्विलक्षणः' गोविलक्षणो महिषः, 'तत्प्रतियोगि' इदमस्मादल्पं महत् दूरमासन्नं वेत्यादि । 'आदि'ग्रहणात्–

"रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः ।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारयेः ॥" [न्यायम० पृ० १४३]

"पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः ।
सप्तपर्णस्तु विद्वद्भिर्विज्ञेयो विषमच्छदः ॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी ।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः ॥"

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव चैत्रहंसादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा, तदा तदपि संकलनाज्ञानमुक्तम्, दर्शनस्मरणसम्भवत्वाविशेषात् । यथा वा औदीच्येन क्रमेलकं

---

१ अर्थजन्यत्वात् ज्ञानस्य प्रामाण्याभ्युपगमे मरुमरीचिकादौ जलज्ञानमप्यर्थजन्यत्वात् प्रमाणं स्यात् । अथ प्रतिभासमानार्थजन्यं प्रमाणमिष्यते तदानुमानं न स्यात् प्रमाणम् । अनुमानं ह्यनर्थसामान्यप्रतिभासि, न च तेन जन्यम्, भवन्मते सामान्यस्यावस्तुत्वात् । यत् प्रमाणं तदनर्थजन्य(तदर्थज)मेवेति अतिव्याप्ति (०नेति व्याप्ति)रपि दुष्टा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण व्यभिचारात् तद्धि स्वात्मविषयं, न च तेन जन्यम् । २ व्याप्तेरग्रहणेऽग्रहणं त्वप्रमाणत्वात् । ३ रिति ॥ अथ मु-पा । ४ कश्चिद्द्वयस्ताभ्यामपि यथेदमस्मात्सूक्ष्ममित्यादिकं प्रत्यभिज्ञानं दर्शनादेव स्मरणरहितात् । तस्मात् भिन्नमित्यादिकं केवलादेव स्मरणात् प्रत्यभिज्ञानम् । ५ मदीयेन गृहस्थितेन गवा सदृशोऽयं गवय इत्यादिकम् [अत्र टिप्पणकारेण उभयकारणकत्वं उदाहृतम्–सम्पा०] । ६ एकत्वसादृश्यवैसदृश्यादिनाऽर्थद्वयघटनं सङ्कलना । ७ –०पदै०–मु० । ८ तथा वचनं सत्या०-डे० । ९ संकलनमु०-डे० । १० अत्र उदीच्येन इति सुचारु ।

निन्दितोक्तम् 'धिक्करभमतिदीर्घवक्रग्रीवं प्रलम्बोष्ठं कठोरतीक्ष्णकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपशदं पशूनाम्'इति । तदुपश्रुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापथं गतस्तादृशं वस्तूपलभ्य 'नूनमयमर्थोऽस्य करभशब्दस्य'इति [यदवैति] तदपि दर्शनस्मरणकारणकत्वात् सङ्कलनाज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।

§ ११. येषां तु सादृश्यविषयमुपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं प्रमाणान्तरमनुषज्येत । यदाहुः—

"उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥" [लघीय० ३. १०]
"इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥" [लघीय० ३. १२] इति ।

§ १२. अथ साधर्म्यमुपलक्षणं योगविभागो वा करिष्यत इति चेत्; तर्ह्यकुशलः सूत्रकारः स्यात्, सूत्रस्य लक्षणरहितत्वात् । यदाहुः—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

अस्तोभमनधिकम् ।

§ १३. ननु 'तत्'इति स्मरणम् 'इदम्' इति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यामन्यत् प्रत्यभिज्ञानाख्यं प्रमाणमुत्पश्यामः । नैतद्युक्तम्, स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञाविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । पूर्वापराकारैकधुरीणं हि द्रव्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः । न च तत् स्मरणस्य गोचरस्तस्यानुभूतविषयत्वात् । यदाहुः—

"पूर्वप्रमितमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः ।
स एवायमितीयं तु प्रत्यभिज्ञातिरेकिणी ॥" [तत्त्वसं० का० ४५३]

नापि प्रत्यक्षस्य गोचरः, तस्य वर्तमानविवर्तमात्रवृत्तित्वात् । न च दर्शनस्मरणाभ्यामन्यद् ज्ञानं नास्ति, दर्शनस्मरणोत्तरकालभाविनो ज्ञानान्तरस्यानुभूतेः । न चानुभूयमानस्यापलापो युक्तः अतिप्रसङ्गात् ।

§ १४. ननु प्रत्यक्षमेवेदं प्रत्यभिज्ञानम् इत्येके[22] । नैवम्, तस्य सन्निहितवार्तमानिकार्थविषयत्वात् ।

"सम्बद्धं[23] वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" [श्लोकवा० सूत्र ४ श्लो० ८४]

इति मा स्म विस्मरः । ततो नातीतवर्तमानयोरेकत्वमध्यक्षज्ञानगोचरः । अथ स्मरणसह-

१ –०ग्रीवप्र०–ता० । २–०मपसदं –मु० –०मपशब्दं–डे० । ३ निकृष्टम् । ४ तात्पर्य० पृ० १६८ । ५ यदाह–ता० । ६ सादृश्यसाधनम् । ७ दीर्घम् । ८ अपेक्षका अल्पमहदादिव्यापारः । ९ अक्षनिरपेक्षं मानसं ज्ञानं विकल्पः । १० प्रमाणान्तरं प्राप्नोति । ११ उपमानमिति सूत्रावयवयोगः । १२ उपमानं द्विधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्चेति विभागः । १३ पूरणार्थवादिनिपातरहितमस्तोभम् । १४ तदेवेदमित्यत्रैकत्वं विषयः, गोसदृशो गवय इत्यत्र तु सादृश्यम् । १५ यदाह–ता० । १६ पूर्वप्रवृत्तमा०–मु–पा । १७ पूर्वप्रमितमात्राद्धिका । १८–०स्य तस्य विव०–डे० । १९ तस्येति प्रत्यक्षस्य । २० विवर्तः परिणामः पर्यायः इति यावत् । २१–०मन्यज्ज्ञा०–डे० । २२ वैशेषिकादयः । २३ चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धि । २४ सहायम् ।

कृतमिन्द्रियं तदेकत्वविषयं प्रत्यक्षमुपजनयतीति प्रत्यक्षरूपतास्य गीयत इति चेत्; न, स्वविषयविनियमितमूर्तेरिन्द्रियस्य विषयान्तरे सहकारिशतसमवधानेऽप्यप्रवृत्तेः । नहि परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुरिन्द्रियमविषये गन्धादौ प्रवर्त्तते । अविषयश्चातीतवर्तमानावस्थाव्याप्येकं द्रव्यमिन्द्रियाणाम् । नाप्यदृष्टसहकारिसहितमिन्द्रियमेकत्वविषयमिति वक्तुं युक्तम् उक्तादेव हेतोः । किंच, अदृष्टसव्यपेक्षादेवात्मनस्तद्विज्ञानं भवतीति वरं वक्तुं युक्तम् । दृश्यते हि स्वप्नविद्यादिसंस्कृतादात्मनो विषयान्तरेऽपि विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः । ननु यथाञ्जनादिसंस्कृतं चक्षुः सातिशयं भवति तथा स्मरणसहकृतमेकत्वविषयं भविष्यति । नैवम्, इन्द्रियस्य स्वविषयानतिलङ्घनेनैवातिशयोपलब्धेः, न विषयान्तरग्रहणरूपेण । यदाह भट्टः—

"यश्चाप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥" [श्लोकवा० सूत्र २ श्लो० ११४]

इति । तत् स्थितमेतत् विषयभेदात्प्रत्यक्षादन्यत्परोक्षान्तर्गतं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

§ १५. न चैतदप्रमाणम् विसंवादाभावात् । क्वचिद्विसंवादादप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तथा प्रसङ्गो दुर्निवारः । प्रत्यभिज्ञानपरिच्छिन्नस्य चात्मादीनामेकत्वस्याभावे बन्धमोक्षव्यवस्था नोपपद्यते । एकस्यैव हि बद्धत्वे मुक्तत्वे च बद्धो दुःखितमात्मानं जानन् मुक्तिसुखार्थी प्रयतेत । भेदे त्वन्य एव दुःख्यन्य एव सुखीति कः किमर्थं वा प्रयतेत ? । तस्मात्सकलस्य दृष्टादृष्टव्यवहारस्यैकत्वमूलत्वादेकत्वस्य च प्रत्यभिज्ञायत्तजीवितत्वात्सुव्यवस्थितं प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति ॥ ४ ॥

§ १६. अथोहस्य लक्षणमाह—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः ॥ ५ ॥

§ १७. 'उपलम्भः' प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते न प्रत्यक्षमेव अनुमेयस्यापि साधनस्य सम्भवात्, प्रत्यक्षवदनुमेयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात् । 'व्याप्तिः' वक्ष्यमाणा तस्या 'ज्ञानम्' तद्ग्राही निर्णयविशेष 'ऊहः' ।

§ १८. न चायं व्याप्तिग्रहः प्रत्यक्षादेवेति वक्तव्यम् । नहि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद् धूमः स देशान्तरे कालान्तरे वा पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च ।

§ १९. नाप्यनुमानात्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाता सम्पद्यत इत्ये-

---

१ स्वविषयवार्तमानिकरूपादौ । २ विषयान्तरे गन्धादौ । ३ अदृष्टं भाग्यं कर्मेत्यर्थः । ४ विषयान्तराप्रवृत्तिरूपाद्धेतोः । ५-०श्चासं०-डे० । ६ नहि संस्कृतमपि चक्षुर्गन्धादिग्रहणे शक्तम् । ७ स्वविषय० । ८ दूरसूक्ष्मादिदर्शनेन चक्षुषोऽतिशयो भवति, न श्रवणस्य, रूपविषयेष्वव्यापारात् । ९ नहि रूपे श्रौत्री वृत्तिः संक्रामति । १० विषयभेदादित्ययं हेतुः । ११ यथा स एव शिशो जह्यते (?) । १२ स एवायमिति । १३-०त्वे सति च-डे० । १४-०स्य दृष्टव्य०-डे० । १५ शब्दानित्यत्वे साध्ये कृतकत्वं हि साधनम् प्रत्ययभेदभेदित्वेनानुमेयम् । १६ बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमाने धूमेऽग्नेरनुमेयस्यापि साधनत्वं वक्ष्यते ।

वंभूतभारासमर्थत्वात् । सामर्थ्येऽपि प्रकृतमेवानुमानं व्याप्तिग्राहकम्, अनुमानान्तरं वा ? । तत्र प्रकृतानुमानात् व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयः[1] । व्याप्तौ हि प्रतिपन्नायामनुमानमात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुमानान्तरात्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्था तस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्यैव प्रकृतानुमानव्याप्तिग्राहकत्वात् । तद्व्याप्तिग्रहश्च यदि स्वत एव, तदा पूर्वेण किमपराद्धं येनानुमानान्तरं मृग्यते । अनुमानान्तरेण चेत्; तर्हि युगसहस्रेष्वपि व्याप्तिग्रहणासम्भवः ।

§ २०. ननु यदि निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमविचारकम् तर्हि तत्पृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं ग्रहीष्यतीति चेत्; नैतत्, निर्विकल्पकेन व्याप्तेरग्रहणे विकल्पेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य । अथ निर्विकल्पकविषयनिरपेक्षोऽर्थान्तरगोचरो विकल्पः; स तर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा ? । प्रमाणत्वे प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणान्तरं तितिक्षितव्यम् । अप्रामाण्ये तु ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा षण्ढात्तनयदोहदः । एतेन[3]—"अनुपलम्भात्[4] कारणव्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावावगमः"[6] इति प्रत्युक्तम्, अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविशेषत्वेन कारणव्यापकानुपलम्भयोश्च लिङ्गत्वेन तज्जनितस्य तस्यानुमानत्वात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां च व्याप्तिग्रहणे दोषस्याभिहितत्वात् ।

§ २१. वैशेषिकास्तु प्रत्यक्षफलेनोहापोहविकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्याहुः । तेषामप्यध्यक्षफलस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरत्वे[10] व्याप्तेरविषयीकरणम्, तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः । अथ व्याप्तिविकल्पस्य फलत्वान्न[12] प्रमाणत्वमनुयोक्तुं युक्तम्; न, एतत्फलस्यानुमानलक्षणफलहेतुतया[13] प्रमाणत्वाविरोधात् सन्निकर्षफलस्य विशेषणज्ञानस्येव विशेष्यज्ञानापेक्षयेति ।

§ २२. यौगास्तु तर्कसहितात्[16] प्रत्यक्षादेव व्याप्तिग्रह इत्याहुः । तेषामपि यदि न केवलात् प्रत्यक्षाद्व्याप्तिग्रहः किन्तु तर्कसहकृतात् तर्हि तर्कादेव व्याप्तिग्रहोऽस्तु । किमस्य तपस्विनो यशोमार्जनेन, प्रत्यक्षस्य वा तर्कप्रसादलब्धव्याप्तिग्रहापलापकृतघ्नत्वारोपेणेति ? । अथ तर्कः प्रमाणं न भवतीति न ततो व्याप्तिग्रहणमिष्यते । कुतः पुनरस्य न प्रमाणत्वम्, अव्यभिचारस्तावदिहापि प्रमाणान्तरसाधारणोऽस्त्येव ? । व्याप्तिलक्षणेन विषयेण विष-

१–०श्रयम्–डे० । २–०रत्वे न प्रत्य०–डे० । ३ एतेनानुपलम्भात् कार्य०–डे० । ४ (?) न उपलम्भात् प्रत्यक्षात्, नानुमानात् । नाऽत्र धूमोऽग्नेरभावादित्यनुपलम्भः ॥१॥ नात्र शिंशपा वृक्षाऽभावात् ॥२॥ "धूमाधी[ः] **वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥**" ५ (?) नास्त्यत्र घटो अनुपलम्भात् स्वप्रत्यक्षानुपलम्भादित्यर्थः, स्वभावानुपलम्भो हि धूमाधीरित्युक्तलक्षणः कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावावगमे व्याप्रियते ततस्तस्मादपि भवति स बौद्धमते । ६ (?) कार्यकारणस्यावगमो व्यापकानुपलम्भाद्व्याप्यव्यापकत्वस्यानुपलम्भात् तूभयस्य किन्तु सोऽप्यूहादेवेति । ७ निराकृतम् । ८ अनुमानत्वेन । ९ यद्धि लिङ्गाज्जायते ज्ञानं तदनुमानमेव । १० प्रत्यक्षस्य हि फलं प्रत्यक्षमनुमानं वा । तत्र प्रत्यक्षं घटोऽयमिति अनुमानं तु अग्निरत्र धूमादिति । ११ अग्रहणमित्युक्तयुक्तेः । १२ प्रत्यक्षफलत्वेनेति हि उक्तम् । १३ फलस्यानु०–मु–पा० । १४ सामान्यज्ञानाद्विशेषज्ञानम् (?) । १५ विशेष्यज्ञानं विशेषणज्ञानं प्रमाणम् (?) । १६ व्याप्याभ्युपगमे व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः । १७ **"व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च । साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते ॥" "प्रयोगेऽन्वयवस्त्वेवं व्यतिरेके विपर्ययः ।"** १८–०स्त्येव–डे० । १९ प्रमेयाधीना प्रमाणव्यवस्था ।

यच्चत्वमपि न नास्ति। तस्मात् प्रमाणान्तरागृहीतव्याप्तिग्रहणप्रवणः प्रमाणान्तरमूहः ॥५॥

§ २३. व्याप्तिं लक्षयति–

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥ ६ ॥

§ २४. 'व्याप्तिः' इति यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः। तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा 'व्यापकस्य' गम्यस्य 'व्याप्ये' धर्मे 'सति', यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र 'भाव एव' व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः। ततश्च व्याप्यभावापेक्षो व्याप्यस्यैव व्याप्तताप्रतीतिः। नत्वेवमवधार्यते–व्यापकस्यैव व्याप्ये सति भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात् अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि–व्याप्ये सत्येवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुत्वापत्तेः, साधारणश्च हेतुः स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्।

§ २५. यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा 'व्याप्यस्य वा' गमकस्य 'तत्रैव' व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव 'भावः' न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति। अत्रापि नैवमवधार्यते–व्याप्यस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गाद्व्याप्यस्यापि तत्र भावात्। नापि–व्याप्यस्य तत्र भाव एवेति, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात्, प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति।

§ २६. व्याप्यव्यापकधर्मतासङ्कीर्तनं तु व्याप्तेरुभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि–पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम् उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः ?। तदुक्तम्–

"लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः।
नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः॥" इति ॥ ६ ॥

§ २७. अथ क्रमप्राप्तमनुमानं लक्षयति–

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

---

१ अग्न्यादिः। २ धूमादिः। ३ पर्वतः (?)। ४ अग्नितया। ५ अग्निरूपस्य साध्यस्य। ६ धूमे। ७ पर्वतादौ। ८ धूमः। ९ ननु व्याप्तेरुभयधर्मत्वविशेषे कथं व्याप्तताप्रतीतिः हेतोरेव, न व्यापकस्यापि, हेतोरेव हि व्याप्ततां स्मरन्ति तथा चाहुः–"**व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः**" [हेतु० १] इत्याशङ्क्याह–ततश्चेति। १० –०पेक्षया–डे०। ११ व्याप्यस्यैव प्रतीतिः–ता०। १२–०स्यैव व्याप्यताप्रतीतिः–मु०। १३ व्यापकेन साध्येन कर्त्रा व्याप्यभावो व्याप्यत्वं हेतोस्तदा(द)पेक्षते व्याप्तताप्रतीतिः। १४ अग्नेर्हेतुत्वं स्यात् (?)। १५ [अ]व्यापकस्यापि हेतोर्मूर्तत्वादेस्तत्र पर्वते भावात्। १६ कृतकत्वादेः अत्र हि व्याप्यस्य सत्त्वमेव नास्ति विद्युदादिना व्यभिचारात्। विद्युदादौ व्यापकत्वम(कम)नित्यत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिविनाप्यस्ति इति। १७ साधारणहेत्वाभासोऽसम्यग् हेतुः स्यादिति। १८ पर्वतादौ। १९ व्याप्यस्य धूमस्य हेतुत्वं न स्यात्। व्याप्तौ सत्यां हेतुभावः। व्याप्तिस्त्वीदृशी कुत्रापि नास्ति। २० व्यापकस्यापि वह्नेस्तत्र पर्वते भावात्। २१ यत्र व्यापकोऽस्ति तत्र। २२ उभयत्रेति साध्ये साधने च। २३ भाव एव। २४ व्यापकधर्मत्वे। २५ लिङ्ग एव लिङ्गी लिङ्गिनि सति इतरद्भवत्येवेति विपर्यासः।

§ २८. साधनं साध्यं च वक्ष्यमाणलक्षणम् । दृष्टादुपदिष्टाद्वा 'साधनात्' यत् 'साध्यस्य' 'विज्ञानम्' सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेति 'अनुमानम्' लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ॥ ७ ॥

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥ ८ ॥

§ २९. 'तत्' अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थ-परार्थभेदात् । स्वस्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'स्वार्थम्' । परस्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'परार्थम्' ॥ ८ ॥

§ ३०. तत्र स्वार्थं लक्षयति—

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥ ९ ॥

§ ३१. साध्यं विनाऽभवनं साध्याविनाभावः स्वेनात्मना निश्चितः साध्याविनाभाव एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणम्' तस्मात्तथाविधात् 'साधनात्' लिङ्गात् 'साध्यस्य' लिङ्गिनो 'ज्ञानम' 'स्वार्थम्' अनुमानम्। इह च न योग्यतया लिङ्गं परोक्षार्थप्रतिपत्तेरङ्गम्, यथा बीजमङ्कुरस्य, अदृष्टाद् धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः; नापि स्वनिश्च(स्वविष)यज्ञानापेक्षं यथा प्रदीपो घटादेः, दृष्टादप्यनिश्चिताविनाभावादप्रतिपत्तेः। तस्मात्परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य व्यापार इति 'निश्चित'ग्रहणम् ।

§ ३२. ननु चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति त्रैलक्षण्यमाचक्षते भिक्षवः। तथाहि—अनुमेये धर्मिणि लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमित्येकं रूपम् । अत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम् । एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तो यथा अनित्यानि पृथिव्यादीनि भूतानि गन्धवत्त्वात् । अत्र पक्षीकृतेषु पृथिव्यादिषु चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यामेव गन्धवत्त्वम् । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेनैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमित्युच्येत श्रावणत्वमेव हेतुः स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः । सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम्। इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे। एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, स हि न सपक्षे एव वर्तते किं तु विपक्षेऽपि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वमवधारणकरणेन सपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेर्हेतुत्वमुक्तम्, पश्चादवधारणे

१ दृष्टिपथप्राप्तात् । २ परार्थानुमाने कथितात् । ३ अनेन अतः पश्चादर्थता । ४ स्वस्मायेदं स्वार्थं येन स्वयं प्रतिपद्यते । ५ परस्मायेदं परार्थं येन परः प्रतिपद्यते । ६–० श्चितं सा०–डे० । ७–०भावैक०–डे० । ८–अग्निज्ञानं प्रति धूमस्य योग्यता शक्तिविशेषोऽस्त्येव परं दृष्टो हि धूमो धूमध्वजं गमयति नादृष्ट इति । ९ एतेन धूमो धूमवत्त्वेन निश्चिताविनाभावस्य गमको नान्यथा इत्यावेदितम् । १० यथाऽनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवदित्यत्र शब्दे चाक्षुषत्वमसिद्धम् । ११ सत्त्वपदाऽग्रतः । १२–०श्रावणमेव–डे० । १३ यथाऽनित्यः शब्दः श्रावणत्वादित्यनित्यत्वे साध्ये श्रावणत्वमेव हेतुर्घटे व्यभिचरतीति । १४ धूमो बाष्पो वा इति सन्देहे धूमादेरग्निसाधनम् । १५ अनेन सत्त्ववचनेन साधारणोऽपि निरस्यते । १६ निरस्त इति संबन्धः । १७ यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत् । शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विद्यते, न विद्युति परम्, तथापि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य हेतुत्वं सपक्षैकदेशत्वात् ।

हि अयमर्थः स्यात्–सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात्। निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम्। विपक्षे त्वसत्त्वमेव निश्चितमिति तृतीयं रूपम्। तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः। विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति। एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हि साध्येऽनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति, आकाशादौ नास्ति। ततो नियमेनास्य निरासोऽसत्त्वशब्दात्। पूर्वस्मिन्नवधारणे हि अयमर्थः स्यात्–विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः, तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि नास्ति ततो न हेतुः स्यात्ततः पूर्वं न कृतम्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः। तदेवं त्रैरूप्यमेव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारक्षममिति तदेवाभ्युपगन्तुं युक्तमिति किमेकलक्षणकत्वेनेति ?।

§ ३३. तदयुक्तम्, अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्। तच्चासिद्धस्य विरुद्धस्य व्यभिचारिणो वा न सम्भवति। त्रैरूप्ये तु सत्यप्यविनाभावाभावे हेतोरगमकत्वदर्शनात्, यथा स श्यामो मैत्रतनयत्वात् इतरमैत्रपुत्रवदित्यत्र। अथ विपक्षान्नियमवती व्यावृत्तिस्तत्र न दृश्यते ततो न गमकत्वम्; तर्हि तस्या एवाविनाभावरूपत्वादितररूपसद्भावेऽपि तदभावे हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ सैव प्रधानं लक्षणमस्तु। तत्सद्भावेऽपररूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेश्च, यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानि इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः। न चात्र पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति, केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वोपपत्तिः। ननु पक्षधर्मताऽभावे श्वेतः प्रासादः काकस्य काण्ण्यादित्यादयोऽपि हेतवः प्रसज्येरन्; नैवम्, अविनाभावबलेनैवापक्षधर्माणामपि गमकत्वाभ्युपगमात्। न चेह सोऽस्ति। ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्, सति तस्मिंश्चासत्यपि त्रैलक्षण्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात्। न तु त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम् अव्यापकत्वात्। तथा च सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्र मूर्धाभिषिक्ते साधने सौगतैः सपक्षेऽसतोऽपि हेतोः सत्त्वस्य गमकत्वमिष्यत एव। तदुक्तम्–

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥" इति।

---

१ सपक्षे दर्शनमन्वयः। २ मीमांसकं प्रति जैनो वक्ति। ३ सर्वज्ञस्य सर्वस्य सपक्षत्वात्। ४ अनित्यो घटः कृतकत्वात् शब्दवत्। कृतकत्वं शब्देऽस्ति नाकाशादौ। ५ यथा प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो अनित्यत्वात् घटवत्। ६ सपक्षे त्वस्ति एव। ७ यथा असर्वज्ञोऽयं वक्तृत्वात्। ८ अनैकान्तिकस्य। ९ पूर्वस्मिन्ननुमाने। १० पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वलक्षणं रूपद्वयं। ११ विपक्षान्नियमवत्या व्यावृत्तेरभावे। १२ विपक्षान्नियमवत्या व्यावृत्तेः। १३ शून्याद्वैतवादिनः। १४ तन्मते प्रमाणलक्षणः पक्षोऽपि नास्ति कुतः पक्षधर्मता ?। १५ –०पपत्तेः मु–पा०। १६ स श्यामो मैत्रातनयत्वादित्यादौ।

§ ३४. एतेन पञ्चलक्षणकत्वमपि नैयायिकोक्तं प्रत्युक्तम्, तस्याप्यविनाभावप्रपञ्चत्वात् । तथाहि—त्रैरूप्यं पूर्वोक्तम्, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि । तत्र प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं बाधितविषयत्वं यथाऽनुष्णस्तेजोवयवी कृतकत्वात् घटवत् । ब्राह्मणेन सुरा पेया [द्रव]द्रव्यत्वात् क्षीरवत् इति । तन्निषेधादबाधितविषयत्वम् । प्रतिपक्षहेतुबाधितत्वं सत्प्रतिपक्षत्वं यथाऽनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः । अत्र प्रतिपक्षहेतुः—नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरिति । तन्निषेधादसत्प्रतिपक्षत्वम् । तत्र बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य चाविनाभावाभावादविनाभावेनैव रूपद्वयमपि सङ्गृहीतम् । यदाह—"बाधाविनाभावयोर्विरोधात्" [हेतु०परि० ४] इति । अपि च, स्वलक्षणलक्षितपक्षविषयत्वाभावात् तद्दोषेणैव दोषद्वयमिदं चरितार्थं किं पुनर्वचनेन ? । तत् स्थितमेतत् साध्याविनाभावैकलक्षणादिति ॥ ९ ॥

§ ३५. तत्राविनाभावं लक्षयति—

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥

§ ३६. 'सहभाविनोः' एकसामग्र्यधीनयोः फलादिगतयो रूपरसयोः व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वयोः, 'क्रमभाविनोः' कृत्तिकोदयशकटोदययोः, कार्यकारणयोश्च धूमधूमध्वजयोर्यथासङ्ख्यं यः 'सहक्रमभावनियमः'—सहभाविनोः सहभावनियमः क्रमभाविनोः क्रमभावनियमः, साध्यसाधनयोरिति प्रकरणाल्लभ्यते सः 'अविनाभावः' ॥१०॥

§ ३७. अथैवंविधोऽविनाभावो निश्चितः साध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम् । तन्निश्चयश्च कुतः प्रमाणात् ? । न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्यैन्द्रियकस्य सन्निहितविषयविनियमितव्यापारत्वात् । मनस्तु यद्यपि सर्वविषयं तथापीन्द्रियगृहीतार्थगोचरत्वेनैव तस्य प्रवृत्तिः । अन्यथान्ध-बधिराद्यभावप्रसङ्गः । सर्वविषयता तु सकलेन्द्रियगोचरार्थविषयत्वेनैवोच्यते न स्वातन्त्र्येण । योगिप्रत्यक्षेण त्वविनाभावग्रहणेऽनुमेयार्थप्रतिपत्तिरेव ततोऽस्तु, किं तयास्विनाऽनुमानेन ? । अनुमानात्त्वविनाभावनिश्चयेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग उक्त एव । न च प्रमाणान्तरमेवंविधविषयग्रहणप्रवणमस्तीत्याह—

ऊहात् तन्निश्चयः ॥ ११ ॥

§ ३८. 'ऊहात्' तर्कादुक्तलक्षणात्तस्याविनाभावस्य 'निश्चयः' ॥ ११ ॥

§ ३९. लक्षितं परीक्षितं च साधनम् । इदानीं तत् विभजति—

---

१ साध्यमनुमेयमिति यावत् । २—०तधर्मि०—डे० । ३ तात्पर्य० पृ० ३४०. । ४ —०स्य तत्प्र०—डे० । ५ यदाहुः—ता० । ६ पक्षदोषावेवैतौ । ७ साध्यसाधनयोः । ८ स्वनिश्चित इत्यनेन निश्चितः सन् । ९ प्रत्यक्षग्राह्यबाह्यार्थापेक्षया सुखादीँश्च एवमेव गृह्णाति । १० मनसैव सर्वेन्द्रियार्थग्रहणात् । ११ अन्धादि । १२ —०पत्तिरपि ततो०—डे० । १३ अनुमानतो ह्यविनाभावनिश्चये तस्याप्यनुमानस्याविनाभावनिश्चये कमनुमानान्तरं निन्यम्(?) । ...स्यापि अन्यदित्यनवस्था । इतरेतराश्रयस्तु अनुमानादविनाभावनिश्चयो अविनाभावे च निश्चिते अनुमानोत्थानमिति ।

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥ १२ ॥

§ ४०. स्वभावादीनि चत्वारि विधेः साधनानि, विरोधि तु निषेधस्येति पञ्चविधम् 'साधनम्'। 'स्वभावः' यथा शब्दानित्यत्वे साध्ये कृतकत्वं श्रावणत्वं वा।

§ ४१. ननु श्रावणत्वस्यासाधारणत्वात् कथं व्याप्तिसिद्धिः ?। विपर्यये बाधकप्रमाणबलात् सत्त्वस्येवेति ब्रूमः। न चैवं सत्त्वमेव हेतुः तद्विशेषस्योत्पत्तिमत्त्व-कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्व-प्रत्ययभेदभेदित्वादेरहेतुत्वापत्तेः। किंच, किमिदमसाधारणत्वं नाम ?। यदि पक्ष एव वर्तमानत्वम्; तत् सर्वस्मिन् क्षणिके साध्ये सत्त्वस्यापि समानम्। साध्यधर्मवतः पक्षस्यापि सपक्षता चेत्; इह कः प्रद्वेषः ?। पक्षादन्यस्यैव सपक्षत्वे लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवदित्यत्र पार्थिवत्वमपि लोहलेख्यतां वज्रे गमयेत्। अन्यथानुपपत्तेरभावान्नेति चेत्; इदमेव तर्हि हेतुलक्षणमस्तु। अपक्षधर्मस्यापि साधनत्वापत्तिरिति चेत्; अस्तु यद्यविनाभावोऽस्ति, शकटोदये कृत्तिकोदयस्य, सर्वज्ञसद्भावे संवादिन उपदेशस्य गमकत्वदर्शनात्। काकस्य कार्ष्ण्यं न प्रासादे धावल्यं विनानुपपद्यमानमित्यनेकान्तादगमकम्। तथा, घटे चाक्षुषत्वं शब्देऽनित्यतां विनाप्युपपद्यमानमिति। तत्र श्रावणत्वादिरसाधारणोऽप्यनित्यतां व्यभिचरति। ननु कृतकत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वे साध्ये पर्यायवद् द्रव्येऽप्यनित्यता प्राप्नोति। नैवम्, पर्यायाणामेवानित्यतायाः साध्यत्वात्, अनुक्तमपीच्छाविषयीकृतं साध्यं भवतीति किं स्मं प्रस्मरति भवान् ?। ननु कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्ये साधनवत् साध्यस्य सिद्धत्वम्, साध्यवच्च साधनस्य साध्यत्वं प्रसजति। सत्यमेतत्, किं तु मोहनिवर्तनार्थः प्रयोगः। यदाह–

"सादेरपि न सान्तत्वं व्यामोहाद्योऽधिगच्छति।
साध्यसाधनतैकस्य तं प्रति स्यान्न दोषभाक्॥"

§ ४२. 'कारणं' यथा बाष्पभावेन मशकवर्तिरूपतया वा सन्दिह्यमाने धूमेऽग्निः, विशिष्टमेघोन्नतिर्वा वृष्टौ[13]। कथमयमाबालगोपालाविपालाङ्गनादिप्रसिद्धोऽपि नोपलब्धः सूक्ष्मदर्शिनापि न्यायवादिना ?। कारणविशेषदर्शनाद्धि सर्वः कार्यार्थी प्रवर्तते। स तु विशेषो ज्ञातव्यो योऽव्यभिचारी। कारणत्वनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति चेत्; अस्त्वसौ

१ अनित्यत्वविपरीते नित्यत्वे अश्राव्यरूपः पूर्वं शब्दः पश्चात् कथं उच्चारणात् श्राव्यो जात इति बाधकप्रमाणं तस्मान्नित्यत्वेऽघटमानकं श्रावण[त्व]मनित्यत्वे व्यवस्थापयति। २ सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वम्। तच्चानित्यपक्ष एव घटत इति श्रावणत्वमपि सत्त्वमायातम्। ३ –०तुत्वोपपत्तेः–ता०। ४ गम्ये(म)शकटोदयाभावे कृत्तिकोदयात्। ५ कश्चित् पुरुषः सर्वभावसाक्षात्कर्ताऽस्ति अविसंवादिज्योतिर्ज्ञानान्यथानुपपत्तेः। ६ शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वादित्यस्मिन्ननुमाने शब्दानित्यतां विनाऽपि घटादौ चाक्षुषत्वमुपपद्यते इत्यन्यत्रोपपद्यमानं शब्दस्यानित्यतां न साधयति। ७ स्म विस्म०–डे०। ८ अनित्यत्वम्। ९ करणम्–मु–पा०। १० मशवर्ति०–डे०। ११ अयं धूमोऽग्नेः। १२ वृष्टिर्भाविनी विशिष्टमेघोन्नतेः। १३ गम्यायां वृष्टौ। १४ सूरिराह। १५ अविकलकारणम्।

लिङ्गविशेषनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः[1], फले तु भाविनि नानुमानादन्यन्निबन्धनमुत्पश्यामः । क्वचिद् व्यभिचारात्[2] सर्वस्य हेतोरहेतुत्वे कार्यस्यापि तथा प्रसङ्गः । बाष्पादेरकार्यत्वान्नेति चेत्; अत्रापि यत् यतो न भवति न तत् तस्य कारणमित्यदोषः । यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चि[3]त्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम् । यद्वदेवाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः । अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम् । यदा[4]हु—

"एकसामग्र्य[5]धीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।
हेतु[6]धर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥" [प्रमाणवा० १. १०] इति ।

§ ४३. न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः । अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो[7] न वा कारणान्तर[8]वैकल्यम् । तत् कुतो निश्चीयत इति चेत्; अस्ति तावद्विगुणादितरस्य विशेषः । तत्परिज्ञानं तु प्रायः पांशु[9]रपादानामप्यस्ति । यदाहुः—

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥" [न्यायम० पृ० १२९]
"रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥" [न्यायम० पृ० १२९] इति ।

§ ४४. 'कार्यम्' यथा वृष्टौ विशिष्टनदीपूरः, कृशानौ धूमः, चैतन्ये प्राणादि[10]ः । पूरस्य वैशिष्ट्यं कथं[11] विज्ञायत इति चेत्; उक्तमत्र नैयायिकैः । यदा[12]हुः—

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुट[13]फेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहलशैवाल[14]फलशाद्वलसङ्कुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते[15] न न वेदितुम् ॥" [न्यायम० पृ० १३०]

इति धूमप्राणादीनामपि कार्यत्वनिश्चयो न दुष्करः । यदा[16]हुः—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्य[17]धर्मानुवृत्तितः ।
स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥" [प्रमाणवा० १. ३५]

---

१ प्रत्यक्षतः –मु-पा० । २ नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति । ३ कार्यं गमकं । ४ यदाहुः –ता० । ५ यथा धूमादग्निर्ज्ञायते तथाग्निरिन्धन(?)विकारकर्ता दाहकोऽपि ज्ञायते । अयं रसो विशिष्टसामग्रीवा(मा)न् वैशिष्ट्यस्यान्यथानुपपत्तेरिति कारणा(कार्या)द्विशिष्टसामग्रीज्ञानं तस्माच्च रूपादिजनकत्वज्ञानम् । ६ हेतुः कारणं तस्य धर्मो रूपादिजनकत्वं तस्यानुमानं तस्य लिङ्गात् परिच्छेदः । ७ सहकारिकारणम् । ८ साकल्यम-प्रतिबद्धस्वभावश्च । ९ हलधरादीनामपि । १० प्राणादि पू०-ता० । ११ कथं ज्ञाय०-डे० । १२ यदाह –ता० । १३ –०स्फुटः फेन०–डे० । १४ शाड्वल –डे० । १५ शक्यते न निवे०–डे० । १६ यदाह –ता० । १७ कार्यधर्मः कारणे सति भवनम्, कारणाऽभावे चाऽभवनम् ।

§ ४५. कारणाभावेऽपि कार्यस्य भावे अहेतुत्वमन्यहेतुत्वं वा भवेत्। अहेतुत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत्। अन्यहेतुत्वे दृष्टादन्यतोऽपि भवतो न दृष्टजन्यता अन्याभावेऽपि दृष्टाद्भवतो नान्यहेतुकत्वमित्यहेतुकतैव स्यात्। तत्र चोक्तम्—"यस्त्वन्यतोऽपि भवन्नुपलब्धो न तस्य धूमत्वं हेतुभेदात्। कारणं च वह्निर्धूमस्य इत्युक्तम्।" अपि च—

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा यद्यग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्॥" [प्रमाणवा० १. ३७] इति।

§ ४६. तथा चेतनां विनानुपपद्यमानः कार्यं प्राणादिरनुमापयति तां श्रावणत्वमिवानित्यताम्, विपर्यये बाधकवशात्सत्त्वस्येवास्यापि व्याप्तिसिद्धेरित्युक्तप्रायम्। तत्र प्राणादिरसाधारणोऽपि चेतनां व्यभिचरति।

§ ४७. किंच, नान्वयो हेतो रूपं तदभावे हेत्वाभासाभावात्। विपक्ष एव सन् विरुद्धः, विपक्षेऽपि–अनैकान्तिकः, सर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तृत्वस्यापि व्यतिरेकाभाव एव हेत्वाभासत्वे निमित्तम्, नान्वयसन्देह इति न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभासावुक्तौ। असाधारणोऽपि यदि साध्याभावेऽसन्निति निश्चीयेत तदा प्रकारान्तराभावात्साध्यमुपस्थापयन्नानैकान्तिकः स्यात्। अपि च यद्यन्वयो रूपं स्यात् तदा यथा विपक्षैकदेशवृत्तेः कथञ्चिदव्यतिरेकादगमकत्वम्, एवं सपक्षैकदेशवृत्तेरपि स्यात् कथञ्चिदनन्वयात्। यदाह—

"रूपं यद्यन्वयो हेतोर्व्यतिरेकवदिष्यते।
स सपक्षोभयो न स्यादसपक्षोभयो यथा॥"

सपक्ष एव सत्त्वमन्वयो न सपक्षे सत्त्वमेवेति चेत्; अस्तु, स तु व्यतिरेक एवेत्यस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं स्यात्। वयमपि हि प्रत्यपीपदाम अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरिति।

§ ४८. तथा, एकस्मिन्नर्थे दृष्टेऽदृष्टे वा समवाय्याश्रितं साधनं साध्येन। तत्रैकार्थसमवायित्वम् एकफलादिगतयो रूपरसयोः, शकटोदय-कृत्तिकोदययोः, चन्द्रोदय-समुद्रवृद्ध्योः, वृष्टि-साण्डपिपीलिकाक्षोभयोः, नागवल्लीदाह-पत्रकोथयोः। तत्र 'एकार्थसमवायी' रसो रूपस्य, रूपं वा रसस्य; नहि समानकालभाविनोः कार्यकारणभावः सम्भवति।

§ ४९. ननु समानकालकार्यजनकं कारणमनुमास्यते इति चेत्; न तर्हि कार्यमनुमितं स्यात्। कारणानुमाने सामर्थ्यात् कार्यमनुमितमेव, जन्याभावे जनकत्वाभावा-

---

१ अहेतुकत्वम्। २ अग्नेरन्यो हेतुरस्य। ३ वा अन्य –डे०। वा भावयेत् अन्य० –मु-पा०। ४ वल्मीकस्य। ५ न केवलं सपक्षे किन्तु विपक्षेऽपि। ६ सपक्षे उभयं सत्त्वमसत्त्वं वा यस्य। ७ समवायाश्रितम्–ता०। ८ इदं फलं विशिष्टरूपवत् विशिष्टरसवत्त्वात्। इदं नभःखण्डं भाविशकटोदयं कृत्तिकोदयवत्त्वात्। अयं कालः समुद्रवृद्धिमान् चन्द्रोदयवत्त्वात्। एवम् अन्येऽपि कालो धर्मी। ९ –०गतरूप०–डे०। १० कार्यरूपाद्रूपकारणं ज्ञायते। तच्च कीदृशम्?। समानकाले यत्कार्यं रसलक्षणं तज्जनकमनुमीयते।

दिति चेत्; हन्तैवं कारणं कार्यस्यानुमापकमित्यनिष्टमापद्येत । शकटोदयकृत्तिकोदयादीनां तु यथाऽविनाभावं साध्यसाधनभावः । यदाह—

"एकार्थसमवायस्तु यथा येषां तथैव ते ।
गमका गमकस्तत्र शकटः कृत्तिकोदितेः ॥"

एवमन्येष्वपि साधनेषु वाच्यम् । ननु कृतकत्वानित्यत्वयोरेकार्थसमवायः कस्मान्नेष्यते ?; न, तयोरेकत्वात् । यदाह—

"आद्यन्तापेक्षिणी सत्ता कृतकत्वमनित्यता ।
एकैव हेतुः साध्यं च द्वयं नैकाश्रयं ततः ॥" इति ।

§ ५०. स्वभावादीनां चतुर्णां साधनानां विधिसाधनता, निषेधसाधनत्वं तु विरोधिनः । स हि स्वसंनिधानेनेतरस्य प्रतिषेधं साधयति अन्यथा विरोधासिद्धेः ।

§ ५१. 'च'शब्दो यत एते स्वभावकारणकार्यव्यापका अन्यथानुपपन्नाः स्वसाध्यमुपस्थापयन्ति तत एव तदभावे स्वयं न भवन्ति, तेषामनुपलब्धिरप्यभावसाधनीत्याह । तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र घटः, द्रष्टुं योग्यस्यानुपलब्धेः । कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात् । कार्यानुपलब्धिर्यथा नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात् । व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात् ।

§ ५२. विरोधि तु प्रतिषेध्यस्य तत्कार्यकारणव्यापकानां च विरुद्धं विरुद्धकार्यं च । यथा न शीतस्पर्शः, नाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि, न रोमहर्षविशेषाः, न तुषारस्पर्शः, अग्नेर्धूमाद्वेति प्रयोगनानात्वमिति ॥ १२ ॥

§ ५३. साधनं लक्षयित्वा विभज्य च साध्यस्य लक्षणमाह—

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ॥१३॥

§ ५४. साधयितुमिष्टं 'सिषाधयिषितम्' । अनेन साधयितुमनिष्टस्य साध्यत्वव्यवच्छेदः, यथा वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति । शास्त्रोक्तत्वाद्वैशेषिकेणाभ्युपगतस्याप्याकाशगुणत्वादेर्न साध्यत्वम्, तदा साधयितुमनिष्टत्वात् । इष्टः पुनरनुक्तोऽपि पक्षो भवति, यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदित्यत्र परार्था इत्यात्मार्थाः । बुद्धिमत्कारणपूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राऽशरीरसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति ।

§ ५५. 'असिद्धम्'इत्यनेनानध्यवसाय-संशय-विपर्ययविषयस्य वस्तुनः साध्यत्वम्, न सिद्धस्य यथा श्रावणः शब्द इति । "नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते" [न्यायभा० १.१.१] इति हि सर्वपार्षदम् ।

§ ५६. 'अबाध्यम्' इत्यनेन प्रत्यक्षादिबाधितस्य साध्यत्वं मा भूदित्याह । एतत् साध्यस्य लक्षणम् । 'पक्षः' इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत् ॥१३॥

---

१ शकटोदये प्रत्यक्षे सति कृत्तिकोदयस्यापि प्रत्यक्षत्वात् नानुमानतस्तदवगमः । २ एकार्थसमवायिनो व्यापका इति । ३ अन्यथानुपपन्नत्वादेव । ४ धूमाभावाद्वा मु०-ता० । ५ कार्यं यथा –डे० । ६ परार्था बुद्धि० –डे० । ७ –०पूर्वं क्षि० –डे० । ८ इत्याह ।

§ ५७. अबाध्यग्रहणव्यवच्छेद्यां बाधां दर्शयति–

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधाः ॥१४॥

§ ५८. प्रत्यक्षादीनि तद्विरुद्धार्थोपस्थापनेन बाधकत्वात् 'बाधाः' । तत्र प्रत्यक्षबाधा यथा अनुष्णोऽग्निः, न मधु मधुरम्, न सुगन्धि विदलन्मालतीमुकुलम्, अचाक्षुषो घटः, अश्रावणः शब्दः, नास्ति बहिरर्थ इत्यादि । अनुमानबाधा यथा सरोम हस्ततलम्, नित्यः शब्द इति वा । अत्रानुपलम्भेन कृतकत्वेन चानुमानबाधा । आगमबाधा यथा प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति । परलोके सुखप्रदत्वं धर्मस्य सर्वागमसिद्धम् । लोकबाधा यथा शुचि नरशिरःकपालमिति । लोके हि नरशिरःकपालादीनामशुचित्वं सुप्रसिद्धम् । स्ववचनबाधा यथा माता मे वन्ध्येति । प्रतीतिबाधा यथा अचन्द्रः शशीति । अत्र शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं प्रतीतिसिद्धमिति प्रतीतिबाधा ॥१४॥

§ ५९. अत्र साध्यं धर्मः, धर्मधर्मिसमुदायो वेति संशयव्यवच्छेदायाह–

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

§ ६०. 'साध्यम्' साध्यशब्दवाच्यं पक्षशब्दाभिधेयमित्यर्थः । किमित्याह 'साध्यधर्मेण' अनित्यत्वादिना 'विशिष्टो धर्मी' शब्दादिः । एतत् प्रयोगकालापेक्षं साध्यशब्दवाच्यत्वम् । 'क्वचित्तु' व्याप्तिग्रहणकाले 'धर्मः' साध्यशब्देनोच्यते, अन्यथा व्याप्तेरघटनात् । नहि धूमदर्शनात् सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुं प्रमाणविरोधादिति ॥१५॥

धर्मिस्वरूपनिरूपणायाह–

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥

§ ६१. 'प्रमाणैः' प्रत्यक्षादिभिः प्रसिद्धो 'धर्मी' भवति यथाग्निमानयं देश इति । अत्र हि देशः प्रत्यक्षेण सिद्धः । एतेन–**"सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन, न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते"** इति सौगतं मतं प्रतिक्षिपति । नहीयं विकल्पबुद्धिरन्तर्बहिर्वाऽनासादितालम्बना धर्मिणं व्यवस्थापयति, तदवास्तवत्वे तदाधारसाध्यसाधनयोरपि वास्तवत्वानुपपत्तेः तद्बुद्धेः पारम्पर्येणापि वस्तुव्यवस्थापकत्वायोगात् । ततो विकल्पेनान्येन वा व्यवस्थापितः पर्वतादिर्विषयभावं भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यते । तथा च सति प्रमाणसिद्धस्य धर्मिता युक्तैव ॥१६॥

१ साध्य० । २ कृतकत्वादिति हेतुः । ३ विचित्ररसप्रभवत्वात् अनेकरससंयोगवत् । ४ लतैकदेशत्वात् पत्रवत् । ५ रूपादत्यन्तव्यतिरिक्तत्वात् वायुवत् । ६ यथावस्थेन रूपेणाप्रतिभासमानत्वात्, यदस्ति तद्यथावस्थितरूपेणाप्रतिभासमानमपि नास्ति यथा ज्ञानम् । ७ शरीरावयवत्वात् बाहुवत् । ८ वन्ध्यार्थासमानार्थत्वात् । ९ चन्द्रशब्दवाच्यः शशी न भवति आकाशोदितत्वात् सूर्यवत् । १० –०लापेक्ष्यं –ता० । ११ साधनम् । १२ साध्यम् । १३ –०मेयस्य व्य०–ता० । १४ धर्मिणः । १५ स धर्मी आधारो ययोः । १६ तद्बुद्धेर्विकल्पज्ञानस्य । १७ निर्विकल्पकं ग्राह्यविषयम्, तद्विकल्पोऽपि ग्राह्यविषय इति । एवंलक्षणपारम्पर्येणापि । १८ निर्विकल्पेन । १९ विकल्पस्य विषयभावम् ।

§ ६३. अपवादमाह—

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

§ ६४. नैकान्तेन प्रमाणसिद्ध एव धर्मी किंतु विकल्पबुद्धिप्रसिद्धोऽपि धर्मी भवति। 'अपि' शब्देन प्रमाण-बुद्धिभ्यामुभाभ्यामपि सिद्धो धर्मी भवतीति दर्शयति। तत्र बुद्धिसिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सत्त्वमसत्त्वं च प्रमाणबलेन साध्यते यथा अस्ति सर्वज्ञः, नास्ति षष्ठं भूतमिति।

§ ६५. ननु धर्मिणि साक्षादसति भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वेनानुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्त्वासत्त्वयोः साध्यत्वम्?। तदाह—

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
विरुद्धो धर्मोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्?॥" [प्रमाणवा० १.१९२-३] इति।

§ ६६. नैवम्, मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात्। न च तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि प्रतिपन्नत्वात् व्यर्थमनुमानम्, तदभ्युपेतमपि वैयात्याद्यो न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानस्य साफल्यात्। न च मानसज्ञानात् खरविषाणादेरपि सद्भावसम्भावनातोऽतिप्रसङ्गः, तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययविप्लावितसत्ताकवस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्। कथं तर्हि षष्ठभूतादेर्धर्मित्वमिति चेत्; धर्मिप्रयोगकाले बाधकप्रत्ययानुदयात्सत्त्वसम्भावनोपपत्तेः। न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वसंप्रतीतिः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र संशयायोगात्।

§ ६७. उभयसिद्धो धर्मी यथा अनित्यः शब्द इति। नहि प्रत्यक्षेणार्वाग्दर्शिभिरनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दाः शक्या निश्चेतुमिति शब्दस्य प्रमाणबुद्ध्युभयसिद्धता तेनानित्यत्वादिर्धर्मः प्रसाध्यत इति॥ १७॥

§ ६८. ननु दृष्टान्तोऽप्यनुमानाङ्गतया प्रतीतः। तत् कथं साध्यसाधने एवानुमानाङ्गमुक्ते न दृष्टान्तः?, इत्याह—

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥ १८ ॥

§ ६९. 'दृष्टान्तः' वक्ष्यमाणलक्षणो नानुमानस्य 'अङ्गम्' कारणम्॥ १८॥

§ ७०. कुत इत्याह—

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

§ ७१. दृष्टान्तरहितात्साध्यान्यथानुपपत्तिलक्षणात् 'साधनात्' अनुमानस्य साध्यप्रतिपत्तिलक्षणस्य भावान्न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गमिति।

१ धर्मो भवति किं–डे०। २ अविसंवादिज्योतिर्ज्ञानान्यथानुपपत्तेः। ३ अपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। ४ हेतूनाम्। ५ धर्मिणि। ६ हेतुरुभयधर्मः। ७ विरुद्धधर्मो –मु०। विरुद्धोऽधर्मो –डे०। ८ सत्ता सार्वज्ञी। ९ नैवम्—डे०। १० धर्मिणः। ११ सत्त्वम्। १२ विषयाणाम्। १३ सन्देहः। १४ सुखादिवत् सत्त्व० मु–पा०। १५ प्रमातृभिः। १६ –०रनियतदिग्दर्शिभिर्नियतदिग्देश –डे०। १७ किं सिद्धम्?। १८ प्रसाध्य इति–ता०। १९ अष्टादशमेकोनविंशतितमं च सूत्रद्वयं ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते; अत्रास्माकमपि द्वयोरैकत्वं सुचारु भाति–सम्पा०।

§ ७२. स[1] हि साध्यप्रतिपत्तौ वा, अविनाभावग्रहणे वा, व्याप्तिस्मरणे वोपयुज्येत ?। न तावत् प्रथमः पक्षः, यथोक्तादेव हेतोः साध्यप्रतिपत्तेरुपपत्तेः। नापि द्वितीयः, विपक्षे बाधकादेवाविनाभावग्रहणात्। किंच, व्यक्तिरूपो दृष्टान्तः। स कथं साकल्येन व्याप्तिं गमयेत् ?। व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं दृष्टान्तान्तरं मृग्यम्। तस्यापि व्यक्तिरूपत्वेन साकल्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वादपरापरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात्। नापि तृतीयः, गृहीतसम्बन्धस्य[3] साधनदर्शनादेव व्याप्तिस्मृतेः। अगृहीतसम्बन्धस्य[4] दृष्टान्ते[5]ऽप्यस्मरणात् उपलब्धि[6]पूर्वकत्वात् स्मरणस्येति ॥ १९ ॥

§ ७३. दृष्टान्तस्य लक्षणमाह–

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

§ ७४. 'स' इति दृष्टान्तो लक्ष्यं 'व्याप्तिः' लक्षितरूपा 'दर्शनम्' परस्मै प्रतिपादनं तस्य 'भूमिः' आश्रय इति लक्षणम्।

§ ७५ ननु यदि दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गं न भवति तर्हि किमर्थं लक्ष्यते ?। उच्यते। परार्थानुमाने बोध्या[7]नुरोधादापवादिकस्योदाहरणस्यानुज्ञास्यमानत्वात्[8]। तस्य[9] च दृष्टान्ताभिधानरूपत्वादुपपन्नं दृष्टान्तस्य लक्षणम्। प्रमातुरपि कस्यचित् दृष्टान्तदृष्टबहिर्व्याप्तिबलेनान्तर्व्याप्तिप्रतिपत्तिर्भवतीति स्वार्थानुमानपर्वण्य[10]पि दृष्टान्तलक्षणं नानुपपन्नम् ॥ २० ॥

§ ७६. तद्विभागमाह–

स[11] साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥

§ ७७. स दृष्टान्तः 'साधर्म्येण' अन्वयेन 'वैधर्म्येण' च व्यतिरेकेण भवतीति द्विप्रकारः ॥२१॥

§ ७८. साधर्म्यदृष्टान्तं विभजते–

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

§ ७९. साधन[12]धर्मेण प्रयुक्तो[13] न तु काकतालीयो यः साध्य[14]धर्मस्तद्वान् 'साधर्म्यदृष्टान्तः'। यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये घटादिः ॥२२॥

§ ८०. वैधर्म्यदृष्टान्तं व्याचष्टे–

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः[15] ॥२३॥

§ ८१. साध्यधर्मनिवृत्त्या प्रयुक्ता न यथाकथञ्चित् या साधनधर्मनिवृत्तिः तद्वान् 'वैधर्म्यदृष्टान्तः'। यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये आकाशादिरिति ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

---

१ दृष्टान्तः। २ वर्तमानस्य हेतोः। ३ पुंसः। ४ पुंसः। ५ सति। ६ दर्शनम्। ७ शिष्य०। ८ अनुसंस्यमानत्वात्। ९ उदाहरणस्य। १० प्रस्तावे। ११ ता–मू०–सं–मू०–प्रत्योः सत्रांसिकताडपत्रीयसूत्रे च 'स' नास्ति। १२ साधनमेव धर्मः। १३ कृतः। १४ साध्यो धर्म०–डे०। १५ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्। प्रथमोऽध्यायः समाप्तः–ता–मू०। इत्या··· द्वितीयाह्निकम्। प्रथमाध्यायः–सं–मू०।

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

§ १. लक्षितं स्वार्थमनुमानमिदानीं क्रमप्राप्तं परार्थमनुमानं लक्षयति–

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ॥ १ ॥

§ २. 'यथोक्तम्' स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणं यत् 'साधनम्' तस्याभिधानम्। अभिधीयते परस्मै प्रतिपाद्यते अनेनेति 'अभिधानम्' वचनम्, तस्माज्जातः सम्यगर्थनिर्णयः 'परार्थम्' अनुमानं परोपदेशापेक्षं साध्यविज्ञानमित्यर्थः ॥१॥

§ ३. ननु वचनं परार्थमनुमानमित्याहुस्तत्कथमित्याह–

वचनमुपचारात् ॥ २ ॥

§ ४. अचेतनं हि वचनं न साक्षात्प्रमितिफलहेतुरिति न निरुपचरितप्रमाणभावभाजनम्, मुख्यानुमानहेतुत्वेन तूपचरितानुमानाभिधानपात्रतां प्रतिपद्यते। उपचारश्चात्र कारणे कार्यस्य। यथोक्तसाधनाभिधानात् तद्विषया स्मृतिरुत्पद्यते, स्मृतेश्चानुमानम्, तस्मादनुमानस्य परम्परया यथोक्तसाधनाभिधानं कारणम्, तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। कार्ये वा प्रतिपादकानुमानजन्ये वचने कारणस्यानुमानस्योपचारः। वचनमौपचारिकमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः।

§ ५. इह च मुख्यार्थबाधे प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते। तत्र मुख्योऽर्थः साक्षात्प्रमितिफलः सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणशब्दसमानाधिकरणस्य परार्थानुमानशब्दस्य, तस्य बाधा, वचनस्य निर्णयत्वानुपपत्तेः। प्रयोजनम् अनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, निर्णयात्मन्यनंशे तद्व्यवहारानुपपत्तेः। निमित्तं तु निर्णयात्मकानुमानहेतुत्वं वचनस्येति ॥ २ ॥

तद् द्वेधा ॥ ३ ॥

§ ६. 'तद्' वचनात्मकं परार्थानुमानं 'द्वेधा' द्विप्रकारम् ॥ ३ ॥

§ ७. प्रकारभेदमाह–

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥ ४ ॥

---

१ प्रथमं द्वितीयं च सूत्रद्वयं ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखितं दृश्यते। २ यथा उक्तम्। ३ अनुमानशब्दवाच्यताम्। ४ मुख्यार्थस्योपचारः। ५ –० शब्दः समा –०के०। ६ अग्निर्माणवक इत्यत्र मुख्यार्थे दाहकत्वम्, वर्जनीयत्वबुद्धिः प्रयोजनम्, शाब्दप्रवृत्तौ निमित्तमुपतापकत्वम्। ७ परार्थानुमाने। ८ पूर्वोक्त०। ९ प्रवृत्तौ।

§ ८. 'तथा' साध्ये सत्येव 'उपपत्तिः' साधनस्येत्येकः प्रकारः । 'अन्यथा' साध्याभावे 'अनुपपत्तिः'चेति द्वितीयः प्रकारः । यथा अग्निमानयं पर्वतः तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः, अन्यथा धूमवत्त्वानुपपत्तेर्वा । एतावन्मात्रकृतः परार्थानुमानस्य भेदो न पारमार्थिकः स इति भेदपदेन दर्शयति ॥ ४ ॥

§ ९. एतदेवाह—

नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥ ५ ॥

§ १०. 'न' 'अनयोः'तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपयोः प्रयोगप्रकारयोः 'तात्पर्ये' 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्येवंलक्षणे तत्परत्वे, 'भेदः' विशेषः । एतदुक्तं भवति अन्यदभिधेयं शब्दस्यान्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम् । तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते, प्रकाश्यं त्वभिन्नम्, अन्वये कथिते व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिरित्युभयत्रापि साधनस्य साध्याविनाभावः प्रकाश्यते । न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र तात्पर्यभेदोऽपि । नहि पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदोऽस्तीति तात्पर्येणापि भेर्त्तव्यमिति भावः ॥५॥

§ ११. तात्पर्याभेदस्यैव फलमाह—

अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥ ६ ॥

§ १२. यत एव नानयोस्तात्पर्ये भेदः 'अत एव नोभयोः' तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्त्योर्युगपत् 'प्रयोगः' युक्तः । व्याप्त्युपदर्शनाय हि तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतोः प्रयोगः क्रियते । व्याप्त्युपदर्शनं चैकयैव सिद्धमिति विफलो द्वयोः प्रयोगः । यदाह—

"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥" [न्यायाव० १७]

§ १३. ननु यद्येकेनैव प्रयोगेण हेतोर्व्याप्त्युपदर्शनं कृतमिति कृतं विफलेन द्वितीयप्रयोगेण; तर्हि प्रतिज्ञाया अपि मा भूत् प्रयोगो विफलत्वात् । नहि प्रतिज्ञामात्रात् कश्चिदर्थं प्रतिपद्यते, तथा सति हि विप्रतिपत्तिरेव न स्यादित्याह—

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

§ १४. 'विषयः' यत्र तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा हेतुः स्वसाध्यसाधनाय प्रार्थ्यते, तस्य 'उपदर्शनम्' परप्रतीतावारोपणं तदर्थं पुनः 'प्रतिज्ञा' प्रयोक्तव्येति शेषः ।

---

१ अग्निमत्त्वे सत्येव । २ –०क इति ०–डे० । ३ डे० प्रतौ 'न' नास्ति । ४ यः शब्दस्य परार्थस्तत् तात्पर्यमिति भावः । ५ यः परः प्रकृष्टोऽर्थोऽस्य । ६ शब्दस्यार्थः –ता० । ७ (?) यस्तथोपपत्त्या विधिर्वाच्यः अन्यथानुपपत्त्या तु निषेधः । ८ निति(?) शेषः । ९ सूत्रार्थस्य । १० क्वचिदर्थ–ता० । ११ प्रतिज्ञामात्रादर्थंप्रतिपत्तेः । १२ विषयप्रद० –ता–मु० । १३ स्वसाध०–डे० ।

§ १५. अयमर्थः—परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयता प्रेक्षावता तदेव परे बोधयितव्या यद्बुभुत्सन्ते । तथासत्यनेन बुभुत्सिताभिधायिना परे बोधिता भवन्ति । न खल्वश्वान् पृष्टो गवयान् ब्रुवाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति । अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम ?। यथा च शैक्षो भिक्षुणाचचक्षे—भोः शैक्ष, पिण्डपातमाहरेति । स एवमाचरामीत्यनभिधाय यदा तदर्थं प्रयतते तदाऽस्मै क्रुध्यति भिक्षुः—आः शिष्याभास भिक्षुखेट, अस्मानवधीरयसीति विब्रुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय अनित्यः शब्द इति विषयमनुपदर्श्य यदेव किञ्चिदुच्यते—कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा, कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा, तत् सर्वमस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानबुद्ध्या; तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हतीति ।

§ १६. यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रोति चेत् ; न, परस्पराश्रयात् । अवधाने हि सत्यतोऽर्थनिश्चयः, तस्माच्चावधानमिति । न च पर्षत्प्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवादिनौ यदेतद्वचनसम्बन्धाय प्रयतिष्येते । तथासति न हेत्वाद्यपेक्षेयाताम्, तद्वचनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षिते उक्ते कुत इत्याशङ्कायां कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेः कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेर्वेत्युपतिष्ठते, तदिदं विषयोपदर्शनार्थत्वं प्रतिज्ञाया इति ॥७॥

§ १७. ननु यत् कृतकं तदनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इत्युक्ते गम्यत एतद् अनित्यः शब्द इति, तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात्, तथापि तद्वचने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम्" [न्यायसू० ५. २. १५] । आह च—डिण्डिकरागं परित्यज्याक्षिणी निमील्य चिन्तय तावत् किमियतो प्रतीतिः स्यान्नवेति, भावे किं प्रपञ्चमालया" [हेतु० परि० १] इत्याह—

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥ ८ ॥

§ १८. साध्यमेव धर्मस्तस्याधारस्तस्य सन्देहस्तदपनोदाय—यः कृतकः सोऽनित्य इत्युक्तेऽपि धर्मिविषयसन्देह एव—किमनित्यः शब्दो घटो वेति ?, तन्निराकरणाय गम्यमानस्यापि साध्यस्य निर्देशो युक्तः, साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोप-

१ भैक्षान्नम् । २ –०पातमा०–डे० । ३ करोमि । ४ पिण्डपातार्थम् । ५ –०ति ब्रुवा०–ता० । ६ निन्दन् । ७ शब्दलक्षणम् । ८ प्रतिपाद्यस्य । ९ प्रथमतः । १० असावधानः । ११ वचनात् । १२ –०ऽर्थे नि०–डे० । १३ अर्थनिश्चयात् । १४ प्रमाणीकृतौ वादी सभ्याभ्याम् । १५ वादि० । १६ प्रमाणीकृतवादित्वेऽपि सति । १७ पर्षत्प्रतिवादिनौ । १८ तच्छब्देन वादी । १९ तद्वचना०–ता० । २० सामर्थ्यात् । २१ डिण्डिको नाम रक्तवर्णो मूषकविशेषः । तद्वत् रागं रक्तिमानं नेत्रगतं परित्यज्य नेत्रे विमलीकृत्येत्यर्थः–मु–टि० । डिण्डिका हि प्रथमनामलिखने विवादं कुर्वन्ति । २२ निर्मील्य–डे० । २३ –०यता मद्युक्तेन प्र०–डे० । २४ अनित्यत्वस्य । २५ प्रतीतिभावे । २६ सिषाधयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः ।

संहारवचनवत् । यथा हि साध्यव्याप्तसाधनदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थम्–कृतकश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारवचनं तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय प्रतिज्ञावचनमप्युपपद्यत एवेति ॥ ८ ॥

§ १९. ननु प्रयोगं प्रति विप्रतिपद्यन्ते वादिनः, तथाहि–प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानीति त्रयवयवमनुमानमिति साङ्ख्याः । सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसकाः । सहनिगमनेन पञ्चावयवमिति नैयायिकाः । तदेवं विप्रतिपत्तौ कीदृशोऽनुमानप्रयोग इत्याह–

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥ ९ ॥

§ २०. 'एतावान्' एव यदुत तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च । 'प्रेक्षाय' प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः 'प्रयोगः' न त्वधिको यथाहुः साङ्ख्यादयः, नापि हीनो यथाहुः सौगताः–"विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" [प्रमाणवा० १. २८] इति ॥ ९ ॥

§ २१. ननु परार्थप्रवृत्तैः कारुणिकैर्यथाकथञ्चित् परे प्रतिबोधयितव्या नासम्यवस्थोपन्यासैरमीषां प्रतिभाभङ्गः करणीयः, तत्किमुच्यते एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ?, इत्याशङ्क्य द्वितीयमपि प्रयोगक्रममुपदर्शयति–

बोध्यानुरोधात्प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

§ २२. 'बोध्यः' शिष्यस्तस्य 'अनुरोधः' तदवबोधनप्रतिज्ञापारतन्त्र्यं तस्मात्, प्रतिज्ञादीनि पञ्चापि प्रयोक्तव्यानि । एतानि चावयवसञ्ज्ञया प्रोच्यन्ते । यदक्षपादः–"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १. १. ३२] इति । 'अपि' शब्दात् प्रतिज्ञादीनां शुद्धयश्च पञ्च बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्याः । यच्छ्रीभद्रबाहुस्वामिपूज्यपादाः–

"कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुट्ठं ति ॥"

[दश० नि० ५०]

§ २३. तत्र प्रतिज्ञाया लक्षणमाह–

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

§ २४. साध्यं सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी, निर्दिश्यते अनेनेति निर्देशो वचनम्, साध्यस्य निर्देशः 'साध्यनिर्देशः' 'प्रतिज्ञा' प्रतिज्ञायतेऽनयेति कृत्वा, यथा अयं प्रदेशोऽग्निमानिति ॥ ११ ॥

§ २५. हेतुं लक्षयति–

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥ १२ ॥

१ तथाहि–डे० । २ सामान्यतः साधनधर्माधारावव(ग)तिः । ३ –०ज्ञानवच०–डे० । ४ यदाहुः–डे० । ५ "तज्ज्ञाप्यहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तद्विदिनः । ख्याप्येते" । ६ परे बोध० –डे० । ७ परेषाम् । ८ प्रतिभङ्गः–डे० । प्रतीतिभङ्गः –मु० । ९ –०वान् प्रयो०–ता० ।

§ २६. साधनत्वाभिव्यञ्जिका विभक्तिः पञ्चमी तृतीया वा तदन्तम्, 'साधनस्य' उक्तलक्षणस्य 'वचनम्' हेतुः । धूम इत्यादिरूपस्य हेतुत्वनिराकरणाय प्रथमं पदम् । अव्याप्तवचनहेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयमिति । स द्विविधस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्याम्, तद्यथा धूमस्य तथैवोपपत्तेर्धूमस्यान्यथानुपपत्तेर्वेति ॥ १२ ॥

§ २७. उदाहरणं लक्षयति—

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

§ २८. 'दृष्टान्तः' उक्तलक्षणस्तत्प्रतिपादकं 'वचनम्' 'उदाहरणम्' तदपि द्विविधं दृष्टान्तभेदात् । साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं साधर्म्योदाहरणम्, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसप्रदेशः । साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं वैधर्म्योदाहरणम्, यथा योऽग्निनिवृत्तिमान् स धूमनिवृत्तिमान् यथा जलाशयप्रदेश इति ॥१३॥

§ २९ उपनयलक्षणमाह—

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

§ ३०. दृष्टान्तधर्मिणि विस्मृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः 'उपसंहारः' सः 'उपनयः' उपसंह्रियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः, यथा धूमवांश्चायमिति ॥१४॥

§ ३१. निगमनं लक्षयति—

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

§ ३२. साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगम्यते पूर्वेषामवयवानामर्थोऽनेनेति 'निगमनम्', यथा तस्मादग्निमानिति ।

§ ३३. एते नान्तरीयकत्वप्रतिपादका वाक्यैकदेशरूपाः पञ्चावयवाः । एतेषामेव शुद्धयः पञ्च । यतो न शङ्कितसमारोपितदोषाः पञ्चाप्यवयवाः स्वां स्वामनादीनवामर्थविषयां धियमाधातुमलमिति प्रतिज्ञादीनां तं तं दोषमाशङ्क्य तत्परिहाररूपाः पञ्चैव शुद्धयः प्रयोक्तव्या इति दशावयवमिदमनुमानवाक्यं बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्यमिति ॥१५॥

§ ३४. इह शास्त्रे येषां लक्षणमुक्तं ते तल्लक्षणाभावे तदाभासाः सुप्रसिद्धा एव । यथा प्रमाणसामान्यलक्षणाभावे संशयविपर्ययानध्यवसायाः प्रमाणाभासाः, संशयादिलक्षणाभावे संशयाद्याभासाः, प्रत्यक्षलक्षणाभावे प्रत्यक्षाभासम्, परोक्षान्तर्गतानां स्मृत्यादीनां स्वस्वलक्षणाभावे तत्तदाभासतेत्यादि । एवं हेतूनामपि स्वलक्षणाभावे हेत्वाभासता

१ तदन्तसा०—डे० । २ अव्याप्तस्य हेतोर्वचनं तस्य हेतुत्वम् । ३ —०चने हे०—डे० । ४ विस्मृतस्य । ५ विप्रसृतस्य—डे० । ६ प्रस्तुते धर्मिणि द्योत्यते साधनधर्मः । ७ उपसंहारव्य(व्यु)त्पत्तिरुपनयव्युत्पत्तिः । ८ निश्चीयते । ९ प्रयोजनम् । १० सा(ना)न्तरीयकोऽविनाभावी साधनलक्षणोऽर्थः । ११ —०कत्वं प्रति०— डे० । १२ शङ्किताः सन्दिग्धाः समारोपिताश्च दोषा एषाम् । १३ समर्थाः । १४ तत्तत्प०—डे० । १५ —० कं तल्ल०—डे० । १६ —० भासः परो० —मु० ।

सुज्ञानैव। केवलं हेत्वाभासानां सङ्ख्यानियमः प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं च नेषत्कर[1]प्रतिपत्तीति तल्लक्षणार्थमाह–

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

§ ३५. अहेतवो हेतुवदाभासमानाः 'हेत्वाभासाः' असिद्धादयः। यद्यपि साधनदोषा एवैते अदुष्टे साधने तदभावात् तथापि साधनाभिधायके हेतावुपचारात् पूर्वाचार्यै[2]रभिहितास्ततस्तत्प्रसिद्धिबाधामनाश्रयद्भिरस्माभिरपि हेतुदोषत्वेनैवोच्यन्त इति।

§ ३६. 'त्रयः' इति सङ्ख्यान्तरव्यवच्छेदार्थम्। तेन कालातीत-प्रकरणसमयोर्व्यवच्छेदः। तत्र काला[3]तीतस्य पक्षदोषेष्वन्तर्भावः। "प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्दे[4]शानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः" इति हि तस्य लक्षणमिति, यथा अनुष्णस्तेजोऽवयवी कृतकत्वात् घटवदिति। प्रकरणसमस्तु न सम्भवत्येव; नह्यस्ति सम्भवो यथोक्तलक्षणेऽनुमाने प्रयुक्तेऽदूषिते वा[5]ऽनुमानान्तरस्य। यत्तूदाहरणम्–अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् इत्येकेनोक्ते द्वितीय आह–नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादिति। तदतीवासाम्प्रतम्। को हि चतुरङ्गसभायां वादी प्रतिवादी[6] वैवंविधमसम्बद्धमनुन्मत्तोऽभिदधीतेति ? ॥ १६ ॥

§ ३७. तत्रासिद्धस्य लक्षणमाह–

नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ॥ १७ ॥

§ ३८. 'असन्' अविद्यमानो 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्या[7]सिद्धौ 'असिद्धः' हेत्वाभासः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः। यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति। अपक्षधर्मत्वा[8]दयमसिद्ध इति न मन्तव्यमित्याह–'नान्यथानुपपन्नः' इति। अन्यथानुपपत्तिरूपहेतुलक्षणविरहादयमसिद्धो नापक्षधर्मत्वात्। नहि पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं तदभावेऽप्यन्यथानुपपत्तिबलाद्धेतुत्वोपपत्तेरित्युक्तप्रायम्। भट्टोऽप्याह–

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा[9]।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥" इति।

§ ३९. तथा 'अनिश्चितसत्त्वः' सन्दिग्धसत्त्वः 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्य सन्देहेऽप्यसिद्धो हेत्वाभासः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः। यथा बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमाना धूम-

---

१ ईषत्करा सुकरा प्रतीतिर्यस्य। २ पूर्वाचार्यै०। ३ कालमतीतोऽतिक्रान्तः। ४–०श्रितधर्मिनि०–डे०। ५ –०श्रिते चानु०–ता०। ६ ०दी चैवं०–डे०। ७ ०स्यासिद्धावपि सिद्धो हे०–ता०। ८ पक्षधर्मतां विनाप्यन्यथानुपपन्नत्वेनैव हेतुर्भवति। यथा पर्वतस्योपरि वृष्टो मेघो नदीपूरान्यथानुपपत्तेरित्यादावित्याशङ्क्याह। ९ अयं पुत्रो ब्राह्मणः पित्रोर्ब्राह्मणत्वादिति पुत्रे ब्राह्मणताया अनुमानम्।

लताग्निसिद्धाद्युपदिश्यमाना, यथा चात्मनः सिद्धावपि सर्वगतत्वे साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्[3], प्रमाणाभावादिति ॥ १७ ॥

§ ४०. असिद्धप्रभेदानाह–

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥ १८ ॥

§ ४१. 'वादी' पूर्वपक्षस्थितः 'प्रतिवादी' उत्तरपक्षस्थितः उभयं द्वावेव वादिप्रतिवादिनौ । तद्भेदादसिद्धस्य 'भेदः' । तत्र बाध्यसिद्धो यथा परिणामी शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् । अयं साङ्ख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धः, तन्मते उत्पत्तिमत्त्वस्यानभ्युपेतत्वात्, नासदुत्पद्यते नापि सद्विनश्यत्युत्पादविनाशयोराविर्भावतिरोभावरूपत्वादिति तत्सिद्धान्तात् । चेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणात् । अत्र मरणं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणं तरुषु बौद्धस्य प्रतिवादिनोऽसिद्धम् । उभयासिद्धस्तु चाक्षुषत्वमुक्तमेव । एवं सन्दिग्धासिद्धोऽपि वादिप्रतिवाद्युभयभेदात् त्रिविधो बोद्धव्यः ॥ १८ ॥

§ ४२. नन्वन्येऽपि विशेष्यासिद्धादयो हेत्वाभासाः कैश्चिदिष्यन्ते ते कस्मान्नोक्ता इत्याह–

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥ १९ ॥

§ ४३. 'एष्वेव' वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धेष्वेव । तत्र विशेष्यासिद्धादय उदाह्रियन्ते । विशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात् । विशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यविशेषवत्त्वात् । भागासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । आश्रयासिद्धो यथा अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात् । आश्रयैकदेशासिद्धो यथा नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः अकृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्दिग्धविशेषणासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वादित्यादि । एतेऽसिद्धभेदा यदान्यतरबाध्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा बाध्यसिद्धाः प्रतिबाध्यसिद्धा वा भवन्ति । यदोभयबाध्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदोभयासिद्धा भवन्ति ॥ १९ ॥

§ ४४. विरुद्धस्य लक्षणमाह–

विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः ॥ २० ॥

---

१ यथा वात्म०–डे । २ आत्मा सर्वगतः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् । ३ –०गुणत्वं सन्दिग्धम् । ४ –०न्ताश्च । चेत०–डे० । ५ न केवलं स्वरूपासिद्धो । ६ "आहितात्म्यादिषु" [हैमश० ३.१.१५३] ७ आत्मा व्यवच्छिन्नः । ८ भागे एकदेशे असिद्धः प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गर्जिते अभावात् । ९ सामान्यं व्यवच्छिन्नम् । १० नैयायिकस्य । ११ ननु सामान्यवत्त्वे सतीति विशेषणं ध्वंसाभावव्यवच्छेदार्थं भविष्यतीति, नैवम्, बौद्धमीमांसकौ वाङ्मात्रप्रतिवादिनौ स्तस्तयोश्च मतेऽभाव एव नास्तीति । १२ ध्वंसादिव्यवच्छेदाय पुरुषत्वे सतीत्युक्तम् । १३ साध्यं विनैवोपपद्यमानो विपरीतनियमत्वात् ।

§ ४५. 'विपरीतः' यथोक्ताद्विपर्यस्तो 'नियमः' अविनाभावो यस्य स तथा, तस्यैवो-पदर्शनम् 'अन्यथैवोपपद्यमानः' इति । यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्, परार्थाश्चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदित्यत्रासंहतपारार्थ्ये साध्ये चक्षुरादीनां संहतत्वं विरुद्धम् । बुद्धिमत्पूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राशरीरसर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कार्यत्वं विरुद्ध-साधनाद्विरुद्धम् ।

§ ४६. अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्गृहीताः । यथा सति सपक्षे चत्वारो भेदाः । पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात् । पक्षव्यापको विप-क्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । पक्षै-कदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा नित्या पृथ्वी कृतकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्ष-व्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्ति-र्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दोऽपदात्मकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । एषु च चतुर्षु विरुद्धता, पक्षैकदेशवृत्तिषु चतुर्षु पुनर-सिद्धता विरुद्धता चेत्युभयसमावेश इति ॥ २० ॥

§ ४७. अनैकान्तिकस्य लक्षणमाह—

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः ॥२१॥

§ ४८. 'नियमः' अविनाभावस्तस्य 'असिद्धौ' 'अनैकान्तिकः' यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, प्रमेयत्वं नित्येऽप्याकाशादावस्तीति । सन्देहे यथा असर्वज्ञः कश्चिद् रागादिमान् वा वक्तृत्वात् । स्वभावविप्रकृष्टाभ्यां हि सर्वज्ञत्ववीतरागत्वाभ्यां न वक्तृत्वस्य विरोधः सिद्धः, न च रागादिकार्यं वचनमिति सन्दिग्धोऽन्वयः । ये चान्येऽन्यैरनैकान्तिकभेदा उदाहृतास्त उक्तलक्षण एवान्तर्भवन्ति । पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्

---

१ साध्याविनाभावलक्षणात् । २ साध्यविरुद्धेनाविनाभावात् । ३ आत्मार्थाः । ४ –०नासना० –दै० । ५सङ्घातत्वम् । ६ संहतपरार्थस्यैव साधकत्वादस्य । ७ कार्यत्वं हि पक्षे शब्दे विपक्षे चानित्ये घटादौ दृष्टम् । ८ अनित्येषु घटादिषु हेतुरस्ति द्व्यणुकादिषु सुखदुःखादिषु नास्ति इति । ९ परमाणुरूपायां पृथिव्यां कृतकत्वं नास्ति कार्यरूपायां अस्ति इति पक्षैकदेशवृत्तिता । १० देशशब्दो(दे)ऽप्रयत्नानन्तरी-यकविद्युति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नास्ति इति पक्षैकदेशः । ११ शब्दमन्तरेणान्यस्य विशेषगुणस्या-ऽसम्भवात् सपक्षाभावः । १२ संयोगादयः सामान्यगुणाः । आकाशसंयोगादिषु बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व-मस्ति न महत्त्वादिषु । १३ मेघादिध्वनीनामपदात्मकत्वमिति पक्षैकदेशवृत्तिता, संयोगादिषु अपदात्मकत्वेव । १४ विपक्षे संयोगादौ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति महत्त्वे तु नास्ति । १५ पक्षैकदेशे विद्यमानत्वात् । १६ –०ता चेत्यु० –ता० । १७ –०मावेश –ता० । १८ न केवलं साध्ये सति साध्यं विनाऽपीत्यपरार्थः(विनापि इत्यपेरर्थः) १९ ता० येन सह । २० प्रमाणपरिच्छेद्यत्वात् ।

पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा गौरयं विषाणित्वात्। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नायं गौः विषाणित्वात्। पक्षव्यापकः सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्यः शब्दः प्रत्यक्षत्वात्। पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षविपक्षव्यापको यथा न द्रव्याण्याकाशकालदिगात्ममनांसि क्षणिकविशेषगुणरहितत्वात्। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी यथा न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात्। पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापी यथा द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात्। पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्या पृथ्वी प्रत्यक्षत्वादिति॥ २१॥

§ ४९. उदाहरणदोषानाह–

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

§ ५०. परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात् तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते। दृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वात् प्रत्येकम् 'अष्टावष्टौ' दृष्टान्तवदाभासमानाः 'दृष्टान्ताभासाः' भवन्ति॥ २२॥

§ ५१. तानेवोदाहरति विभजति च–

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्म-परमाणु-घटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥

§ ५२. नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन् प्रयोगे कर्मादयो यथासङ्ख्यं साध्यादिविकलाः। तत्र कर्मवदिति साध्यविकलः, अनित्यत्वात् कर्मणः। परमाणुवदिति साधनविकलः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम्। घटवदिति साध्यसाधनोभयविकलः, अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्येति। इति त्रयः साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥२३॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥ २४ ॥

§ ५३. नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन्नेव प्रयोगे 'परमाणुकर्माकाशाः' साध्यसाधनोभयाव्यतिरेकिणो दृष्टान्ताभासा भवन्ति। यन्नित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति यथा परमाणुरिति साध्याव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणूनाम्। यथा कर्मेति साधनाव्यावृत्तः, अमूर्तत्वात् कर्मणः। यथाकाशमित्युभयाव्यावृत्तः, नित्यत्वादमूर्तत्वाच्चाकाशस्येति त्रय एव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः॥ २४॥

---

१ अश्वादौ विषाणित्वं नास्ति महिषादौ त्वस्ति इति विपक्षैकदेशवृत्तित्वम्। २ शब्दत्वात्। ३ अजं दृष्ट्वा वक्ति। महिषादावस्ति अश्वादौ तु नास्ति। ४ द्व्यणुकादि न प्रत्यक्षं घटादिकं तु प्रत्यक्षम्। ५ नित्यं सामान्यं प्रत्यक्षमाकाशं तु न। ६ आत्माकाशौ सुखशब्दादिक्षणिकविशेषगुणयुक्तौ, [विपक्षाः] पृथिव्यादयः। भुवो गन्धः अपां स्नेहोऽक्षणिकविशेषगुणौ। ७ आकाशोऽमूर्तः पृथिवी मूर्ता। ८ परमाणुरूपा पृथिवी न प्रत्यक्षा कार्यरूपा तु प्रतीति पक्षैक[देशः], आत्मद्व्यणुकेषु सपक्षेषु प्रत्यक्षत्वाभावः, नित्येषु सामान्यादिषु प्रत्यक्षत्वम्, खे तु न। ९ त्रयोऽपि सा॰-मु-पा॰।

§ ५४. तथा—

वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥ २५ ॥

§ ५५. सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयान्वयाः सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयव्यतिरेकाश्च त्रयस्त्रयो दृष्टान्ताभासा भवन्ति । के इत्याह–'रथ्यापुरुषादयः' । कस्मिन् साध्ये ? । 'रागे' 'मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः' च । कस्मादित्याह–'वचनात्' 'रागात्' च । तत्र सन्दिग्धसाध्यधर्मान्वयो यथा विवक्षितः पुरुषविशेषो रागी वचनाद् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनधर्मान्वयो यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोभयधर्मान्वयो यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवदिति । एषु परचेतोवृत्तीनां दुरधिगमत्वेन साधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सत्त्वं सन्दिग्धम् । तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेको यथा रागी वचनात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । एषु पूर्ववत् परचेतोवृत्तेर्दुरन्वयत्वाद्वैधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोरसत्त्वं सन्दिग्धमिति ॥ २५ ॥

§ ५६. तथा—

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥ २६ ॥

§ ५७. 'विपरीतान्वयः' 'विपरीतव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ भवतः । तत्र विपरीतान्वयो यथा यत् कृतकं तदनित्यमिति वक्तव्ये यदनित्यं तत् कृतकं यथा घट इत्याह । विपरीतव्यतिरेको यथा अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति वक्तव्ये कृतकत्वाभावे न भवत्येवानित्यत्वं यथाकाश इत्याह । साधनधर्मानुवादेन साध्यधर्मस्य विधानमित्यन्वयः । साध्यधर्मव्यावृत्त्यनुवादेन साधनधर्मव्यावृत्तिविधानमिति व्यतिरेकः । तयोरन्यथाभावे विपरीतत्वम् । यदाह—

"साध्यानुवादाल्लिङ्गस्य विपरीतान्वयो विधिः ।
हेत्वभावे त्वसत्साध्यं व्यतिरेकविपर्यये ॥" इति ॥२६॥

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥ २७ ॥

§ ५८. 'अप्रदर्शितान्वयः' 'अप्रदर्शितव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ । एतौ च

१–०धर्मत्वकि०–डे० । २ साध्ययोः । ३ यथासंख्येन । ४ यो यो रागी न भवति स स वक्तापि न भवति । रथ्यानरे केनाऽपि प्रकारेण मूर्खत्वादिना वचनाभावे निश्चिते रागित्वं सन्दिग्धत्वे । ५ मरणापवादिनं साङ्ख्यं प्रति जैनो वक्ति । ६ प्रयोगेषु । ७–०भावो वि०–डे० । ८–०न्वये वि०–ता० । ९ कथयति । १०–०पर्यय इ०–डे० ।

प्रमाण[1]स्यानुपदर्शनाद्वक्तो न तु वीप्सा[2]सर्वा[3]वधा[4]रणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेष्वसति प्रमाणे त[5]योरसिद्धेरिति । साध्यविकलसाधनविकलोभयविक[6]लाः, सन्दिग्धसाध्यान्वयसन्दिग्धसाधनान्वयसन्दिग्धोभयान्वयाः, विपरीतान्वयः, अप्रदर्शितान्वयश्चेत्यष्टौ साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः । साध्याव्यावृत्तसाधनाव्यावृत्तोभयाव्यावृत्ताः, सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्तिसन्दिग्धसाधनव्यावृत्तिसन्दिग्धोभयव्यावृत्तयः, विपरीतव्यतिरेकः, अप्रदर्शितव्यतिरेकश्चेत्यष्टावेव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासा भवन्ति ।

§ ५९. नन्वनन्वयाव्यतिरेकावपि कैश्चिद् दृष्टान्ताभासावुक्तौ, यथा रागादिमानयं वचनात् । अत्र साधर्म्यदृष्टान्ते आत्मनि रागवचनयोः सत्यपि साहित्ये, वैधर्म्यदृष्टान्ते चोपलखण्डे सत्यामपि सह निवृत्तौ प्रति[7]बन्धाभावेनान्वयव्यतिरेकयोरभाव इत्यनन्वयाव्यतिरेकौ । तौ कस्मादिह नोक्तौ ? । उच्यते–ताभ्यां पूर्वे न भिद्यन्त इति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्येकमष्टावेव दृष्टान्ताभासा भवन्ति । यदाहुः–

"लिङ्गस्यानन्वया अष्टावष्टावव्यतिरेकिणः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं कथंचित् ख्यापयन्त्यमी ॥" इति ॥२७॥

§ ६०. अवसितं परार्थानुमानमिदानीं तन्नान्तरीयकं दूषणं लक्षयति–

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥२८॥

§ ६१. 'साधनस्य' परार्थानुमानस्य ये असिद्धविरुद्धादयो 'दोषाः' पूर्वमुक्तास्तेषामुद्भाव्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति 'उद्भावनम्' साधनदोषोद्भावकं वचनं 'दूषणम्' । उत्तरत्राभूतग्रहणादिह भूतदोषो[8]द्भावना दूषणेति सिद्धम् ॥२८॥

§ ६२. दूषणलक्षणे दूषणाभासलक्षणं सुज्ञानमेव भेदप्रतिपादनार्थं तु तल्लक्षणमाह–

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि ॥२९॥

§ ६३. अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्यदूषणान्यपि दूषणवदाभासमानानि 'दूषणाभासाः' । तानि च 'जात्युत्तराणि' । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वात् । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि । तानि च सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वात्परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, तथाप्यक्षपाददर्शितदिशा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्र[9]सङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यका[10]र्यसमरूपतया चतुर्विंशतिरुपदर्श्यन्ते ।

१ व्याप्तिग्राहकस्य ऊहाख्यस्य । २ यत् यत् कृतकम् । ३ यत्कृतकं तत्सर्वम् । ४ यत् कृतकं तदनित्यमेव । ५ अन्वयव्यतिरेकयोः । ६–०कलसन्दि०–डे० । ७ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभावे[न] ८ भूतादोष०—डे० । ९ संख्याशब्दोऽयम् । १० –०कार्यसरूप०–ता० ।

§ ६४. तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्–नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति १। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते–नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्; अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति २। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते–यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट एवं शब्दोऽप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति ४। वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यः। तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते–यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग्घटधर्मो यादृग्घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति ५–६। धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कवशय्यादि, किञ्चित्कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादि किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति ७। साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः। यथा–यदि यथा घटस्तथा शब्दः, प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति। शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवतु। ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात्। न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरामदृष्टान्त इति ८। प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती। यथा यदेतत् कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साधयत्यप्राप्य वा?। प्राप्य चेत्; द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति, न सदसतोरिति। द्वयोश्च सत्त्वात् किं कस्य साध्यं साधनं वा? ९। अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति १०। अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथा यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्वे इदानीं किं साधनम्?। तत्साधनेऽपि किं साधनमिति? ११। प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह–यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्, कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति। न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनम्, भङ्ग्यन्तरेण प्रत्य-

१ जैनः उत्तरं श्रुते निरवयवत्वं पक्षासिद्धं साधनविकलश्च दृष्टान्तः, ज्ञानेनानैकान्तिकोऽपि। २ अत्रापि ज्ञानेनानैकान्तिकः। ३ साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मयोर्वैधर्म्यमापादयन्। ४ वर्ण्येन साध्यधर्मेण दृष्टान्तस्यावर्ण्यभूतस्य समताख्यापने न दृष्टान्तत्वं स्यादिति वर्ण्यसमा जातिः। ५ अवर्ण्यरूपदृष्टान्तावष्टम्भेन साधनस्याऽवर्ण्यरूपत्वमापातमिरवर्ण्यसमा जातिः। ६ यादृक् न घ०–मु–पा०।

वस्थानात् १२ । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः । यथा अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते ? । तदेवं हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३ । साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति । यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्याद्वा निरवयवत्वान्नित्य इति ? १४ । द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्रैव अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे–नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् १५ । त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिः । यथा हेतुः साधनम् । तत् साध्यात्पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत् ? । यदि पूर्वम् ; असति साध्ये तत् कस्य साधनम् ? । अथ पश्चात्साधनम् ; पूर्वं तर्हि साध्यम् , तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन ? । अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६ । अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः । यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति १७ । अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः । यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति १८ । उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वम् , निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति ? । पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९ । उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते–न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम् ; साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते । उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम् । शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २० । अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी–न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेत् ; न, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भसद्भावात् । आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः । तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति । ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति २१ । साध्य-

१ तथैवानि०–डे० । २ जैनं प्रति दृष्टान्तः साध्यविकलत्वेन हि शब्दत्वस्य नित्यानित्यत्वस्याभ्युपेतत्वात् स्यात्सिद्ध्यसिद्धा । ३ उद्भावनं प्र०–ता० । ४ तस्मिन् पूर्वं सिद्धे—डे० । ५–आवनं प्र०—डे० । ६ अत्र पूर्वोक्तमेवोत्तरम् । ७–०त्यैवावर०–डे० । ८ चेत् भा०–डे० । ९ अत्रोत्तरम्—प्रत्ययभेदभेदित्वात्, अ(?)-प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विवक्षितशब्दस्य सिद्धमेव प्रयत्न(?)प्रयत्नेन शब्दो विवक्षितो जन्यत एव न तु व्यज्यते ।

धर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति–येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति ? । यद्यनित्या ; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः । अथानित्यता नित्यैव[1] ; तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्यो भवेत्, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्यः शब्द इति[2] २२ । सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः । यथा घटेन साधर्म्यमनित्येन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वम् ; तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति । अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं[3] जातिः २३ । प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह–प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम्–किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादि, किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिनाऽभिव्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति । संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते २४ ।

§ ६५. तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते दर्शिताः । प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनामन्यथानुपपत्तिलक्षणानुमानलक्षणपरीक्षणमेव[4] । न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवंप्रायाः पांशुपाताः प्रभवन्ति । कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृढप्रतिबन्धत्वाच्चावरणादिकृतं शब्दानुपलम्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव[5] । जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं न प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्य प्रसङ्गादिति ।

§ ६६. छलमपि च सम्यगुत्तरत्वाभावाज्जात्युत्तरमेवं । उक्तं ह्यसदुद्भावनप्रकारभेदेनानन्तानि जात्युत्तराणीति । तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम् । तत्त्रिधा वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति । तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया[6] तन्निषेधो वाक्छलम् । यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः सङ्ख्यामारोप्य निषेधति–कुतोऽस्य नव कम्बला इति ? । सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति–सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति । तद् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते–यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, व्रात्येऽपि सा भवेत्

१ –० त्यैव न तथा० –डे० । २ विनश्वरस्वभावायामनित्यतायां नित्यानित्यत्वविकल्पना न घटत एव अन्यथा कृतकत्वस्याऽपि कृतकत्वं पृच्छ्यताम् । ३ जैनं प्रति(?)साध्यता नैयायिकं प्रत्यनित्यत्वस्य शब्दकृतकत्वेन व्यासिर्दृष्टा व्यभिचारात्(?) । ४–०क्षणहेतुपरी०–डे० । ५– ,मेव च । – डे० । ६–०प्रेतादर्थान्तर०–डे० ।

व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते—कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति । तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति ॥२९॥

§ ६७. साधनदूषणाद्यभिधानं च प्रायो वादे भवतीति वादस्य लक्षणमाह-- 5

तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं

वादः ॥ ३० ॥

§ ६८. स्वपक्षसिद्धये वादिनः 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय प्रतिवादिनो 'दूषणम्' । प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धये 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय वादिनो 'दूषणम्' । तदेवं वादिनः साधनदूषणे प्रतिवादिनोऽपि साधनदूषणे द्वयोर्वादिप्रतिवादिभ्याम् 'वदनम्' अभिधानम् 10 'वादः' । कथमित्याह--'प्राश्निकादिसमक्षम्' । प्राश्निकाः सभ्याः--

"स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयेप्सिताः क्षमिणः ।
वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः ॥"

इत्येवंलक्षणाः । 'आदि'ग्रहणेन सभापतिवादिप्रतिवादिपरिग्रहः, सेयं चतुरङ्गा कथा, एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपत्तेः । नहि वर्णाश्रमपालनक्षमं न्यायान्यायव्यवस्थापकं पक्षपातरहितत्वेन समदृष्टिं सभापतिं यथोक्तलक्षणांश्च प्राश्निकान् विना वादिप्रतिवादिनौ स्वाभिमतसाधनदूषणसरणिमाराधयितुं क्षमौ । नापि दुःशिक्षितकुतर्कलेशवाचालबालिशजनविप्लावितो गतानुगतिको जनः सन्मार्गं प्रतिपद्येतेति । तस्य फलमाह--'तत्त्वसंरक्षणार्थम्' । 'तत्त्व'शब्देन तत्त्वनिश्चयः साधुजनहृदयविपरिवर्ती गृह्यते, तस्य रक्षणं दुर्विदग्धजनजनितविकल्पकल्पनात इति । 20

§ ६९. ननु तत्त्वरक्षणं जल्पस्य वितण्डाया वा प्रयोजनम् । यदाह—**"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखापरिचरणवत्"** [न्यायसू० ४. २. ५०] इति; न, वादस्यापि निग्रहस्थानवत्त्वेन तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् । न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम् । **"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः"** 25 [न्यायसू० १. २. १] इति वादलक्षणे सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनासिद्धान्तस्य, पञ्चावयवोपपन्न इत्यनेन न्यूनाधिकयोर्हेत्वाभासपञ्चकस्य चेत्यष्टानां निग्रहस्थानानामनुज्ञानात्, तेषां च निग्रहस्थानान्तरीयलक्षणत्वात् । अत एव न जल्पवितण्डे कथे, वादस्यैव तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् ।

§ ७०. ननु **"यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः"** 30

---

१ –०षणे तयोर्वा–०डे० । २ इत्येवंत्वल० –डे० ।

[न्या० १. २. २], **"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो[1] वितण्डा"** [न्या० १. २. ३] इति लक्षणभेदाज्जल्पवितण्डे अपि कथे विद्येते एव ; न ; प्रतिपक्षस्थापनाहीनाया वितण्डायाः कथात्वायोगात् । वैतण्डिको[3] हि स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् यत्किञ्चिद्वादेन परपक्षमेव दूषयन् कथमवधेयवचनः ? । जल्पस्तु यद्यपि द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः साधनोपालम्भसम्भावनया कथात्वं लभते तथापि न वादादर्थान्तरम्, वादेनैव चरितार्थत्वात् । छलजातिनिग्रहस्थानभूयस्त्वयोगादचरितार्थ इति चेत् ; न, छलजातिप्रयोगस्य दूषणाभासत्वेनाप्रयोज्यत्वात्, निग्रहस्थानानां च वादेऽप्यविरुद्धत्वात् । न खलु खटचपेटामुखबन्धादयोऽनुचिता निग्रहा जल्पेऽप्युपयुज्यन्ते । उचितानां च निग्रहस्थानानां वादेऽपि न विरोधोऽस्ति । तन्न वादात् जल्पस्य कश्चिद् विशेषोऽस्ति । लाभपूजाख्यातिकामितादीनि तु प्रयोजनानि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणलक्षणप्रधानफलानुबन्धीनि पुरुषधर्मत्वाद्वादेऽपि न निवारयितुं पार्यन्ते ।

§ ७१. ननु छलजातिप्रयोगोऽसदुत्तरत्वाद्वादे न भवति, जल्पे तु तस्यानुज्ञानादस्ति वादजल्पयोर्विशेषः । यदाह–

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः" ॥ इति । [न्यायम० पृ०

नैवम् । असदुत्तरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्तत्वात् ; न ह्यन्यायेन जयं यशो धनं वा महात्मानः समीहन्ते । अथ प्रबलप्रतिवादिदर्शनात् तज्जये धर्मध्वंससम्भावनात्, प्रतिभाक्षयेण सम्यगुत्तरस्याप्रतिभासादसदुत्तरैरपि पांशुभिरिवावकिरन्नेकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति धिया न दोषमावहतीति चेत् ; न, अस्यापवादिकस्य जात्युत्तरप्रयोगस्य कथान्तरसमर्थनसामर्थ्याभावात् । वाद एव द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण यद्यसदुत्तरं कथंचन प्रयुञ्जीत किमेतावता कथान्तरं प्रसज्येत ? । तस्माज्जल्पवितण्डानिराकरणेन वाद एवैकः कथाप्रथां लभत इति स्थितम् ॥ ३० ॥

§ ७२. वादश्च जयपराजयावसानो भवतीति जयपराजययोर्लक्षणमाह–

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥ ३१ ॥

§ ७३. वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य सिद्धिः सा जयः । सा च स्वपक्षसाधनदोषपरिहारेण परपक्षसाधनदोषोद्भावनेन च भवति । स्वपक्षे साधनमब्रुवन्नपि प्रति-

---

१ –०हीना वि०– डे० । २ "प्रयोजनमर्थ" (हैमश० ६. ४. ११७) इतीकण् । ३ –०कोऽपि स्व०–ता० । ४ यद्यपि । ५ यच्च तत् किञ्चिच्च तस्य वादः । ६ गुणविशेष० । ७ अनुसारीणि । ८ छलादीन् विना । ९ तस्य प्रतिवादिनो जये । १० चेत् अस्या०–ता० । ११ परिहारोद्भावनाभ्यां समस्ताभ्यां न व्यस्ताभ्याम् इति भावः ।

वादी वादिसाधनस्य विरुद्धतामुद्भावयन् वादिनं जयति, विरुद्धतोद्भावनेनैव स्वपक्षे साधनस्योक्तत्वात् । यदाह–"**विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः**" इति ॥३१॥

असिद्धिः पराजयः ॥ ३२ ॥

§ ७४. वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य 'असिद्धिः' सा 'पराजयः' । सा च साधनाभासाभिधानात्, सम्यक्साधनेऽपि वा परोक्तदूषणानुद्धरणाद्भवति ॥ ३२ ॥

§ ७५. ननु यद्यसिद्धिः पराजयः, स तर्हि कीदृशो निग्रहः ?, निग्रहान्ता हि कथा भवतीत्याह–

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥ ३३ ॥

§ ७६. 'सः' पराजय एव 'वादिप्रतिवादिनोः' 'निग्रहः' न वधबन्धादिः । अथवा स एव स्वपक्षासिद्धिरूपः पराजयो निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो नान्यो यथाहुः परे–"**विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्**" [न्यायसू० १. २. १९] इति ॥ ३३ ॥

§ ७७. तत्राह–

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥

§ ७८. विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः 'विप्रतिपत्तिः'–साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः । स च साधने दूषणं दूषणे चोद्धरणं तयोरकरणम् 'अप्रतिपत्तिः' । द्विधा हि वादी पराजीयते–यथाकर्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान इति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती एव 'विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम्' 'न' पराजयहेतुः किन्तु स्वपक्षस्यासिद्धिरेवेति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योश्च निग्रहस्थानत्वनिरासात् तद्भेदानामपि निग्रहस्थानत्वं निरस्तम् ।

§ ७९. ते च द्वाविंशतिर्भवन्ति । तद्यथा–१ प्रतिज्ञाहानिः, २ प्रतिज्ञान्तरम्, ३ प्रतिज्ञाविरोधः, ४ प्रतिज्ञासंन्यासः, ५ हेत्वन्तरम्, ६ अर्थान्तरम्, ७ निरर्थकम्, ८ अविज्ञातार्थम्, ९ अपार्थकम्, १० अप्राप्तकालम्, ११ न्यूनम्, १२ अधिकम्, १३ पुनरुक्तम्, १४ अननुभाषणम्, १५ अज्ञानम्, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेपः, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, २० निरनुयोज्यानुयोगः, २१ अपसिद्धान्तः, २२ हेत्वाभासाश्चेति । अज्ञाननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिप्रकाराः । शेषा विप्रतिपत्तिभेदाः ।

§ ८०. तत्र प्रतिज्ञाहानेर्लक्षणम्–"**प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञा-**

---

१ विरुद्धहे ० – डे० । २ त्रयस्त्रिंशत्तमं चतुस्त्रिंशत्तमं च सूत्रद्वयं सहैव लिखितं सं–मू० प्रतौ । ३ –०न्धादि । अ० – डे० । ४ – ० रूपप ० – डे० । ५ देशताडनादि । ६ परो – डे० । ७ आरभमाणः । ८ प्रतिदृष्टान्तस्य सामान्यस्य धर्मो नित्यत्वम् । ९ –०धर्मोभ्यनुज्ञा–मु० ।

हानिः" [न्यायसू० ५.२.२.] इति सूत्रम् । अस्य भाष्यकारीयं[1] व्याख्यानम्[2]–"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः[3] प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टं कस्मान्न तथा शब्दोऽपीत्येवं[4] स्वप्रयुक्तहेतोरा[5]भासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्यागं करोति–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यम्, कामं घटोऽपि नित्योऽस्त्विति । स खल्वयं साधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसंजन्[7] निगमनान्तमेव पक्षं[8] जहाति । पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति"-[न्यायभा० ५. २. २] । तदेतदसङ्गतमेव, साक्षाद् दृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः[9] तत्रैवं धर्मपरित्यागात् । परम्परया तु हेतूपनयनिगमनानामपि त्यागः, दृष्टान्ता[10]साधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात्[11] । तथा च प्रतिज्ञाहानिरेवेत्यसङ्गतमेव । वार्त्तिककारस्तु व्याचष्टे–"[12]दृष्टश्चासावन्ते[13] स्थितत्वादन्तश्चेति दृष्टान्तः[14] पक्षः । स्वदृष्टान्तः स्वपक्षः । प्रतिदृष्टान्तः प्रतिपक्षः । प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति–यदि सामान्यमैन्द्रियकम् नित्यं शब्दोऽप्येवमस्त्विति" [न्यायवा० ५. २. २] । तदेतदपि व्याख्यानमसङ्गतम्, इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात् । न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायमेक एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात्, अधिक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्तात्[15][त्] किञ्चित् साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजानानस्याप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारण[16]कत्वोपपत्तेरिति १ ।

§ ८१. प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयात्–युक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि

१ वात्स्यायनम् । २ वात्स्यायनभाष्ये तु—"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन्प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । निदर्शनम्—ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृतेऽपर आह दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्मान्न तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते, इदमाह–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्त्विति । स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसजन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति । पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति ।"–न्यायभा० ५. २, २-मु-टि० । ३ प्रतिवादिना पर्यनुयोजितः । ४ वादी । ५ –०युक्तस्य हेतो०–डे० । ६ अनैकान्तिकत्वेन । ७ प्रसजन –०डे० । प्रसञ्जयन्–मु० । ८ अभ्युपगतं पक्षम् । ९ तस्याः प्रतिज्ञाहानेः । १० दृष्टान्ते । ११ – ० न्तसाधुत्वे०–ता० । १२ न्यायवार्तिके तु–"दृष्टश्चासावन्ते व्यवस्थित इति दृष्टान्तः स्वश्चासौ दृष्टान्तश्चेति स्वदृष्टान्तशब्देन पक्ष एवाभिधीयते । प्रतिदृष्टान्तशब्देन च प्रतिपक्षः प्रतिपक्षश्चासौ दृष्टान्तश्चेति । एतदुक्तं भवति । परपक्षस्य यो धर्मस्तं स्वपक्ष एवानुजानातीति यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादिति द्वितीयपक्षवादिनि सामान्येन प्रत्यवस्थिते इदमाह–यदि सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टमिति शब्दोऽप्येवं भवत्विति ।" –न्यायवा० ५. २. २–मु–टि० । १३ अन्तो निगमनम् तत्र च स्थितः एकः पक्षः प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम् । १४ दृष्टान्तः स पक्षः प्रतिदृष्टान्तः–डे० । १५ निमित्तत्वात्–डे० । १६ – ० कारणत्वो०–डे० ।

सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयम् 'अनित्यः शब्दः' इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरम् 'असर्वगतः शब्दः' इति कुर्वन् प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । एतदपि प्रतिज्ञाहानिवन्न युक्तम्, तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः । प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथं भेदः, पक्षत्यागस्योभयत्राविशेषात्? । यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात् पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि । यथा च स्वपक्षसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दानित्यत्वसिद्ध्यर्थं प्रतिषेधात् 'सर्वशब्दोऽपि नित्योऽस्तु' इत्यनुज्ञानम्, यथा चाभ्रान्तस्येदं विरुध्यते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि । निमित्तभेदाच्च तद्भेदे अनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनुपङ्गः स्यात् । तेषां च तत्रान्तर्भावे प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावः स्यादिति २ ।

§ ८२. **"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः"** [न्यायसू० ५. २. ४] नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति । सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः—यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः?, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति?, तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात् पराजीयते । तदेतदसङ्गतम् । यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरतः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुदोषो वा विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति ३ ।

§ ८३. पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्—क एवमाह—अनित्यः शब्द इति—स प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति । एतदपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते, हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषात् ४ ।

§ ८४. अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण दूषिते—'जातिमत्त्वे सति' इत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । इदमप्यतिप्रसृतम्, यतोऽविशेषोक्ते दृष्टान्ते उपनये निगमने वा प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टान्ताद्यन्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्येत, तत्राप्याक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ५ ।

§ ८५. प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः । कृतकत्वादिति हेतुः । हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम् । पदं च नामाख्यातनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यते । एतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्ते

१ पूर्वं प्रति० –डे० । २ – ०सतोप० – डे० । ३ यदा प्रतिवादिना अकृतेऽपि प्र[ति]ज्ञा[ता]र्थप्रतिषेधे आशङ्क्य(यं)थोऽप्यतेऽसर्वगतस्तु शब्द इति तदा अन्यनिमित्तकत्वं प्रतिज्ञान्तरस्य । ४ – ०वधासच्छब्दो० –डे० । ५ – ०नुषङ्गः–डे० । ६ इति प्रति०–डे० । ७ – ०स्यव्य०–ता० । ८ इति हेत्वन्तरम् । ९ प्रकृतार्थादर्थान्तरम्–डे० । १० पदं नाम – ला० । ११ प्रत्ययनामा० – डे० ।

निग्रहाय कल्पेत, असमर्थं वा ? । न तावत्समर्थं; स्वसामर्थ्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत् । असमर्थेऽपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ तत् निग्रहाय स्यादसिद्धौ वा ? । प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्धेरेवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात् । द्वितीयपक्षेऽप्यतो न निग्रहः, पक्षसिद्धेरुभयोरप्यभावादिति ६ ।

§ ८६. अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वात् घझढधभवदिति । एतदपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा ? । तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, सर्वथार्थशून्यशब्दस्यैवासम्भवात्, वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वोपपत्तेः । द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात् साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात् । किञ्चिद्विशेषमात्रेण भेदे वा खात्कृत-हस्तास्फालन-कक्षापिट्टितादेरपि साध्यानुपयोगिनो निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति ७ ।

§ ८७. यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तत् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति । अत्रेदमुच्यते–वादिना त्रिरभिहितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम्, गूढाभिधानतो वा, द्रुतोच्चाराद्वा ? । प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्रापि तयोर्मन्दमतित्वेनाविज्ञातत्वसम्भवात् । द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गः, गूढाभिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयोरप्यविज्ञातत्वोपलम्भात् । अथाभ्यामविज्ञातमप्येतत् वादी व्याचष्टे; गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम्, अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य, न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात् । द्रुतोच्चारेऽप्यनयोः कथञ्चित् ज्ञानं सम्भवत्येव, सिद्धान्तद्वयवेदित्वात् । साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे तयोरविज्ञानं नाविज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत् । ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यत इति ८ ।

§ ८८. पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादि । एतदपि निरर्थकान्न भिद्यते । यथैव हि गजडदबादौ वर्णानां नैरर्थक्यं तथात्र पदानामिति । यदि पुनः पदनैरर्थक्यं वर्णनैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरं तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्याभ्यामन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरत्वं स्यात् पदवत्पौर्वापर्येणाऽप्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलम्भात्–

"शङ्खः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानम् ।
तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिमं बभूव ॥"

इत्यादिवत् ।

१ पक्षान्तरम् (?) अर्थान्तरम् । २ –०सिद्धिरेव – डे० । ३ अर्थान्तरात् । ४ भेदेन खात्० – डे० भेदे वा धट्कृत – मु–पा० । ५ गूढानां शब्दानामभिधानम् । ६ सत्साधनेपि । ७ अविज्ञातत्वप्रसङ्गः । ८ प्रहेलिकादिकम् । ९ पत्रवाक्यम् । १० साध्यवाक्यम् । ११ सिद्धान्तवेदि० – डे० । १२ अथ निग्रहवादी एवं ब्रूयात् वादिनः प्रलापमात्रम् अविज्ञातस्य लक्षणम् इत्याशङ्कायामाह (?) । १३ कर्तरि षष्ठी म (?) । १४ –०ज्ञातं मा० – ता० । १५ साध्यानुपयोगित्वात् । १६ वर्णपदनैरर्थक्याभ्याम् ।

§ ८९. यदि पुनः पदै[1]नैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं स्यात् वर्णसमुदायात्मकत्वात् तस्य । वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात् पदस्यापि तत्प्रसज्येत; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः । पदस्यार्थवत्त्वेन(वत्त्वे च) पदार्थापेक्षया[2] [वर्णार्थापेक्षया] वर्णस्यापि तद[3]स्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवत्; न खलु प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा । नाप्य[4]नयोरनर्थकत्वम् । अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे; पदस्यापि तत् स्यात् । यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात् तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेस्याद्यन्तपदार्थस्य त्याद्यन्तपदार्थस्य च[5] स्त्याद्यन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोगः । पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्वं प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति ९ ।

§ ९०. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति, स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमाने क्रमस्याप्यङ्गत्वात् । एतदप्यपेशलम्, प्रेक्षावतां प्रतिपत्तॄणामवयवक्रमनियमं विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भात् । ननु यथा[6]पशब्दाच्छ्रुताच्छब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरणं ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न पुनस्तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवंविधप्रतीत्यभावात् । यस्माद्धि शब्दादुच्चरितात् यत्रार्थे प्रतीतिः स एव तस्य वाचको नान्यः, अन्यथा शब्दात्तत्क्रमाच्चापशब्दे तद्व्यतिक्रमे च स्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिरित्यपि वक्तुं शक्येत । एवं शब्दान्वाख्यानवैयर्थ्यमिति चेत्; नैवम्, वा[7]दिनोऽनिष्टमात्रापादनात् अपशब्देऽपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात् । संस्कृताच्छब्दात्सत्यात् धर्मो[8]ऽन्यस्मादधर्म इति नियमे चान्यधर्माधर्मोपायानुष्ठानवैयर्थ्यं धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः, अ[9]धार्मिके च धार्मिके च तच्छब्दोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिस्तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यते तन्निरर्थकं न त्वप्राप्तकालमिति १० ।

§ ९१. पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेरभिधानात् प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात् । अतस्तद्धीनमेव न्यूनं निग्रहस्थानमिति ११ ।

§ ९२. एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति निष्प्रयोजनाभिधानात् । एतदप्ययुक्तम्, तथा-

---

१ दश दाडिमानि षडपूपा इत्यत्र तु पदानामेव नैरर्थक्यम् न वाक्यस्य क्रियाया अश्रावणत्वात् (अश्रवणात्) । २ –ऽक्षया तस्यापि – डे० । ३ अर्थवत्त्वम् । ४ प्रकृतिप्रत्यययोः । ५ च स्त्याद्यन्त० – ता० । ६ यथापि शब्दा० – डे० । ७ क्रमवादिनः । ८ सत्याधर्मो– डे० । ९ अधार्मिके धार्मि०–डे० ।

विधाद्वाक्यात् पक्षसिद्धौ पराजयायोगात् । कथं चैवं प्रमाणसंप्लवोऽभ्युपगम्यते ? । अभ्युपगमे वाऽधिकान्निग्रहाय जायेत । प्रतिपत्तिदार्ढ्यसंवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः; इत्यन्यत्रापि समानम्, हेतुनोदाहरणेन चै(वै)केन प्रसाधितेऽप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोरुदाहरणस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात् । न चैवमनवस्था, कस्यचित् क्वचिन्निराकाङ्क्षोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत् । कथं चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिककप्रत्ययस्य वचनम्, यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तौ यत्तद्वचनम्, वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थानं न स्यात् ? । तथाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वात्त्रेति चेत्; कथमनेकस्य हेतोरुदाहरणस्य वा तदुपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणम् ? । निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति १२ ।

§ ९३. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानं भवत्यन्यत्रानुवादात् । शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते । यथा अनित्यः शब्दः अनित्यः शब्द इति । अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोक्तः पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते । यथा अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषो यथा— "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" [न्यायसू० १.१.३९] इति । अत्रार्थपुनरुक्तमेवानुपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्, अर्थभेदेन शब्दसाम्येऽप्यस्यासम्भवात् यथा—

"हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥" –[वादन्याय: पृ० १११]

इत्यादि । ततः स्पष्टार्थवाचकैस्तैरेवान्यैर्वा शब्दैः सभ्याः प्रतिपादनीयाः । तदप्रतिपादकशब्दानां तु सकृत् पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तमिति । यदपि अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तं यथा असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीत्युक्ते अर्थादापद्यते सत्सु भवतीति तत् कण्ठेन कथ्यमानं पुनरुक्तं भवति, अर्थगत्यर्थे हि शब्दप्रयोगे प्रतीतेऽर्थे किं तेनेति ? । एतदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानं नान्यथा । तथा चेदं निरर्थकान्न विशिष्येतेति १३ ।

§ ९४. पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति, अप्रत्युच्चारयन्(न्) किमाश्रयं दूषणमभिदधीतेति(०दधीतेति)। अत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम् उत यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्येति ?। तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोऽपि दूषणवचनाव्याघातात् । यथा सर्वमनित्यं सत्त्वादित्युक्ते—सत्त्वादित्ययं हेतुर्विरुद्ध इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भाव्यते क्षण-

१ – विधाद्वा वाक्या० – ता० । २ हेत्वन्तरयुक्तात् । ३ – ०पगम्यते नाधिकात्नि० – डे० । ४ – ०घ्नम्नु० – डे० । ५ कृतकानित्यमिति वृत्तिपदम् । ६ – ०क्तं यत्र० – डे० । ७ – ०रुच्चाय० डे० । ८ – ०स्य सम्भ० – डे० । ९ दोषोपेतम् – डे० । १० विशेष्ये० – डे० । ११ उत यत्नान्तरीयिका० – ता० । उत प्रयत्नानन्तरीयिका – डे० ।

क्षयाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति च समर्थ्यते । तावता च परोक्तहेतोर्दूषणात्किमन्योच्चारणेन ?। अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाप्रत्युच्चारणमननुभाषणं अभिधातव्यम् । अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्; तदायमुत्तराप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति १४ ।

§ ९५. पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानं भवति । अविदितोत्तरविषयो हि क्वोत्तरं ब्रूयात् ?। न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् । एतदप्यसाम्प्रतम्, प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्थानानां भेदाभावानुषङ्गात्, तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात् । तेषां तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थानप्रतिनियमाभावप्रसङ्गः, परोक्तस्याऽर्थाऽज्ञानादिभेदेन निग्रहस्थानानेकत्वप्रसङ्गात् १५ ।

§ ९६. परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं भवति । एषाप्यज्ञानान्न भिद्यते १६ ।

§ ९७. "कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः" [न्यायसू० ५. २. १९] नाम निग्रहस्थानं भवति । सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्ति–'इदं मे करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्धः' इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते । एतदप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति १७ ।

§ ९८. स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति । चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते–भवानपि चोरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते । इदमप्यज्ञानान्न भिद्यते । अनैकान्तिकता वात्र हेतोः, स ह्यात्मीयहेतोरात्मनैवानैकान्तिकतां दृष्ट्वा प्राह–भवत्पक्षेऽप्ययं दोषः समानस्त्वमपि पुरुषोऽसीत्यनैकान्तिकत्वमेवोद्भावयतीति १८ ।

§ ९९. निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः 'इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते । एतच्च 'कस्य निग्रहः' इत्यनुयुक्तया परिषदोद्भावनीयं न त्वसावात्मनो दोषं विवृणुयात् 'अहं निग्राह्यस्त्वयोपेक्षितः' इति । एतदप्यज्ञानान्न भिद्यते १९ ।

§ १००. "अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः" [न्यायसू० ५. २. २२] नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसि' इति यो ब्रूयात्स एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यते । एतदपि नाज्ञानाद्व्यतिरिच्यते २० ।

१ तावता परो० – डे० । २ भेदप्र० – डे० । ३ –०सतो न भिद्यते । स्व० – मु–पा० । ४ – ०रात्मीयेनैव – डे० । ५ पुरुषो भवसी० – डे० । ६ –०स्थानानियो० – मु–पा० ।

§ १०१ "**सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः**" [न्यायसू० ५. २. २३] नाम निग्रहस्थानं भवति। यः प्रथमं कञ्चित् सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते। तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते। एतदपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं नान्यथेति २१।

§ १०२ "**हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः**" [न्यायसू० ५. २. २४] असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम्। अत्रापि विरुद्धहेतूद्भावनेन प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम्, असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति २२ ॥ ३४ ॥

§ १०३. तदेवमक्षपादोपदिष्टं पराजयाधिकरणं परीक्ष्य सौगताभिमतं[1] तत् परीक्ष्यते—

नाप्यसाधनाङ्गवचनादोषोद्भावने[2] ॥ ३५ ॥[3]

§ १०४. स्वपक्षस्यासिद्धिरेव पराजयो 'न' 'असाधनाङ्गवचनम्' 'अदोषोद्भावनम्' च। यथाह धर्मकीर्तिः—

"**असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।**
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥" -[वादन्याय: का० १]

§ १०५. अत्र हि स्वपक्षं साधयन् असाधयन् वा वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाद्वा परं निगृह्णाति ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्धैवास्य पराजयादन्योद्भावनं व्यर्थम्। द्वितीयपक्षे असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेपि[4] न कस्यचिज्जयः, पक्षसिद्धेरुभयोरभावात्।

§ १०६. यच्चास्य व्याख्यानम्—साधनं सिद्धिस्तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गं तस्यावचनम्—तूष्णीम्भावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा, साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनं विपक्षे बाधकप्रमाणोपदर्शनरूपं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति—तत् पञ्चावयवप्रयोगवादिनोऽपि समानम्। शक्यं हि तेनाप्येवं वक्तुं सिद्ध्यङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात् सौगतस्य वादिनो निग्रहः। ननु चास्य तदवचनेऽपि[5] न निग्रहः, प्रतिज्ञानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारसामर्थ्येन[6] गम्यमानत्वात्, गम्यमानयोश्च वचने पुनरुक्तत्वानुषङ्गात्, तत्प्रयोगेऽपि हेतुप्रयोगमन्तरेण[7] साध्यार्थाप्रसिद्धेः; इत्यप्यसत्, पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवमवचनानुषङ्गात्[8]। अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं[9] हेतोरपक्षधर्मत्वेना-[10]

1– ० भितं परी० – ता० । 2 नासाध० – ता–मू० । 3 इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्याध्यायस्य कियन्ति सूत्राणि ॥ श्रीवामातनयाय नमः ॥ शुभं भवतु लेखकपाठकाय सदा ॥ छ ॥ – सं–मू० । 4–०पि कस्य०–ता० । 5 –०पि निग्र०–डे० । 6 पक्षधर्मोपक्षधर्मोपसं०–डे० पक्षधर्मोपक्षधर्मोपसं–मु० । 7 हेतुना प्रयो०– ता० । 8 –०प्येवं मव० – डे० । 9 वचनहे० –डे० । 10 –०क्षधर्मत्वे त्वसि० – डे० ।

सिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम् ; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानाया अपि प्रतिज्ञायाः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्व[1]प्रदर्शनार्थं निगमनस्य वचनं किं न स्यात् ? । नहि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सङ्गतत्वं घटते, भिन्नविषयप्रतिज्ञादिवत् । ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्याः साधनाङ्गतेति चेत्; तर्हि भवतोऽपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोऽनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनाङ्गतेति समानम् । ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वात् नानर्थको दृष्टान्तः, तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्, सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुषङ्गात् । विपक्षव्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसङ्गात् दृष्टान्तोऽनर्थक एव स्यात् । विपक्षव्यावृत्त्या च हेतुं समर्थयन् कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत् ? । तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्तेत ? । गम्यमाने प्रतिज्ञाविषय एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य । अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः ? ।

§ १०७. यच्चेदमसाधनाङ्गमित्यस्य व्याख्यानान्तरम्—साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनम्, वैधर्म्येण च प्रयोगे साधर्म्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तमतो न साधनाङ्गम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतो वादिनो निग्रहः स्यात्, असाधयतो वा ? । प्रथमपक्षे न साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपालम्भमात्रेणास्य निग्रहः, अविरोधात् । नन्वेवं नाटकादिघोषणतोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्; सत्यमेतत्, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत्, अन्यथा ताम्बूलभक्षणभ्रूक्षेप-खात्कृत-हस्तास्फालनादिभ्योऽपि सत्यसाधनवादिनोऽपि निग्रहः स्यात् । अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोऽस्य ततो निग्रहः; नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपालम्भो निग्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात् ।

§ १०८. ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । साधनवादिना हि साधुसाधनं ज्ञात्वा वक्तव्यम्, दूषणवादिना च दूषणम् । तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य[2] प्रतिपत्तौ तदु[3]भयवचने वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाज्ञानसिद्धेः पराजयः । प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः स प्रतिवादी सत्साधनवादिनः साधनाभासवादिनो वा वचनाधिक्यदोषमुद्भावयेत् ? । तत्राद्यपक्षे वादिनः कथं साधुसाधनाज्ञानम्, तद्वचनेऽस्याज्ञानस्यैवाभावात् ? । द्वितीयपक्षे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात् । तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानात् दूषणज्ञो-

१–०कार्थप्रतिप्रद० – मु । ०कार्थप्रतिज्ञाप्रद० – डे० । २ साधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य – डे० । ३–०तदस० – डे० ।

ऽसाविति चेत्; साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोऽपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, तददोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्पेत ?। अथ वचनाधिक्यं साधनाभासं वोद्भावयतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेवं साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं वैधर्म्यवचने वा साधर्म्यवचनं पराजयाय प्रभवेत् ?। कथं चैवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्, क्वचिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात् ? न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायामेकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न भवति। युगपत्साधनासामर्थ्यज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यादविशेषात् ?। न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्यज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचनाधिक्यदोषोद्भावनात्तदोषमात्रज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जयः पराजयो वा स्यात्। नहि यो यदोषं वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ वेदनेऽपि विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयनशक्तौ संवेदनानुदयात्। तन्न तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ व्यवस्थापयितुं शक्यौ, यथोक्तदोषानुषङ्गात्। स्वपक्षसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्। कस्यचित् कुतश्चित् स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयप्रसङ्गात्।

§ १०९. यच्चेदमदोषोद्भावनमित्यस्य व्याख्यानम्—प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावनाभावमात्रम्-अदोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थानमिति—तत् वादिनाऽदोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव यदि वादी स्वपक्षं साधयेन्नान्यथा। वचनाधिक्यं तु दोषः प्रागेव प्रतिविहितः। यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्यं निग्रहस्थानं तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात्। प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाप्यनुमानाङ्गम्—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्याय सू० १.१.३२] इत्यभिधानात्। तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनताख्यो दोषोऽनुषज्यत एव "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" [न्यायसू० ५.२.१२] इति वचनात्। ततो जयेतरव्यवस्थायां नान्यभिमिषमुक्ताभिमित्तादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ ३५ ॥

§ ११०. अयं च प्रागुक्तश्चतुरङ्गो वादः कदाचित्यत्रालम्बनमप्यपेक्षतेऽस्तल्लक्षणमत्रावश्याभिधातव्यं यतो नाविज्ञातस्वरूपस्यास्यावलम्बनं जयाय प्रभवति न चाविज्ञातस्वरूपं परपत्रं भेत्तुं शक्यमित्याह—

---

१ नैकान्ततो जयेत् - डे०। २ -०भासं चोद्भा० - डे०। ३ जयति कथम् - डे०। ४ -०स्य निव० - ता०। ५ -०मात्रे ज्ञा० -ता०। ६ विषयद्र० - ता०। ७ -०सिद्धौ निश्चि० -डे०। ८ -०क्यं यथा नि० -डे०। ९ -०मानं प्र० -डे०। १० ॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥ मङ्गलम् ॥ महाश्रीः ॥ छ ॥ श्री ॥ - ता०। -० मित्याहुः। इत्याचार्यश्री ५ श्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥ श्री ॥ संवत् १७०७ वर्षे मार्गशीर्षमासे कृष्णतृतीयायां पुण्यतिथौ रविवासरे श्रीअणहिल्लपुरपत्तनमध्ये पुस्तकं लिखितमिदं ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ श्रीकल्याणमस्तु ॥ ९ ॥ श्री ॥ ९ ॥ छ ॥ छ ॥ ९ ॥ - डे०।

॥ भा षा टि प्प णा नि ॥

हैमी प्रमाणमीमांसा विशद्यतेऽथ टिप्पणैः।
ऐतिह्य-तुलनास्पृग्भी राष्ट्रभाषोपजीविभिः॥

पृ० १. पं० २. 'तायिने'—तुलना—"प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने"—प्रमाणस० १. १. "तायिनामिति स्वाधिगतमार्गदेशकानाम्। यदुक्तम्—'तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः' (प्रमाणवा० २. १४५.) इति सत् विद्यते येषामिति। अथवा तायः संतानार्थः।"—बोधिचर्या० प० पृ० ७५ 5

पृ० १. पं० ६. 'पाणिनि'—पाणिनि का सूत्रात्मक अष्टाध्यायी शब्दानुशासन प्रसिद्ध है। पिङ्गल का छन्दःशास्त्र प्रसिद्ध है। कणाद और अक्षपाद क्रम से दशाध्यायी वैशेषिक-सूत्र और पञ्चाध्यायी न्यायसूत्र के प्रणेता हैं।

पृ० १. पं० ९. 'वाचकमुख्य'—उमास्वाति और उनके तत्त्वार्थसूत्र के बारे में देखो मेरा लिखा गुजराती तत्त्वार्थविवेचन का परिचय। 10

पृ० १. पं० ११. 'अकलङ्क'—अकलङ्क ये प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य हैं। इनके प्रमाण-संग्रह, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रयी आदि जैनन्यायविषयक अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं। इनका समय ईसवीय अष्टम शताब्दी है।

पृ० १. पं० ११. 'धर्मकीर्त्ति'—धर्मकीर्त्ति (ई० स० ६२५) बौद्ध तार्किक हैं। इनके प्रमाणवार्त्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, वादन्याय आदि प्रकरणग्रन्थ हैं। 15

पृ० १. पं० १२. 'नास्य स्वेच्छा'—तुलना—"वचनं राजकीयं वा वैदिकं वापि विद्यते।" श्लोकवा० सू० ४. श्लो० २३५।

पृ० १. पं० १४. 'वर्णसमूहा'—तुलना—"शास्त्रं पुनः प्रमाणादिवाच्यकपदसमूहो व्यूह-विशिष्टः, पदं पुनर्वर्णसमूहः, पदसमूहः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमूह आह्निकम्, आह्निकसमूहोऽध्यायः, पञ्चाध्यायी शास्त्रम्।"—न्यायवा० पृ० १ 20

पृ० १. पं० १७. 'अथ प्रमाण'—भारतीय शास्त्र-रचना में यह प्रणाली बहुत पहिले से चली आती है—कि सूत्ररचना में पहिला सूत्र ऐसा बनाया जाय जिससे ग्रन्थ का

विषय सूचित हो और जिसमें ग्रन्थ का नामकरण भी आ जाय। जैसे पातञ्जल योगशास्त्र का प्रथम सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्', जैसे अकलंक ने 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'प्रमाणे इति संग्रहः' दिया है, जैसे विद्यानन्द ने 'अथ प्रमाणपरीक्षा' इस वाक्य से ही 'प्रमाणपरीक्षा' का प्रारम्भ किया है। आ० हेमचन्द्र ने उसी प्रणाली का अनुसरण करके यह सूत्र रचा है।

'अथ' शब्द से शास्त्रप्रारम्भ करने की परम्परा प्राचीन और विविध विषयक शास्त्रगामिनी है। जैसे "अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः" (आप० श्रौ० सू० १. १. १.), "अथ शब्दानुशासनम्" (पात० महा०), 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जैमि० सू० १. १. १) इत्यादि। आ० हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन की तरह इस ग्रन्थ में भी वही परम्परा रक्खी है।

पृ० १. पं० १८. 'अथ-इत्यस्य'—अथ शब्द का 'अधिकार' अर्थ प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है और उसे प्रसिद्ध आचार्यों ने लिया भी है जैसा कि हम व्याकरणभाष्य के प्रारम्भ में "अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः" (१. १. १. पृ० ६) तथा योगसूत्रभाष्य में (१. १.) पाते हैं। इसके सिवाय उसका 'आनन्तर्य' अर्थ भी प्रसिद्ध है जैसा कि शबर ने अपने मीमांसाभाष्य[1] में लिया है। शङ्कराचार्य[2] ने 'आनन्तर्य' अर्थ तो लिया पर 'अधिकार' अर्थ को असङ्गत समझकर स्वीकृत नहीं किया। शङ्कराचार्य को अथ शब्द का 'मङ्गल' अर्थ लेना इष्ट था, पर एक साथ सीधे तौर से दो अर्थ लेना शास्त्रीय युक्ति के विरुद्ध होने से उन्होंने आनन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द के श्रवण को ही मङ्गल मानकर 'मङ्गल' अर्थ लिये बिना ही, 'मङ्गल' का प्रयोजन सिद्ध किया है। योगभाष्य के और शाङ्करभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति[3] ने तत्त्ववैशारदी और भामती में शङ्करोक्त 'अथ'शब्दश्रुति की मङ्गलप्रयोजनता – मृदङ्ग, शङ्ख आदि ध्वनि के मांगलिक श्रवण की उपमा के द्वारा – पुष्ट की है और साथ ही जलादि अन्य प्रयोजन के वास्ते लाये जानेवाले पूर्ण जलकुम्भ के मांगलिक दर्शन की उपमा देकर एक अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का अर्थान्तर बिना किये ही उसके श्रवण की माङ्गलिकता दरसाई है।

---

१ "तत्र लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः"—शाबरभा० १.१.१.

२ "तत्राथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्, मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव अथशब्दः श्रुत्वा मङ्गलप्रयोजनो भवति"—अ० शाङ्करभा० १.१.१.

३ "अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्"—तत्त्ववै० १. १. "न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्खध्वनिवदथशब्दश्रवणमात्रकार्यम्। तथा च 'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥' अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवन्मङ्गलं कुर्वन्, मङ्गलप्रयोजनो भवति अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्"—भामती १.१.१.

आ० हेमचन्द्र ने उपर्युक्त सभी परम्पराओं का उपयोग करके अपनी व्याख्या में 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक, आनन्तर्यार्थक और मंगलप्रयोजनवाला बतलाया है। उनकी उपमा भी शब्दशः वही है जो वाचस्पति के उक्त ग्रन्थों में है।

पृ० २. पं० ३. **'आयुष्म'**—तुलना—"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति"—पात० महा० १. १. १.

पृ० २. पं० ४. **'परमेष्ठि'**—जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे आत्मा के पाँच विभाग लोकोत्तर विकास के अनुसार किये गये हैं, जो पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं। इनका नमस्कार परम मंगल समझा जाता है—

"एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापक्षयङ्करः ।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥"

पृ० २. पं० ५. **'प्रकर्षेण'**—वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में (१. १. ३.) 'प्रमाण' शब्द को करणार्थक मानकर उसकी निरुक्ति के द्वारा 'प्रमाण' का लक्षण सूचित किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यकारिका की (तत्त्वकौ० का० ४) अपनी व्याख्या में 'प्रमाण' का लक्षण करने में उसी निर्वचनपद्धति का अवलम्बन किया है। आ० हेमचन्द्र भी 'प्रमाण' शब्द की उसी तरह निरुक्ति करते हैं। ऐसी ही निरुक्ति शब्दशः 'परीक्षामुख' की व्याख्या प्रमेयरत्नमाला (१. १.) में देखी जाती है।

पृ० २. पं० ६. **'त्रयी हि'**—उपलब्ध ग्रन्थों में सब से पहिले वात्स्यायनभाष्य[1] में ही शास्त्रप्रवृत्ति के त्रैविध्य की चर्चा है और तीनों विधाओं का स्वरूप भी बतलाया है। श्रीधर ने अपनी 'कंदली'[2] में उस प्राचीन त्रैविध्य के कथन का प्रतिवाद करके शास्त्रप्रवृत्ति को उद्देश-लक्षणरूप से द्विविध स्थापित किया है और परीक्षा को अनियत कहकर उसे त्रैविध्य में से कम किया है। श्रीधर ने नियतरूप से द्विविध शास्त्रप्रवृत्ति का और वात्स्यायन ने त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का कथन किया इसका सबब स्पष्ट है। श्रीधर कणादसूत्रीय प्रशस्तपादभाष्य

---

१ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानं उद्देशः । तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा"—न्यायभा० १.१.२.

२ "अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात् । अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभावः कारणाभावात् । अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं च, परीक्षायास्तु न नियमः । यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासार्थं परीक्षाविधिरधिक्रियते । यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्वनिश्चयः स्यात् तत्रायं व्यर्थो नार्थ्यते । योऽपि हि त्रिविधां शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छति तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा । तत् कस्य हेतोर्लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्ते इति । एवं चेदर्थप्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिविधा । नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः । उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्तको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा"—कन्दली पृ० २६.

के व्याख्याकार हैं। वह भाष्य तथा उसके आधारभूत सूत्र, पदार्थों के उद्देश एवं लक्षणात्मक हैं, उनमें परीक्षा का कहीं भी स्थान नहीं है जब कि वात्स्यायन के व्याख्येय मूल न्यायसूत्र ही स्वयं उद्देश, लक्षण और परीक्षाक्रम से प्रवृत्त हैं। त्रिविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में तर्कप्रधान खण्डन-मण्डन प्रणाली अवश्य होती है–जैसे न्यायसूत्र उसके भाष्य आदि में। द्विविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में बुद्धिप्रधान स्थापनप्रणाली मुख्यतया होती है जैसे कणादसूत्र, प्रशस्तपादभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र, उसका भाष्य आदि। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो केवल उद्देशमात्र हैं जैसे जैनागम स्थानांग, धर्मसंग्रह आदि। श्रद्धाप्रधान होने से उन्हें मात्र धारणायोग्य समझना चाहिए।

आ० हेमचन्द्र ने वात्स्यायन का ही पदानुगमन क़रीब-क़रीब उन्हीं के शब्दों में किया है।

शास्त्रप्रवृत्ति के चतुर्थ प्रकार विभाग का प्रश्न उठाकर अन्त में उद्योतकर ने न्याय-वार्तिक में और जयन्त ने न्यायमञ्जरी में विभाग का समावेश उद्देश में ही किया है[1] और त्रिविध प्रवृत्ति का ही पक्ष स्थिर किया है। आ० हेमचन्द्र ने भी विभाग के बारे में वही प्रश्न उठाया है और समाधान भी वही किया है।

पृ० २. पं० ७. 'उद्दिष्टस्य'–'लक्षण' का लक्षण करते समय आ० हेमचन्द्र ने 'असाधारणधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण नव्यन्यायप्रधान तर्कसंग्रह की टीका दीपिका में इस प्रकार है–

"एतद्दूषणत्रय(अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभव)रहितो धर्मो लक्षणम्। यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। स एवाऽसाधारणधर्म इत्युच्यते। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्"–पृ०१२।

पृ० २. पं० १२. 'पूजितविचार'–वाचस्पति[2] मिश्र ने 'मीमांसा' शब्द को पूजित-विचारवाचक कहकर विचार की पूजितता स्पष्ट करने को भामती में लिखा है कि–जिस विचार का फल परम पुरुषार्थ का कारणभूत सूक्ष्मतम अर्थनिर्णय हो वही विचार पूजित है। आ० हेमचन्द्र ने वाचस्पति के उसी भाव को विस्तृत शब्दों में पल्लवित करके अपनी 'मीमांसा' शब्द की व्याख्या में उतारा है, और उसके द्वारा 'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ के समग्र मुख्य प्रतिपाद्य विषय को सूचित किया है, और यह भी कहा है कि–'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ का उद्देश्य केवल प्रमाणों की चर्चा करना नहीं है किन्तु प्रमाण, नय और सोपाय बन्ध-मोक्ष इत्यादि परमपुरुषार्थोपयोगी विषयों की भी चर्चा करना है।

---

१ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम्, उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति। तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः; न; उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्। कस्मात्?। लक्षणसामान्यात्। समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति।"–न्यायवा० १. १. ३. न्यायम० पृ० १२.

२ "पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलता च विचारस्य पूजितता"–भामती० पृ० २७.

पृ० २ पं० २०. 'सम्यगर्थ'–प्रमाणसामान्यलक्षण की तार्किक परम्परा के उपलब्ध इतिहास में कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने "अदुष्टं विद्या" (९. २. १२) कहकर प्रमाणसामान्य का लक्षण कारणशुद्धिमूलक सूचित किया है। अक्षपाद के सूत्रों में लक्षणक्रम में प्रमाणसामान्यलक्षण के अभाव की त्रुटि को वात्स्यायन[1] ने 'प्रमाण' शब्द के निर्वचन द्वारा पूरा किया। उस निर्वचन में उन्होंने कणाद की तरह कारणशुद्धि की तरफ़ ध्यान नहीं रक्खा पर मात्र उपलब्धिरूप फल की ओर नज़र रखकर "उपलब्धिहेतुत्व" को प्रमाणसामान्य का लक्षण बतलाया है। वात्स्यायन के इस निर्वचनमूलक लक्षण में आनेवाले दोषों का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र[2] ने 'अर्थ' पद का सम्बन्ध जोड़कर और 'उपलब्धि' पद को ज्ञानसामान्यबोधक नहीं पर प्रमाणरूपज्ञानविशेषबोधक मानकर प्रमाणसामान्य के लक्षण को परिपूर्ण बनाया, जिसे उदयनाचार्य[3] ने कुसुमाञ्जलि में 'गौतम-नयसम्मत' कहकर अपनी भाषा में परिपूर्ण रूप से मान्य रक्खा जो पिछले सभी न्याय-वैशेषिक शास्त्रों में समानरूप से मान्य है। इस न्याय-वैशेषिक की परम्परा के अनुसार प्रमाणसामान्यलक्षण में मुख्यतया तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं–

१–कारणदोष के निवारण द्वारा कारणशुद्धि की सूचना।

२–विषयबोधक अर्थ पद का लक्षण में प्रवेश।

३–लक्षण में स्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का अभाव तथा विषय की अपूर्वता–अनधिगतता के निर्देश का अभाव।

यद्यपि प्रभाकर[4] और उनके अनुगामी मीमांसक विद्वानों ने 'अनुभूति' मात्र को ही प्रमाणरूप से निर्दिष्ट किया है तथापि कुमारिल एवं उनकी परम्परावाले अन्य मीमांसकों ने न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओं का संग्राहक ऐसा प्रमाण का लक्षण रचा[5] है; जिसमें 'अदुष्टकारणारब्ध' विशेषण से कणादकथित कारणदोष का निवारण सूचित किया और 'निश्चितत्व' तथा 'अपूर्वार्थत्व' विशेषण के द्वारा बौद्ध[6] परम्परा का भी समावेश किया।

---

१ "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः"–**न्यायभा० १. १. ३.**

२ "उपलब्धिमात्रस्य अर्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाणशब्देन अभिधानात्"–**तात्पर्य० पृ० २१.**

३ "यथार्थानुभवो माननमनपेक्षतयेष्यते ॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोग-व्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥"–**न्यायकु० ४. १. ५.**

४ "अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्"–**बृहती १. १. ५.**

५ "औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते। अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता ॥ सर्व-स्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा ॥"–**श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०, ११.** "एतच्च विशेषणत्रय-मुपादानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्" –**शास्त्रदी० पृ० १२३.** "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः"–**सि० चन्द्रो० पृ० २०.**

६ "अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।"–**प्रमाणस० टी० पृ० ११.**

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

यह श्लोक कुमारिलकर्तृक माना जाता है। इसमें दो बातें ख़ास ध्यान देने की हैं—

१—लक्षण में अनधिगतबोधक 'अपूर्व' पद का अर्थविशेषणरूप से प्रवेश।

२—स्व-परप्रकाशत्व की सूचना का अभाव।

बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग[1] ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में 'स्वसंवित्ति' पद का फल के विशेषणरूप से निवेश किया है। धर्मकीर्ति[2] के प्रमाणवार्त्तिकवाले लक्षण में वात्स्यायन के 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' का सूचक तथा कुमारिल आदि के निर्बाधत्व का पर्याय 'अविसंवादित्व' विशेषण देखा जाता है और उनके न्यायबिन्दुवाले लक्षण में दिङ्नाग के अर्थसारूप्य का ही निर्देश है (न्यायबि० १. २०.)। शान्तरक्षित के लक्षण में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों के आशय का संग्रह देखा जाता है—

"विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।
स्वसित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥"—तत्त्वसं० का० १३४४.

इसमें भी दो बातें ख़ास ध्यान देने की हैं—

१—अभी तक अन्य परम्पराओं में स्थान नहीं प्राप्त 'स्वसंवेदन'विचार का प्रवेश और तद्द्वारा ज्ञानसामान्य में स्व-परप्रकाशत्व की सूचना।

असङ्ग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद स्थापित किया। पर दिङ्नाग ने उसका समर्थन बड़े ज़ोरों से किया। उस विज्ञानवाद की स्थापना और समर्थनपद्धति में ही स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त स्फुटतर हुआ जिसका एक या दूसरे रूप में अन्य दार्शनिकों पर भी प्रभाव पड़ा—देखो Buddhist Logic vol. I. P. 12

२—मीमांसक की तरह स्पष्ट रूप से 'अनधिगतार्थक ज्ञान' का ही प्रामाण्य।

श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों जैन परम्पराओं के प्रथम तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अपने[3] अपने लक्षण में स्व-परप्रकाशार्थक 'स्व-परावभासक' विशेषण का समान रूप से निवेश किया है। सिद्धसेन के लक्षण में 'बाधविवर्जित' पद उसी अर्थ में है जिस अर्थ में मीमांसक का 'बाधवर्जित' या धर्मकीर्ति का 'अविसंवादि' पद है। जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंक[4]

---

१ "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥"—प्रमाणस० १. १०.

२ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शब्देष्वभिप्रायनिवेदनात् ॥"—प्रमाणवा० २. १.

३ "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।"—न्याया० १. "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।"—आप्तमी० १०१. "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"—बृ० स्वयं० ६३.

४ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।"—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५. तदुक्तम्—"सिद्धं यत्र परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः। तत् प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्।" न्यायवि० टी० लि० पृ० ३०. उक्त कारिका सिद्धिविनिश्चय की है जो अकलंक की ही कृति है।

ने कहीं 'अनधिगतार्थक' और 'अविसंवादि' दोनों विशेषणों का प्रवेश किया और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है। अकलंक के अनुगामी माणिक्यनन्दी[१] ने एक ही वाक्य में 'स्व' तथा 'अपूर्वार्थ' पद दाखिल करके सिद्धसेन-समन्तभद्र की स्थापित और अकलंक के द्वारा विकसित जैन परम्परा का संग्रह कर दिया। विद्यानन्द[२] ने अकलंक तथा माणिक्यनन्दी की उस परंपरा से अलग होकर केवल सिद्धसेन और समन्तभद्र की व्याख्या को अपने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' जैसे शब्द में संगृहीत किया और 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो अकलंक और माणिक्यनन्दी की व्याख्या में हैं, उन्हें छोड़ दिया। विद्यानन्द का 'व्यवसायात्मक' पद जैन परम्परा के प्रमाणलक्षण में प्रथम ही देखा जाता है पर वह अक्षपाद[३] के प्रत्यक्षलक्षण में तो पहिले ही से प्रसिद्ध रहा है। सन्मति के टीकाकार अभयदेव[४] ने विद्यानन्द का ही अनुसरण किया पर 'व्यवसाय' के स्थान में 'निर्णीति' पद रक्खा। वादी[५] देवसूरि ने तो विद्यानंद के ही शब्दों को दोहराया है। आ० हेमचन्द्र ने उपर्युक्त जैन-जैनेतर भिन्न भिन्न परंपराओं का औचित्य-अनौचित्य विचार कर अपने लक्षण में केवल 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद रक्खे। उपर्युक्त जैन परम्पराओं को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में काट-छाँट के द्वारा संशोधन किया है। उन्होंने 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों ने लक्षण में सन्निविष्ट किया था, निकाल दिया। 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदों को स्थान न देकर अभयदेव के 'निर्णीति' पद के स्थान में 'निर्णय' पद दाखिल किया और उमास्वाति, धर्मकीर्त्ति तथा भासर्वज्ञ के सम्यक्[६] पद को अपनाकर अपना 'सम्यगर्थनिर्णय' लक्षण निर्मित किया है।

आर्थिक तात्पर्य में कोई खास मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्यों के प्रमाणलक्षण में शाब्दिक भेद है, जो किसी अंश में विचारविकास का सूचक और किसी अंश में तत्कालीन भिन्न भिन्न साहित्य के अभ्यास का परिणाम है। यह भेद संक्षेप में चार विभागों में समा जाता है। पहिले विभाग में 'स्व-परावभास' शब्दवाला सिद्धसेन-समन्तभद्र का लक्षण आता है जो संभवत: बौद्ध विज्ञानवाद के स्व-परसंवेदन की विचार-छाया से खाली नहीं है; क्योंकि इसके पहिले आगम ग्रन्थों में यह विचार नहीं देखा जाता। दूसरे विभाग में अकलंक-माणिक्यनन्दी का लक्षण आता है जिसमें 'अविसंवादि', 'अनधिगत' और 'अपूर्व' शब्द आते हैं जो असंदिग्ध रूप से बौद्ध और मीमांसक ग्रन्थों के ही हैं। तीसरे

१ "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।"–परी० १. १

२ तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता । लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥"–तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७७. प्रमाणप० पृ० ५३.

३ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।"–न्याय सू० १.१.४.

४ "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम् ।"–सन्मतिटी०, पृ० ५१८.

५ "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।"–प्रमाणन० १. २.

६ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।"–तत्त्वार्थ० १. १. "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः ।"––न्यायबि० १. १. "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् ।"—न्यायसार पृ० १.

विभाग में विद्यानन्द, अभयदेव और देवसूरि के लक्षण का स्थान है जो वस्तुत: सिद्धसेन-समन्तभद्र के लक्षण का शब्दान्तर मात्र है पर जिसमें अवभास के स्थान में 'व्यवसाय' या 'निर्णीति' पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। अन्तिम विभाग में मात्र आ० हेमचन्द्र का लक्षण है जिसमें 'स्व', 'अपूर्व', 'अनधिगत' आदि पद बढ़ाकर परिष्कार किया गया है।

पृ० २. पं० २१. 'प्रसिद्धानुवादेन'—लक्षण के प्रयोजन की विभिन्न चर्चाओं के अन्तिम तात्पर्य में कोई भेद नहीं जान पड़ता तथापि उनके ढंग जुदे जुदे और बोधप्रद हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक शास्त्र हैं और दूसरी ओर बौद्ध तथा जैनशास्त्र हैं। सभी न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों[1] में लक्षण का प्रयोजन 'इतरभेदज्ञापन' बतलाकर लक्षण को 'व्यतिरेकिहेतु' माना है और साथ ही 'व्यवहार' का भी प्रयोजक बतलाया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर ने प्रसिद्ध का अनुवाद करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षण का प्रयोजन विस्तार से प्रतिपादित किया है, जिसका[2] देवसूरि ने बड़े विस्तार तथा आटोप के साथ निरसन किया है। अकलंक[3] का झुकाव व्यावृत्ति को प्रयोजन मानने की ओर है; परन्तु आ० हेमचन्द्र ने धर्मोत्तर के कथन का आदर करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षणार्थ बतलाया है।

पृ० २. पं० २३. 'भवति हि'—हेमचन्द्र ने इस जगह जो 'लक्ष्य' को पक्ष बना कर 'लक्षण' सिद्ध करनेवाला 'हेतुप्रयोग' किया है वह बौद्ध-जैन ग्रन्थों में एक सा है।

---

१ "तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्"—न्यायभा० १. १. २. "लक्षणस्य इतरव्यवच्छेदहेतुत्वात्"—न्यायवा० १. १. ३. "लक्षणं नाम व्यतिरेकिहेतुवचनम्। तद्धि समानासमानजातीयेभ्यो विभिद्य लक्ष्यं व्यवस्थापयति"—तात्पर्य० १.१.३. "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थ:"—न्यायम० पृ०६५. "लक्षणस्य व्यवहारमात्रसारतया समानासमानजातीयव्यवच्छेदमात्रसाधनत्वेन चान्याभावप्रतिपादनाप्रामाण्यात्"—कन्दली० पृ० ८. "व्यावर्त्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तौ अभिधेयत्वादौ च अतिव्याप्तिनिवारणाय तद्विशेषत्वं धर्मविशेषणं देयम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्, व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्।"—दीपिका० पृ० १३. "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।"—तर्कदी० गंगा पृ० १६. "ननु लक्षणमिदं व्यतिरेकिलिङ्गमितरभेदसाधकं व्यवहारसाधकं वा।"—वै० उप० २. १. १.

२ "तत्र प्रत्यक्षमनूद्य कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च विधीयते। यत्तद्बलात्समाकं चार्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रसिद्धं तत्कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम्। न चैतन्मन्तव्यं कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं चेदप्रसिद्धं किमन्यत् प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते यत्प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सदनूद्येतेति ?। यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां सिद्धं तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्वविधिः।" न्यायवि० टी० १. ४. "अत्राह धर्मोत्तरः—लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये लक्ष्यमनूद्य लक्षणमेव विधीयते। लक्ष्यं हि प्रसिद्धं भवति ततस्तदनुवाद्यम्, लक्षणं पुनः अप्रसिद्धमिति तद्विधेयम्। अज्ञातज्ञापनं विधिरित्यभिधानात्। सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे लक्षणमनूद्य लक्ष्यमेव विधीयते इति; तदेतदबन्धुरम्; लक्ष्यवल्लक्षणस्यापि प्रसिद्धिर्न हि न सिद्धेति कुतस्तस्याप्यज्ञातत्वनिबन्धनो विधिरप्रतिबद्धः सिद्ध्येत्।"—स्याद्वादर० पृ० २०.

३ "परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।" तत्त्वार्थरा० पृ० ८२.

और 'विशेष' को 'पक्ष' बनाकर 'सामान्य' की 'हेतु' बनाने की युक्ति भी एक जैसी है[1]।

पृ० ३. पं० १. 'तत्र निर्णयः'—तुलना—"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"—न्यायसू० १. १. ४१।

पृ० ३. पं० ३. 'अर्यते अर्थ्यते'—प्रमेय—अर्थ के प्रकार के विषय में दार्शनिकों का मत-भेद है। न्याय-वैशेषिक परम्परा के सभी प्रधान आचार्यों[2] का मत हेय-उपादेय-उपेक्षणीय-रूप से तीन प्रकार के अर्थ मानने का है। बौद्ध धर्मोत्तर[3] उपेक्षणीय को हेय में अन्तर्भावित करके दो ही प्रकार का अर्थ मानता है जिसका शब्दशः अनुसरण दिगम्बर तार्किक प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनंदी के सूत्र का यथाश्रुत अर्थ करके किया है। देवसूरि की सूत्ररचना में तो माणिक्यनन्दी के सूत्र की यथावत् छाप है फिर भी स्वोपज्ञ व्याख्या में देवसूरि ने धर्मोत्तर के मत को प्रभाचन्द्र की तरह स्वीकार न करके त्रिविध अर्थ माननेवाले न्याय-वैशेषिक पक्ष को ही स्वीकार किया है,[4] जैसा कि सन्मतिटीकाकार (पृ० ४६६) ने किया है।

---

१ "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः"—**प्रमाणप० पृ० १. न्यायकुमु० लि० पृ० ३६. प्रमेयक० १. १.** "तत्सम्भवसाधकस्य प्रमाणत्वाख्यस्य हेतोः सद्भावात्। ननु यद्येवं प्रमाणं धर्मित्वेनात्र निर्देशि कथं तस्यैव हेतुत्वमुपपद्यमिति चेत्; ननु किमस्य हेतुत्वानुपपत्तौ निमित्तम्—किं धर्मित्वहेतुत्वयोर्विरोधः?। किं वा प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्?। यद्वाऽनन्वयत्वम्?। तत्राद्यपक्षेऽयमभिप्रायः—धर्माणामधिकरणं धर्मी तदधिकरणस्तु धर्मः। ततो यद्यत्र प्रमाणं धर्मि कथं हेतुः?। स चेत्; कथं धर्मि, हेतोर्धर्मत्वात् धर्मधर्मिणोश्चैक्यानुपपत्तेः?। तदयुक्तम्। विशेषं धर्मिणं विधाय सामान्यं हेतुमभिदधतां दोषासम्भवात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षपरोक्षव्यक्तिलक्षणं धर्मि। प्रमाणत्वसामान्यं हेतुः। ततो नात्र सर्वथैक्यम्। कथञ्चिदैक्यं तु भवदपि न धर्मधर्मिभावं विरुणद्धि। प्रत्युत तत्प्रयोजकमेव, तदन्तरेण धर्मधर्मिभावेऽतिप्रसङ्गात्।"—**स्याद्वादर० पृ० ४१, ४२. प्रमेयर० १.१** "ननु प्रत्यक्षविशेषो धर्मी सामान्यं साधनमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशता"—**प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार पृ० ६२।**

२ "अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते?। तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्य उपेक्षिष्ये वेति। ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते"—**न्यायभा० १. १. ३२.** "पुरुषापेक्षया तु प्रामाण्ये चन्द्रतारकादिविज्ञानस्य पुरुषानपेक्षितस्य अप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चातिदवीयस्तया तदर्थस्य हेयतया तदपि पुरुषस्यापेक्षितम्, तस्योपेक्षणीयविषयत्वात्। न चोपेक्षणीयमपि अनुपादेयत्वात् हेयमिति निवेदयिष्यते"। १. १. ३. पृ० १०३)—**तात्पर्य० पृ० २१. न्यायम० पृ० २४.** "प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनम्। गुणदर्शनमुपादेयत्वज्ञानम्, दोषदर्शनं हेयत्वज्ञानम्, माध्यस्थ्यदर्शनं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञानं प्रमितिः।"—**कन्दली पृ० १९९।**

३ "पुरुषस्यार्थः अर्थ्यत इत्यर्थः काम्यत इति यावत्। हेयोऽर्थः उपादेयो वा। हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते उपादेयोऽप्युपादातुम्। न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वात् हेय एव"—**न्यायवि० टी० १. १।**

४ "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्"—**परी० १. २.** "अर्थ्यते अभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च। उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वात् हेयत्वम्, उपादानक्रियां प्रति अकर्मभावात् नोपादेयत्वम् हानक्रियां प्रति विपर्ययात् तत्त्वम्। तथा च लोको वदति—अहमनेन उपेक्षणीयत्वेन परित्यक्त इति"—**प्रमेयक० पृ० २ A.** "अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम् अतो

आ० हेमचन्द्र ने भी उसी त्रिविध अर्थ के पक्ष को ही लिया है पर उसके स्थापन में नई युक्ति का उपयोग किया है।

पृ० ३. पं० ४. 'न चानुपादेय'–तुलना–"ननु कोऽयमुपेक्षणीयो नाम विषयः ? । स हि उपेक्षणीयत्वादेव नोपादीयते चेत्; स तर्हि हेय एव, अनुपादेयत्वादिति । नैतद् युक्तम् , उपेक्षणीयविषयस्य स्वसंवेद्यत्वेन अप्रत्याख्येयत्वात् ।

हेयोपादेययोरस्ति दुःख-प्रीतिनिमित्तता ।
यत्नेन हानोपादाने भवतस्तत्र देहिनाम् ॥
यत्नसाध्यद्वयाभावादुभयस्यापि साधनात् ।
ताभ्यां विसदृशं वस्तु स्वसंविदितमस्ति नः ॥
उपादेये च विषये दृष्टे रागः प्रवर्तते ।
इतरत्र तु विद्वेषस्तत्रोभावपि दुर्लभौ ॥

यत्तु अनुपादेयत्वात् हेय एवेति, तदप्ययोगकम् , न ह्येवं भवति, यदेतद् नपुंसकं स पुमान्, अस्त्री त्वात् । स्त्री वा नपुंसकं अपुंस्त्वादिति । स्त्रीपुंसाभ्यामन्यदेव नपुंसकम् , तथोपलभ्यमानत्वात् । एवमुपेक्षणीयोऽपि विषयो हेयोपादेयाभ्यामर्थान्तरम्, तथोपलम्भादिति ।

यदेतत् तृणपर्णादि चकास्ति पथि गच्छतः ।
न धीश्छत्रादिवत् तत्र न च काकोदरादिवत् ॥"–न्यायम० पृ० २४-२५.

पृ० ३. पं० ६. 'सम्यग्'–तुलना–"तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः समञ्चतेर्वा भावः"–तत्त्वार्थभा० १. २.

पृ० ३. पं० ११. 'संभव'–तुलना–

"संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् ।
न शैत्येन न चौष्ण्येन वह्निः क्वापि विशिष्यते ॥"–तन्त्रवा० पृ० २०८.
"संभवव्यभिचाराभ्यां विशेषणविशेष्ययोः ।
दृष्टं विशेषणं लोके यथेहापि तथेष्यताम् ॥"–बृहदा० वा० पृ० २०१२.

"संभवे व्यभिचारे च विशेषणं युक्तम्–"हेतुबि० टी० लि० पृ० ५१.

पृ० ३. पं० १६. 'न चासावसन्'–आ० हेमचन्द्र ने 'स्वप्रकाशत्व' के स्थापन और ऐकान्तिक 'परप्रकाशकत्व' के खंडन में बौद्ध, प्रभाकर, वेदान्त आदि सभी 'स्वप्रकाश'वादियों की युक्तियों का संग्राहक उपयोग किया है।

ज्ञानमेवेदम्" प्रमाणन० १. ३ । "अभिमतानभिमतयोरुपलक्षणत्वादभिमतानभिमतोभयाभावस्वभाव उपेक्षणीयोऽप्यत्रार्थो लक्षयितव्यः । रागगोचरः स्वक्वभिमतः । द्वेषविषयोऽनभिमतः । रागद्वेषद्वितयानालम्बनं तृणादिरुपेक्षणीयः । तस्य चोपेक्षकं प्रमाणं तदुपेक्षायां समर्थमित्यर्थः ॥"–स्याद्वादर० १. २ ।

पृ० ३. पं० १६. **'घटमहं जानामि'**—तुलना—"घटमहमात्मना वेद्मि । कर्मवत् कर्तृकरण-क्रियाप्रतीतेः ।"—परी० १. ८, ६

पृ० ३. पं० १७. **'न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्य'**—तुलना—"तदाह—धर्मकीर्तिः 'अप्रत्यक्षो०' न्यायवि० टी० लि० पृ० १०६ B; पृ० ५४२ B. "अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थविसिः प्रसिद्ध्यति" तत्त्वसं० का० २०७४.

पृ० ३. पं० २२ **'तस्मादर्थोन्मुख'**—तुलना—"स्वोन्मुखतया प्रतिभासने स्वस्य व्यवसायः । अर्थस्यैव तदुन्मुखतया ।" परी० १. ६, ७.

पृ० ४. पं० १०. **'स्वनिर्णय'**—आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों के लक्षण में वर्तमान है उसे जब नहीं रक्खा तब उनके सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या प्राचीनआचार्यसंमत 'स्वप्रकाशत्व' इष्ट न होने से 'स्व'पद का त्याग करते हो या अन्य किसी दृष्टि से ? । इसका उत्तर उन्होंने इस सूत्र में दिया कि ज्ञान तो 'स्वप्रकाश' ही है पर व्यावर्त्तक न होने से लक्षण में उसका प्रवेश अनावश्यक है । ऐसा करके अपना विचारस्वातंत्र्य उन्होंने दिखाया और साथ ही वृद्धों का खण्डन न करके 'स्व'पदप्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया ।

पृ० ४. पं० १५. **'ननु च परिच्छिन्नमर्थम्'**—तुलना—"अधिगतं चार्थमधिगमयता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात् ।"—न्यायवा० पृ० ५.

पृ० ४. पं० १६. **'धारावाहिज्ञानानाम्'**—भारतीय प्रमाणशास्त्रों में 'स्मृति' के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा प्रथम से ही चली आती देखी जाती है पर धारावाहिक ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा संभवतः बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्त्ति के बाद दाखिल हुई । एक बार प्रमाणशास्त्रों में प्रवेश होने के बाद तो फिर वह सर्वदर्शनव्यापी हो गई और इसके पक्ष-प्रतिपक्ष में युक्तियाँ तथा वाद स्थिर हो गये और खास-खास परम्पराएँ बन गईं ।

वाचस्पति, श्रीधर, जयन्त, उदयन आदि सभी[1] न्याय-वैशेषिक दर्शन के विद्वानों ने 'धारावाहिक' ज्ञानों को अधिगतार्थक कहकर भी प्रमाण ही माना है और उनमें 'सूक्ष्मकाल-कला' के भान का निषेध ही किया है । अतएव उन्होंने प्रमाण लक्षण में 'अनधिगत' आदि पद नहीं रक्खे ।

---

१ "अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे । न च कालभेदेनानधिगतैर्गोचरत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम् । परम-सूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां विशिललोचनैरस्माद्दशैरनाकलनात् । न चार्थेनैव विज्ञानेनोपदर्शितत्वादर्थस्य प्रवर्तितत्वात् पुरुषस्य प्रापितत्वाच्चोत्तरेषामप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम् । नहि विज्ञानस्यार्थप्रापणं प्रवर्तनादन्यद्, न च प्रवर्तनमर्थप्रदर्शनादन्यत् । तस्मादर्थप्रदर्शनसमाप्त्यापारमेव ज्ञानं प्रवृत्तेः प्रापकं च । प्रदर्शने च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि ?"—**तात्पर्य० पृ० २१. कन्दली पृ० ६१. न्यायम० पृ० २२. न्यायकु० ४. १ ।**

मीमांसक की प्राभाकरीय और कुमारिलीय दोनों परम्पराओं में भी धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। पर दोनों ने उसका समर्थन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। प्रभाकरानुगामी शालिकनाथ[१] 'कालकला' का भान बिना माने ही 'अनुभूति' होने मात्र से उन्हें प्रमाण कहते हैं, जिस पर न्याय-वैशेषिक परम्परा की छाप स्पष्ट है। कुमारिलानुगामी पार्थसारथि[२], 'सूक्ष्मकालकला' का भान मानकर ही उनमें प्रामाण्य का उपपादन करते हैं क्योंकि कुमारिलपरम्परा में प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद होने से ऐसी कल्पना बिना किये 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य का समर्थन किया नहीं जा सकता। इस पर बौद्ध और जैन कल्पना की छाप जान पड़ती है।

बौद्ध-परम्परा में यद्यपि धर्मोत्तर[३] ने स्पष्टतया 'धारावाहिक' का उल्लेख करके तो कुछ नहीं कहा है, फिर भी उसके सामान्य कथन से उसका झुकाव 'धारावाहिक' को अप्रमाण मानने का ही जान पड़ता है। हेतुबिन्दु की टीका में अर्चट[४] ने 'धारावाहिक' के विषय में अपना मन्तव्य प्रसंगवश स्पष्ट बतलाया है। उसने योगिगत 'धारावाहिक' ज्ञानों को तो 'सूक्ष्म कालकला' का भान मानकर प्रमाण कहा है। पर साधारण प्रमाताओं के धारावाहिकों को सूक्ष्मकालभेदग्राहक न होने से अप्रमाण ही कहा है। इस तरह बौद्ध परम्परा में प्रमाता के भेद से 'धारावाहिक' के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का स्वीकार है।

---

१ "धारावाहिकेषु तर्ह्युत्तरविज्ञानानि स्मृतिप्रमोषादविशिष्टानि कथं प्रमाणानि ?। तत्राह–अन्योन्यनिरपेक्षास्तु धारावाहिकबुद्धयः। व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलाप उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता।"–प्रकरणप० पृ० ४२-४३. बृहतीप० पृ० १०३.

२ "नन्वेवं धारावाहिकेषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात्। तस्मात् 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणम्। .. तस्मात् यथार्थमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति वक्तव्यम्। धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्याग्रहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्। सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृश्यत इति चेत्; अहो सूक्ष्मदर्शी देवानांप्रियः! यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायोपरतः सोऽनन्तरक्षणसम्बन्धितयार्थं स्मरति। तथाहि–किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति–अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।"–शास्त्रदी० पृ० १२४–१२६.

३ "अत एव अनधिगतविषयं प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्।"–न्यायबि० टी०. पृ० ३.

४ "यद्येकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चैवम्, अतोऽनेकान्त इति प्रमाणसंप्लववादी दर्शयन्नाह–पूर्वप्रत्यक्षक्षणेन इत्यादि। एतत् परिहरति–तद् यदि प्रतिक्षणं क्षणविवेकदर्शिनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नोपयोगितया पृथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः। अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषानभिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकात्मिकामध्यवस्यन्तीति प्रामाण्यमप्युत्तरेषामनिष्टमेवेति कुतोऽनेकान्तः ?।"–हेतु० टी० लि०. पृ० ३९B–४१A.

जैन तर्कग्रन्थों में 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में दो परम्पराएँ हैं—दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'धारावाहिक' ज्ञान तभी प्रमाण हैं जब वे क्षणभेदादि विशेष का भान करते हों और विशिष्टप्रमाजनक होते हों। जब वे ऐसा न करते हों तब प्रमाण नहीं हैं। इसी तरह उस परम्परा के अनुसार यह भी समझना चाहिए कि विशिष्टप्रमाजनक होते हुए भी 'धारावाहिक' ज्ञान जिस द्रव्यांश में विशिष्टप्रमाजनक नहीं हैं उस अंश में वे अप्रमाण और विशेषांश में विशिष्टप्रमाजनक होने के कारण प्रमाण हैं अर्थात् एक ज्ञान व्यक्ति में भी विषय भेद की अपेक्षा से प्रामाण्याप्रामाण्य है। अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी के अनुगामी प्रभाचन्द्र के टीकाग्रन्थों का पूर्वापर अवलोकन उक्त नतीजे पर पहुँचाता[1] है। क्योंकि अन्य सभी जैनाचार्यों की तरह निर्विवाद रूप से 'स्मृतिप्रामाण्य' का समर्थन करनेवाले अकलङ्क और माणिक्यनन्दी अपने-अपने प्रमाण लक्षण में जब बौद्ध और मीमांसक के समान 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद रखते हैं तब उन पदों की सार्थकता उक्त तात्पर्य के सिवाय और किसी प्रकार से बतलाई ही नहीं जा सकती चाहे विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र का स्वतन्त्र मत कुछ भी रहा हो।

बौद्ध[2] विद्वान् विकल्प और स्मृति दोनों में, मीमांसक स्मृति मात्र में स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं मानते। इसलिए उनके मत में तो 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद का प्रयोजन स्पष्ट है। पर जैन परम्परा के अनुसार वह प्रयोजन नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा के सभी विद्वान् एक मत से धारावाहिज्ञान को स्मृति की तरह प्रमाण मानने के ही पक्ष में हैं। अतएव किसी ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अनधिगत' 'अपूर्व' आदि जैसे पद को स्थान ही नहीं दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने स्पष्टरूपेण यह कह दिया कि चाहे ज्ञान गृहीतग्राही हो तब भी वह अगृहीतग्राही के समान ही प्रमाण है। उनके विचारानुसार गृहीतग्राहित्व प्रामाण्य का विघातक नहीं, अतएव उनके मत से एक धारावाहिक ज्ञानव्यक्ति में विषयभेद की अपेक्षा से प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने की ज़रूरत नहीं और न तो कभी किसी को अप्रमाण मानने की ज़रूरत है।

---

१ "गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥"—**तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७८**। "प्रमाणान्तरागृहीतार्थप्रकाशित्वं प्रपञ्चतः। प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेऽपि कथंचन॥"—**तत्त्वार्थश्लो० १. १३. ६४**। "गृहीतग्रहणात् तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता। धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा॥"—**तत्त्वार्थश्लोकवा० १. १३. ६५**. "ननु चैवमपि प्रमाणसंप्लववादिताव्याघातः प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तराप्रतिपत्तिरित्यचोद्यम्। अर्थपरिच्छित्तिविशेषसद्भावे तत्प्रवृत्तेरभ्युपगमात्। प्रथमप्रमाणप्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेषं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमपूर्वार्थमेव दृष्टो न्यग्रोध इत्यादिवत्।"—**प्रमेयक० पृ० १६**।

२ "यद् गृहीतग्राहि ज्ञानं न तत्प्रमाणं, यथा स्मृतिः, गृहीतग्राही च प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः."—**तत्त्वसं० प० का० १२९८**।

श्वेताम्बर आचार्यों[1] में भी आ० हेमचन्द्र की ख़ास विशेषता है क्योंकि उन्होंने गृहीत-ग्राही और प्रहीष्यमाणग्राही दोनों का समत्व दिखाकर सभी धारावाहिज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है वह ख़ास मार्के का है।

पृ० ४. पं० १८. **'तत्रापूर्वार्थे'**—तुलना—हेतुबि० टी० लि० पृ० ८७.

पृ० ४. पं० १९ **'ग्रहीष्यमाण'**—'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो धर्मोत्तर, अकलंक, माणिक्यनन्दी आदि के लक्षणवाक्य में है उसको आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में जब स्थान नहीं दिया तब उनके सामने यह प्रश्न आया कि 'धारावाहिक' और 'स्मृति' आदि ज्ञान जो अधिगतार्थक या पूर्वार्थक हैं और जिन्हें अप्रमाण समझा जाता है उनको प्रमाण मानते हो या अप्रमाण ?। यदि अप्रमाण मानते हो तो सम्यगर्थनिर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। अतएव 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद लक्षण में रखकर 'अतिव्याप्ति' का निरास क्यों नहीं करते ?। इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में आ० हेमचन्द्र ने उक्त ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार करके ही दिया है। इस सूत्र की प्रासादिक और अर्थपूर्ण रचना हेमचन्द्र की प्रतिभा और विचारविशदता की द्योतिका है। प्रस्तुत अर्थ में इतना संक्षिप्त, प्रसन्न और सयुक्तिक वाक्य अभी तक अन्यत्र देखा नहीं गया।

पृ० ४. पं० २०. **'द्रव्यापेक्षया'**—यद्यपि न्यायावतार की टीका में सिद्धर्षि ने[2] भी अनधिगत विशेषण का खण्डन करते हुए द्रव्यपर्याय रूप से यहाँ जैसे ही विकल्प उठाये हैं तथापि वहाँ आठ विकल्प होने से एक तरह की जटिलता आ गई है। आ० हेमचन्द्र ने अपनी प्रसन्न और संक्षिप्त शैली में दो विकल्पों के द्वारा ही सब कुछ कह दिया है। तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ के अवलोकन से और आ० हेमचन्द्र के द्वारा किये गये उसके अभ्यास के अनुमान से एक बात कल्पना में आती है। वह यह कि प्रस्तुत सूत्रगत युक्ति और शब्दरचना दोनों के स्फुरण का निमित्त शायद आ० हेमचन्द्र पर पड़ा हुआ तत्त्वोपप्लव का प्रभाव भी हो।

पृ० ५. पं० ७ **'अनुभयत्र'**—संशय के उपलभ्य लक्षणों को देखने से जान पड़ता है कि कुछ तो कारणमूलक हैं और कुछ स्वरूपमूलक। कणाद, अक्षपाद और किसी बौद्ध-विशेष के

---

१. "तत्रापि सोऽधिगम्योऽर्थः किं द्रव्यम्, उत पर्यायो वा, द्रव्यविशिष्टपर्यायः, पर्यायविशिष्टं वा द्रव्यमिति, तथा किं सामान्यम्, उत विशेषः, आहोस्वित् सामान्यविशिष्टो विशेषः, विशेषविशिष्टं वा सामान्यम् इत्यष्टौ पक्षाः।" **न्यायाव० सि० टी० पृ० १३.**

२. "अन्ये तु अनधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रमाणलक्षणमिदधति, ते स्वयुक्तवादिनो द्रष्टव्याः। कथमयुक्तवादिता तेषामिति चेत्; उच्यते—विभिन्नकारकोत्पादितैकार्थविज्ञानानां यथाव्यवस्थितैकार्थग्रहीतिरूपत्वाविशेषेपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यं नोत्तरस्य इत्यत्र नियामकं वक्तव्यम्। अथ यथावस्थितार्थग्रहीतिरूपत्वाविशेषेपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपद्यते न प्रथमोत्तरविज्ञानस्य; तदा अनेनैव न्यायेन प्रथमस्याप्यप्रामाण्यं प्रसक्तम्, गृहीतार्थग्राहित्वाविशेषात्।"—**तत्त्वो० लि० पृ० ३०.**

लक्षण कारणमूलक[1] है। देवसूरि का लक्षण कारण और स्वरूप उभयमूलक[2] है जब कि आ० हेमचन्द्र के इस लक्षण में केवल स्वरूप का निदर्शन है, कारण का नहीं।

पृ० ५. पं० ८. 'साधकबाधक'—तुलना—"साधकबाधकप्रमाणाभावात् तत्र संशीतिः—लघी० स्ववि० १. ४. अक्षश० का० ३. "सेयं साधकबाधकप्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मोपलब्धिर्विनश्यदवस्थाविशेषस्मृत्या सहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् धर्मे सती संशयज्ञानस्य हेतुरिति सिद्धम्।"—तात्पर्य० १. १ २३. "न हि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ"—न्यायकु० पृ० ८.

पृ० ५. पं० १३. 'विशेषा'—प्रत्यक्ष-अनुमान उभय विषय में अनध्यवसाय का स्वरूप बतलाते हुए प्रशस्तपाद ने लिखा है कि—

"अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते। तत्र प्रत्यक्षविषये तावत् प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति। तत्र सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्त्वादिशाखापेक्षोऽध्यवसायो भवति। पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमात्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव केवलं तूपदेशाभावाद्विशेषसञ्ज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति। अनुमानविषयेऽपि नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति।"—प्रशस्त० पृ० १८२.

उसी के विवरण में श्रीधर ने कहा है कि—"सेयं संज्ञाविशेषानवधारणात्मिका प्रतीतिरनध्यवसायः॥"—कन्दली० पृ० १८३.

आ० हेमचन्द्र के लक्षण में वही भाव सन्निविष्ट है।

पृ० ५. पं० १५—'परेषाम्'—तुलना—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्" प्रमाणसमु० १. ३. "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्त्तते इति प्रत्यक्षम्"—न्यायप्र० पृ० ७. "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"—न्यायवि० १. ४.

पृ० ५. पं० १७. 'अतस्मिन्'—आ० हेमचन्द्र का प्रस्तुत लक्षण कणाद[3] के लक्षण की तरह कारणमूलक नहीं है पर योगसूत्र और प्रमाणनयतत्त्वालोक के लक्षण की तरह स्वरूपमूलक[4] है।

---

१. "सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः" "दृष्टं च दृष्टवत्" "यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च" "विद्याऽविद्यातश्च संशयः"—वैशे० सू० २. २. १७–२०. "समानाऽनेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"—न्यायसू० १. १. २३. "अन्ये तु संशयलक्षणमन्यथा व्याचक्षते—साधर्म्यदर्शनाद्विशेषोपलिप्सोर्विमर्शः संशय इति"—न्यायवा०—१. १. २३. "बौद्धाभिमतं संशयलक्षणमुपन्यस्यति। अन्ये त्विति।" तात्पर्य० १. १. २३.

२. "साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः।"—प्रमाणन० १. १२.

३. "इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या" वैशे० सू० ९. २. १०.

४. "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।"—योगसू० १. ८. प्रमाणन० १. १०, ११.

पृ० ५. पं० १६. 'तिमिरादिदोषात्'–तुलना–"तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"–न्यायबि० १. ६. "तिमिरम् अक्ष्णोर्विप्लवः इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणमलातादेः। मन्दं भ्राम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम्, एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते, एतच्च अध्यात्मगतं विभ्रमकारणम्।"–न्यायबि० टी० १. ६.

पृ० ५. पं० २२. 'तत्प्रामाण्यं तु'–तुलना–"तथाहि विज्ञानस्य तावत्प्रामाण्यं स्वतो वा निश्चीयते परतो वा? । न तावत् पूर्वः कल्पः; न खलु विज्ञानमनात्मसंवेदनमात्मानमपि गृह्णाति प्रागेव तत्प्रामाण्यम्। नापि विज्ञानान्तरम्; तत् विज्ञानमित्येव गृह्णीयान्न पुनरस्याव्यभिचारित्वम्। ज्ञानत्वमात्रं च तदाभाससाधारणमिति न स्वतः प्रामाण्यावधारणम्। एतेन स्वसंवेदनत्वेऽपि अव्यभिचारग्रहणं प्रत्युक्तम्। नापि परतः। परं हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयेत, अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानान्तरम्, तद्गोचरनान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा? । तत्र सर्वं स्वतोऽनवधारितप्रामाण्यमाकुलं सत् कथं पूर्वं प्रवर्तकं ज्ञानमनाकुलयेत्? । स्वतो वाऽस्य प्रामाण्ये किमपराद्धं प्रवर्तकज्ञानेन, येन तस्मिन्नपि तन्न स्यात्? । न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्यावेदितम्।"–तात्पर्य० १. १. १.

पृ० ६. पं० १. 'प्रामाण्य'—दर्शनशास्त्रों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के 'स्वतः' 'परतः' की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से जान पड़ता है कि इस चर्चा का मूल वेदों के प्रामाण्य मानने न माननेवाले दो पक्षों में है। जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानों ने वेद के प्रामाण्य का विरोध किया तब वेदप्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक-मीमांसक विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का समर्थन करना शुरू किया। प्रारम्भ में यह चर्चा 'शब्द'प्रमाण तक ही परिमित रही जान पड़ती है पर एक बार उसके तार्किक प्रदेश में आने पर फिर वह व्यापक बन गई और सर्व ज्ञान के विषय में प्रामाण्य किंवा अप्रामाण्य के 'स्वतः' 'परतः' का विचार शुरू हो गया[1]।

इस चर्चा में पहिले मुख्यतया दो पक्ष पड़ गये। एक तो वेद-अप्रामाण्यवादी जैन-बौद्ध और दूसरा वेदप्रामाण्यवादी नैयायिक, मीमांसक आदि। वेद-प्रामाण्यवादियों में भी उसका समर्थन भिन्न-भिन्न रीति से शुरू हुआ। ईश्वरवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन ने वेद का प्रामाण्य ईश्वरमूलक स्थापित किया। जब उसमें वेदप्रामाण्य परतः स्थापित किया

१. "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" जैमि० सू० १. १. ५. "तस्मात् तत् प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्। न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम्, पुरुषान्तरं वापि; स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ।"–शाबरभा० १. १. ५. बृहती० १. १. ५. "सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा॥"–श्लोकवा० चोद० श्लो० ३३.

गया तब बाक़ी के प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों का प्रामाण्य भी 'परतः' ही सिद्ध किया गया और समान युक्ति से उसमें अप्रामाण्य को भी 'परतः' ही निश्चित किया। इस तरह प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों 'परतः' ही न्याय-वैशेषिक सम्मत[1] हुए।

मीमांसक ईश्वरवादी न होने से वह तन्मूलक प्रामाण्य तो वेद में कह ही नहीं सकता था। अतएव उसने वेदप्रामाण्य 'स्वतः' मान लिया और उसके समर्थन के वास्ते प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य 'स्वतः' ही स्थापित किया[2]। पर उसने अप्रामाण्य को तो 'परतः' ही माना[3] है।

यद्यपि इस चर्चा में सांख्यदर्शन का क्या मन्तव्य है इसका कोई उल्लेख उसके उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता फिर भी कुमारिल, शान्तरक्षित और माधवाचार्य के कथनों से जान पड़ता है कि सांख्यदर्शन प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को 'स्वतः' ही माननेवाला रहा[4] है। शायद उसका तद्विषयक प्राचीन साहित्य नष्टप्राय हुआ हो। उक्त आचार्यों के ग्रन्थों में ही एक ऐसे पक्ष का भी निर्देश है जो ठीक मीमांसक से उलटा है अर्थात् वह अप्रामाण्य को 'स्वतः' ही और प्रामाण्य को 'परतः' ही मानता है। सर्वदर्शन-संग्रह में—सौगताश्चरमं स्वतः (सर्वद० पृ० २७६) इस पक्ष को बौद्धपक्ष रूप से वर्णित किया है सही, पर तत्त्वसंग्रह में जो बौद्ध पक्ष है वह बिलकुल जुदा है। संभव है सर्वदर्शनसंग्रहनिर्दिष्ट बौद्धपक्ष किसी अन्य बौद्धविशेष का रहा हो।

शान्तरक्षित ने अपने बौद्ध मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—१—प्रामाण्य-अप्रामाण्य उभय 'स्वतः', २—उभय 'परतः', ३—दोनों में से प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः, तथा ४—अप्रामाण्य स्वतः, प्रामाण्य परतः—इन चार पक्षों में से कोई भी बौद्धपक्ष नहीं है क्योंकि ये चारों पक्ष नियमवाले हैं। बौद्धपक्ष अनियमवादी है अर्थात् प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य दोनों में कोई 'स्वतः' तो कोई 'परतः' अनियम से है। अभ्यासदशा में तो 'स्वतः' समझना चाहिए चाहे प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य; पर अनभ्यासदशा में 'परतः' समझना चाहिए[5]।

---

१ "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"—**न्यायभा० पृ० १**। तात्पर्य० १. १. १। किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उत उभयमपि परतः आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति। तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः।...स्थितमेतदर्थक्रियाज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चय इति। तदिदमुक्तम्। प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमिति। तस्मादप्रामाण्यमपि परोक्षमित्येतौ द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्। **न्यायम० पृ० १६०-१७४**। **कन्दली पृ० २१७-२२०**। "प्रमाणाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्। तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः॥"-**न्यायकु० २. १**। **तत्त्वचि० प्रत्यक्ष० पृ० १८३–२३३**।

२ "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"—**श्लोकवा० सू० २. श्लो० ४७**।

३ **श्लोकवा० सू० २. श्लो० ८५**।

४ "केचिदाहुर्द्वयं स्वतः।"—**श्लोकवा० सू० २. श्लो० ३४**, **तत्त्वसं० प० का० २८११**. "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।"—**सर्वद० जैमि० पृ० २७९**।

५ "नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि—उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्याप्यनियमपक्षस्य संभवात्।"—**तत्त्वसं० प० का० ३१२३**।

जैन परम्परा ठीक शान्तरक्षितकथित बौद्धपक्ष के समान ही है। वह प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को अभ्यासदशा में 'स्वतः' और अनभ्यासदशा में 'परतः' मानती है। यह मन्तव्य प्रमाणनयतत्त्वालोक के सूत्र में भी स्पष्टतया निर्दिष्ट है। यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों का निर्देश न करके परीक्षामुख की तरह केवल प्रामाण्य के स्वतः-परतः का ही निर्देश किया है तथापि देवसूरि का सूत्र पूर्णतया जैन परम्परा का द्योतक है। जैसे—"तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति।"—परी० १. १३. । "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति"—प्रमाणन० १.२१।

इस स्वतः-परतः की चर्चा क्रमशः यहाँ तक विकसित हुई है कि इसमें उत्पत्ति[1], ज्ञप्ति और प्रवृत्ति तीनों को लेकर स्वतः-परतः का विचार बड़े विस्तार से सभी दर्शनों में आ गया है और यह विचार प्रत्येक दर्शन की अनिवार्य चर्चा का विषय बन गया है। और इस पर परिष्कारपूर्ण तत्त्वचिन्तामणि, गादाधरप्रामाण्यवाद आदि जैसे जटिल ग्रन्थ बन गये हैं।

पृ० ६. पं० १४. 'अदृष्टार्थे तु'—आगम के प्रामाण्य का जब प्रश्न आता है तब उस का समर्थन खास खास प्रकार से किया जाता है। आगम का जो भाग परोक्षार्थक नहीं है उसके प्रामाण्य का समर्थन तो संवाद आदि द्वारा सुकर है पर उसका जो भाग परोक्षार्थक, विशेष परोक्षार्थक है जिसमें चर्मनेत्रों की पहुँच नहीं, उसके प्रामाण्य का समर्थन कैसे किया जाय ?। यदि समर्थन न हो सके तब तो सारे आगम का प्रामाण्य डूबने लगता है। इस प्रश्न का उत्तर सभी सांप्रदायिक विद्वानों ने दिया है और अपने-अपने आगमों का प्रामाण्य स्थापित किया है। मीमांसक ने वेदों का ही प्रामाण्य स्थापित किया है पर वह 'अपौरुषेयत्व' युक्ति से, जब कि उन्हीं वेदों का प्रामाण्य न्याय-वैशेषिक ने अन्य प्रकार से स्थापित किया है।

अक्षपाद वेदों का प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य से बतलाते हैं और उसके दृष्टान्त में वे कहते हैं कि जैसे वेद के एक अंश मन्त्र-आयुर्वेद आदि यथार्थ होने से प्रमाण हैं वैसे ही वाक्यों के अन्य अंश भी समान आप्तप्रणीत होने से प्रमाण हैं—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यं आप्तप्रामाण्यात्।"—न्यायसू० २. १. ६९।

आ० हेमचन्द्र ने आगमप्रामाण्य के समर्थन में अक्षपाद की ही युक्ति का अनुगमन किया है पर उन्होंने मन्त्र-आयुर्वेद को दृष्टान्त न बनाकर विविधकार्यसाधक ज्योतिष-गणित शास्त्र को ही दृष्टान्त रक्खा है। जैन आचार्यों का मन्त्र-आयुर्वेद की अपेक्षा ज्योतिष शास्त्र की ओर विशेष झुकाव इतिहास में जो देखा जाता है उसके आ० हेमचन्द्र अपवाद नहीं हैं।

यह झुकाव प्राचीन समय में भी कैसा था इसका एक नमूना हमें धर्मकीर्ति के ग्रन्थ में भी प्राप्य है। धर्मकीर्ति के पूर्वकालीन या समकालीन जैन आचार्य अपने पूज्य तीर्थंकरों में सर्वज्ञत्व का समर्थन ज्योतिषशास्त्र के उपदेशकत्वहेतु से करते थे इस मतलब का जैनपक्ष धर्मकीर्ति ने जैन परम्परा में से लेकर खण्डित या दूषित किया है—"अत्र

---

१ प्रमेयक० पृ० ३८ B–४४ B.

वैधर्म्योदाहरणम्–यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्द्धमानादिरिति ।"–न्यायबि० ३. १३१ । इसका ऐतिहासिक अंश अनेक दृष्टि से जैन परम्परा और भारतीय दर्शनों की परम्परा पर प्रकाश डालनेवाला है ।

पृ० ६. पं० १६. 'अर्थोपलब्धिहेतुः'–आ० हेमचन्द्र ने प्रमाणसामान्य के लक्षण का विचार समाप्त करते हुए दर्शनप्रसिद्ध खण्डनप्रणाली के अनुसार केवल न्याय-बौद्ध परम्परा के तीन ही लक्षणवाक्यों का निरास किया है । पहिले और दूसरे में न्यायमञ्जरी और न्यायसार के मन्तव्य की समीक्षा है । तीसरे में धर्मकीर्त्ति के मत की समीक्षा है जिसमें शान्तरक्षित के विचार की समीक्षा भी आ जाती है । तुलना–"उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।"–न्यायभा० २. १. ११ । चरकसं० पृ० २६६ ।

पृ० ६. पं० १८ 'अथ कर्तृकर्मादि'–तुलना–"अपरे पुनराचक्षते–सामग्री नाम समुदितानि कारकाणि तेषां हि रूप्यमङ्गदयङ्गमम्, अत्र च तानि पृथगवस्थितानि कर्मादिभावं भजन्ते । अत्र च तान्येव समुदितानि करणीभवन्तीति कोऽयं नयः । तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते । तदेव च तृतीयया व्यपदिशन्ति ।...... तस्मात् कर्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणमिति युक्तम् ।" न्यायम० पृ० १४-१५ ।

पृ० ६. पं० २७ 'सांव्यवहारिक'–तुलना–"सांव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणम्, 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति ।"–तत्त्वसं० प० का० २९८१, २९८२ ।

पृ० ६. पं० २८ 'उत्तरकालभाविनो'–तुलना–"ननु च यद्यविकल्पकं प्रत्यक्षं कथं तेन व्यवहारः, तथाहि इदं सुखसाधनं इदं दुःखस्येति यदि निश्चिनोति तदा तयोः प्राप्तिपरिहाराय प्रवर्त्तते–

"अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् ।
निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥

तद्द्वारेणेति । विकल्पद्वारेणाविकल्पकमपि निश्चयहेतुत्वेन सकलव्यवहाराङ्गं भवति । तथाहि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि सजातीयविजातीयव्यावृत्तमनलादिकमर्थं तदाकारनिर्भासोत्पत्तितः परिच्छिन्ददुत्पद्यते । तत्र नियतरूपव्यवस्थितवस्तुग्राहित्वाद्विजातीयव्यावृत्तवस्त्वाकारानुगतत्वाच्च तत्रैव वस्तुनि विधिप्रतिषेधावाविर्भावयति–अनलोऽयं नासौ कुसुमस्तबकादिरिति । तयोश्च विकल्पयोः पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धाद[वि]संवादित्वेऽपि न प्रामाण्यमिष्टम् । दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनधिगतवस्तुरूपाधिगमाभावात् ।"–तत्त्वसं० प० का० १३०६ ।

अ० १. आ० १. सू० ९–१० पृ० ७. जैन परंपरा में ज्ञान-चर्चा दो प्रकार से है–पहली आगमिकविभागाश्रित और दूसरी तार्किकविभागाश्रित । जिसमें मति, श्रुत आदि रूप से विभाग करके चर्चा है वह आगमिकविभागाश्रित और जिसमें प्रत्यक्ष आदिरूप से प्रमाणों का

विभाग करके चर्चा है वह तार्किकविभागाश्रित। पहली चर्चा का अमिश्रित उदाहरण है आवश्यक निर्युक्ति और दूसरी चर्चा का अमिश्रित उदाहरण है न्यायावतार।

जैन परंपरा में प्राचीन और मौलिक चर्चा तो आगमिकविभागाश्रित ही है। तार्किक-विभागाश्रित चर्चा जैन परंपरा में कब और किसने सर्वप्रथम दाखिल की, इसे निश्चितरूप से कहना अभी संभव नहीं। स्थानाङ्ग और भगवती ये दोनों गणधरकृत समझे जानेवाले ग्यारह अङ्गों में से हैं और प्राचीन भी अवश्य हैं। उनमें यद्यपि तार्किक विभाग का निर्देश स्पष्ट है तथापि यह मानने में कोई विरोध नहीं दीखता कि स्थानाङ्ग-भगवती में वह तार्किक विभाग निर्युक्तिकार भद्रबाहु के बाद ही कभी दाखिल हुआ है क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति जो भद्र-बाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरम्भ ही ज्ञानचर्चा से होता है उसमें आगमिक विभाग है पर तार्किक विभाग का सूचन तक नहीं है। जान पड़ता है निर्युक्ति के समय तक जैन आचार्य यद्यपि ज्ञानचर्चा करते तो वे आगमिक विभाग के द्वारा ही, फिर भी वे दर्शनान्तर-प्रतिष्ठित प्रमाणचर्चा से बिलकुल अनभिज्ञ न थे। इतना ही नहीं बल्कि प्रसङ्ग देखकर वे दर्शनान्तरीय प्रमाणशैली का उपयोग एवं उसमें संशोधन भी कर लेते थे। अतएव उसी भद्रबाहु की कृति मानी जानेवाली दशवैकालिक निर्युक्ति में हम परार्थानुमान की चर्चा पाते हैं जो अवयवांश में (गा० ५०) दर्शनान्तर की परार्थानुमानशैली से अनोखी है।

जान पड़ता है सबसे पहिले आर्यरक्षित ने, जो जन्म से ब्राह्मण थे और वैदिक शास्त्रों का अभ्यास करने के बाद ही जैन साधु हुए थे, अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वार (पृ० २११) में प्रत्यक्ष, अनुमानादि चार प्रमाणों का विभाग जो गौतमदर्शन (न्यायसू० १.१.३) में प्रसिद्ध है, उसको दाखिल किया। उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र (१. १०–१२) में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जिस प्रमाणद्वयविभाग का निर्देश किया है वह खुद उमास्वातिकर्तृक है या किसी अन्य आचार्य के द्वारा निर्मित हुआ है इस विषय में कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता। जान पड़ता है आगम की संकलना के समय प्रमाणचतुष्टय और प्रमाणद्वयवाले दोनों विभाग स्थानाङ्ग तथा भगवती में दाखिल हो गये। आगम में दोनों विभागों के संनिविष्ट हो जाने पर भी जैन आचार्यों की मुख्य विचारदिशा प्रमाणद्वयविभाग की ओर ही रही है। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि प्रमाणचतुष्टयविभाग असल में न्याय-दर्शन का ही है, अतएव उमास्वाति ने उसे 'नयवादान्तरेण' (तत्त्वार्थभा० १.६) कहा है जब कि प्रमाणद्वयविभाग जैनाचार्यों का स्वोपज्ञ है। इसी से सभी जैन तर्कग्रन्थों में उसी विभाग को लेकर प्रमाण चर्चा व ज्ञान चर्चा की गई है। आ० हेमचन्द्र ने भी इसी सबब से उसी प्रमाणद्वयविभाग को अपनाया है।

---

१ "दुविहे नाणे पण्णत्ते–तंजहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।" स्था० २. पृ० ७६ A. "अहवा हेऊ चउव्विहे पं० तं० पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।"–स्था० ४. पृ० २४४ A. "से किं तं पमाणे ? । पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–पच्चक्खे .. ..जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं।"–भग० श० ५. उ० ३. भाग २. पृ० २११।

न्याय-वैशेषिक आदि तर्कप्रधान वैदिक दर्शनों के प्रभाव के कारण बौद्ध भिक्षु तो पहिले ही से अपनी पिटकोचित मूल मर्यादा के बाहर वादभूमि और तदुचित तर्क-प्रमाणवाद की ओर झुक ही गये थे। क्रमशः जैन भिक्षु भी वैदिक और बौद्धदर्शन के तर्कवाद के असर से बरी न रह सके अतएव जैन आचार्यों ने जैन परम्परा में ज्ञानविभाग की भूमिका के ऊपर प्रमाणविभाग की स्थापना की और प्रतिवादी विद्वानों के साथ उसी प्रमाणविभाग को लेकर गोष्ठी या चर्चा करने लगे। आर्यरक्षित ने प्रत्यक्ष-अनुमान आदिरूप से चतुर्विध प्रमाणविभाग दर्शाते समय प्रत्यक्ष के वर्णन में (अनुयो० पृ० २११) इन्द्रियप्रत्यक्षरूप मतिज्ञान का और आगमप्रमाण के वर्णन में श्रुतज्ञान का स्पष्ट समावेश सूचित कर ही दिया था फिर भी आगमिक-तार्किक जैन आचार्यों के सामने बराबर एक प्रश्न आता ही रहता था कि अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि दर्शनान्तरप्रसिद्ध प्रमाणों को जैनज्ञानप्रक्रिया मानती है या नहीं ?। अगर मानती है तो उनका स्वतन्त्र निरूपण या समावेश उसमें स्पष्ट क्यों नहीं पाया जाता ?। इसका जवाब जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले उमास्वाति ने दिया है (तत्त्वार्थभा० १.१२) कि वे अनुमानादि दर्शनान्तरीय सभी प्रमाण मति, श्रुत जिन्हें हम परोक्ष प्रमाण कहते हैं उसी में अन्तर्भूत हैं। उमास्वाति के इसी जवाब का अक्षरशः अनुसरण पूज्यपाद ने (सर्वार्थसि० १.१२) किया है। पर उसमें कोई नया विचार या विशेष स्पष्टता नहीं की।

चतुर्विध प्रमाणविभाग की अपेक्षा द्विविध प्रमाणविभाग जैन प्रक्रिया में विशेष प्रतिष्ठा पा चुका था और यह हुआ भी योग्य। अतएव नन्दीसूत्र में उसी द्विविध प्रमाणविभाग को लेकर ज्ञानचर्चा विशेष विस्तार से हुई। नन्दीकार ने अपनी ज्ञानचर्चा की भूमिका तो रची द्विविध प्रमाणविभाग पर, फिर भी उन्होंने आर्यरक्षित के चतुर्विध प्रमाणविभागाश्रित वर्णन में से मुख्यतया दो तत्त्व लेकर अपनी चर्चा की। इनमें से पहिला तत्त्व तो यह है कि लोक जिस इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष समझते व कहते हैं और जिसे जैनेतर सभी तार्किकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है, उसको जैन प्रक्रिया में भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहकर प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद कर दिये (नन्दीसू० ३) जिससे एक में उमास्वातिकथित अवधि आदि मुख्य प्रमाण रहे और दूसरे में इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्षरूप से रहे। दूसरा तत्त्व यह है कि जिसे दर्शनान्तर आगम प्रमाण कहते हैं वह वस्तुतः श्रुतज्ञान ही है और परोक्ष प्रमाण में समाविष्ट है।

यद्यपि आगमिक ज्ञानचर्चा चलती रही फिर भी जैन विचारप्रक्रिया में तार्किकता बल पकड़ने लगी। इसी का फल न्यायावतार है। उसमें द्विविध प्रमाणविभाग लेकर तार्किक शैली से ज्ञान का निरूपण है। उसका मुख्य उद्देश्य जैन प्रक्रियानुसारी अनुमान—न्याय को बतलाना—यह है। हम देखते हैं कि न्यायावतार में परोक्षप्रमाण के भेदों के वर्णन ने ही मुख्य जगह रोकी है फिर भी उसमें यह नहीं कहा है कि जैन प्रक्रिया परोक्षप्रमाण के अमुक और इतने ही भेद मानती है जैसा कि आगे जा कर अन्य आचार्यों ने कहा है।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने अति विस्तृत भाष्य में द्विविध प्रमाण विभाग में आगमिक पञ्च ज्ञानविभाग का तर्कपुरःसर समावेश बतलाया और आर्यरक्षितस्थापित तथा नन्दीकार द्वारा स्वीकृत इन्द्रियजन्य-नोइन्द्रियजन्य रूप से द्विविध प्रत्यक्ष के वर्णन में आनेवाले उस विरोध का सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसा नाम देकर सबसे पहले परिहार किया–"इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।"–विशेषा० भा० गा० ९५–जिसे प्रतिवादी तार्किक जैन तार्किकों के सामने उपस्थित किया करते थे। विरोध इस तरह बतलाया जाता था कि जब जैनदर्शन अक्ष–आत्माश्रित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहता है तब उसकी प्रक्रिया में इन्द्रियाश्रित ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से स्थान पाना विरुद्ध है। क्षमाश्रमणजी ने यह सब कुछ किया फिर भी उन्होंने कहीं यह नहीं बतलाया कि जैन प्रक्रिया परोक्ष प्रमाण के इतने भेद मानती है और वे अमुक हैं।

इस तरह अभी तक जैन परंपरा में आगमिक ज्ञानचर्चा के साथ ही साथ, पर कुछ प्रधानता से प्रमाणचर्चा हो रही थी, फिर भी जैन तार्किकों के सामने दूसरे प्रतिवादियों की ओर से यह प्रश्न बारबार आता ही था कि जैन प्रक्रिया अगर अनुमान, आगम आदि दर्शनान्तर-प्रसिद्ध प्रमाणों को परोक्ष प्रमाणरूप से स्वीकार करती है तो उसे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह परोक्ष प्रमाण के कितने भेद मानती है, और हरएक भेद का सुनिश्चित लक्षण क्या है ?।

जहाँ तक देखा है उसके आधार से निःसंदेह कहा जा सकता है कि उक्त प्रश्न का जवाब सबसे पहिले भट्टारक अकलङ्क ने दिया है। और वह बहुत ही स्पष्ट तथा सुनिश्चित है। अकलङ्क ने अपनी लघीयस्त्रयी[1] में बतलाया कि परोक्ष प्रमाण के अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, तर्क और आगम ऐसे पाँच भेद हैं। उन्होंने इन भेदों का लक्षण भी स्पष्ट बाँध दिया। हम देखते हैं कि अकलङ्क के इस स्पष्टीकरण ने जैन प्रक्रिया में आगमिक और तार्किक ज्ञान चर्चा में बारबार खड़ी होनेवाली सब समस्याओं को सुलझा दिया। इसका फल यह हुआ कि अकलङ्क के उत्तरवर्ती दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी तार्किक उसी अकलङ्कदर्शित रास्ते पर ही चलने लगे। और उन्हीं के शब्दों को एक या दूसरे रूप से लेकर यत्र तत्र विकसित कर अपने अपने छोटे और बृहत्काय ग्रन्थों को लिखने लग गये। जैन तार्किकमूर्धन्य यशोविजय ने भी उसी मार्ग का अवलम्बन किया है। यहाँ एक बात जान लेनी चाहिए कि जिन अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के भेद और उनके लक्षणों के द्वारा दर्शनान्तरप्रसिद्ध अनुमान, अर्थापत्ति, उपमान आदि सब प्रमाणों का जैन प्रक्रियानुसारी निरूपण किया है वेही अकलङ्क राजवार्तिककार[2] भी हैं, पर उन्होंने अपने वार्तिक में दर्शनान्तरप्रसिद्ध उन प्रमाणों का समावेश लघीयस्त्रयी के अनुसार नहीं पर तत्त्वार्थभाष्य और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार किया है ऐसा कहना होगा। फिर भी उक्त भाष्य और सिद्धि की अपेक्षा अकलङ्क ने अपना

---

१ "ज्ञानमाद्यं मतिस्संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।"–लघी० ३. १. स्ववि० ३. १। २ "सूरिणा-अकलङ्केन वार्तिककारेण"–सिद्धि० वि० टी० पृ० २५४ B.

समावेशप्रकार कुछ दूसरा ही बतलाया है (राजवा० पृ० ५४)। अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद करते समय यह ध्यान अवश्य रक्खा है कि जिससे उमास्वाति आदि पूर्वाचार्यों का समन्वय विरुद्ध न हो जाय और आगम तथा निर्युक्ति आदि में मतिज्ञान के पर्यायरूप से प्रसिद्ध स्मृति, सञ्ज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इन शब्दों की सार्थकता भी सिद्ध हो जाय। यही कारण है कि अकलङ्क का यह परोक्ष प्रमाण के पंच प्रकार तथा उनके लक्षण कथन का प्रयत्न अद्यापि सकल जैन तार्किकमान्य रहा। आ० हेमचन्द्र भी अपनी मीमांसा में परोक्ष के उन्हीं भेदों को मानकर निरूपण करते हैं।

पृ० ७. पं० १० 'वैशेषिकाः'—प्रशस्तपाद ने शाब्द-उपमान आदि प्रमाणों को अनुमान में ही समाविष्ट किया है। अतएव उत्तरकालीन तार्किकों[1] ने वैशेषिकमतरूप से प्रत्यक्ष-अनुमान दो ही प्रमाणों का निर्देश किया है। स्वयं कणाद का भी "एतेन शाब्दं व्याख्यातम्"—वैशे० सू० ९. २. ३—इस सूत्र से यही अभिप्राय है जो प्रशस्तपाद, शङ्करमिश्र आदि ने निकाला है। विद्यानन्द आदि जैनाचार्यों ने भी वैशेषिकसम्मत प्रमाणद्वित्व का ही निर्देश (प्रमाणप० पृ० ६६) किया है तब प्रश्न होता है कि—आ० हेमचन्द्र वैशेषिकमत से प्रमाणत्रय का कथन क्यों करते हैं? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि—वैशेषिकसम्मत प्रमाणद्वित्व की परम्परा भी रही है जिसे आ० हेमचन्द्र ने लिया और प्रमाणद्वित्ववाली परम्परा का निर्देश नहीं किया। सिद्धर्षिकृत न्यायावतारवृत्ति में (पृ० ९) हम उस प्रमाणद्वित्ववाली वैशेषिक परम्परा का निर्देश पाते हैं। वादिदेव ने तो अपने रत्नाकर (पृ० ३१३, १०४१) में वैशेषिक-सम्मतरूप से द्वित्व और त्रित्व दोनों प्रमाणसंख्या का निर्देश किया है।

पृ० ७. पं० ११ 'साङ्ख्याः'—तुलना—सांख्यका० ४।

पृ० ७. पं० ११ 'नैयायिकाः' तुलना—न्यायसू० १. १. ३।

पृ० ७. पं० १२ 'प्राभाकराः' तुलना—"तत्र पञ्चविधं मानम्...इति गुरोर्मतम्"—प्रकरणप० पृ० ४४.।

पृ० ७. पं० १२ 'भाट्टाः'—तुलना—"अतः षडेव प्रमाणानि"—शास्त्रदी० पृ० २४६।

पृ० ७. पं० १७ 'अश्नुते'—प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में 'अक्ष' पद का 'इन्द्रिय' अर्थ मानने की परम्परा सभी वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध दर्शन में एक सी है। उनमें से किसी दर्शन में 'अक्ष' शब्द का आत्मा अर्थ मानकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। अतएव वैदिक-बौद्ध दर्शनों के अनुसार इन्द्रियाश्रित ज्ञान ही प्रत्यक्षरूप से फलित होता है। और तदनुसार उनको इन्द्रियाश्रित प्रत्यक्ष माने जानेवाले ईश्वरीय ज्ञान आदि के विषय में प्रत्यक्ष का प्रयोग उपचरित ही मानना पड़ता है।

---

१ "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।"—मुक्तावली का० १४०।

जैन परम्परा[१] में 'अक्ष' शब्द का 'आत्मा' अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है। तदनुसार उसमें इन्द्रियनिरपेक्ष केवल आत्माश्रित माने जानेवाले ज्ञानों को ही प्रत्यक्ष पद का मुख्य अर्थ माना है और इन्द्रियाश्रित ज्ञान को वस्तुतः परोक्ष ही माना है। उसमें अक्ष-पद का इन्द्रिय अर्थ लेकर भी व्युत्पत्ति का आश्रयण किया है पर वह अन्यदर्शनप्रसिद्ध परम्परा तथा लोकव्यवहार के संग्रह की दृष्टि से। अतएव जैन परम्परा के अनुसार इन्द्रियाश्रित ज्ञान में प्रत्यक्ष पद का प्रयोग मुख्य नहीं पर गौण है।

इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष माननेवाले हों या आत्ममात्र सापेक्ष को पर वे सभी प्रत्यक्ष को साक्षात्कारात्मक ही मानते व कहते हैं।

पृ० ७. पं० १८. **'अक्षं प्रतिगतम्'**—तुलना—"अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्"—न्यायभा० १. १. ३। "प्रत्यक्षमिति। प्रतिगतमाश्रितमक्षम्।"—न्यायबि० टी० १. ३।

पृ० ७. पं० २१. **'चकारः'**—तुलना—"चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति" न्यायबि० टी० १. ३. न्याया० सि० टी० पृ० १६।

पृ० ७. पं० २३. **'ज्येष्ठतेति'**—प्रमाणों में ज्येष्ठत्व-अज्येष्ठत्व के विषय में तीन परम्पराएँ हैं। न्याय और सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व और अनुमानादि का उसकी अपेक्षा अज्येष्ठत्व स्थापित[२] किया है। पूर्व उत्तरमीमांसा[३] में अपौरुषेय आगमवाद होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा भी आगम का ज्येष्ठत्व स्वीकार किया गया है। बौद्ध परम्परा[४] में प्रत्यक्ष-अनुमान दोनों का समबलत्व बतलाया है।

जैन परम्परा में दो पक्ष देखे जाते हैं। अकलङ्क और तदनुगामी विद्यानन्द ने प्रत्यक्ष का ही ज्येष्ठत्व न्यायपरम्परा की तरह माना और स्थापित किया[५] है, जब कि सभी

---

१ "अश्नोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं वा प्रत्यक्षम्।"—**सर्वार्थ० १. १२।** "जीवो अक्खो अत्थव्वावणभोयणगुणण्णिओ जेण। तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं॥"—**विशेषा० भा० गा० ८९।** "तथा च भगवान् भद्रबाहुः—जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टइ तं तु होइ पच्चक्खं। परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होइ पारोक्खं॥"—**न्याया० टि० पृ० १५।**

२ "आदौ प्रत्यक्षग्रहणं प्राधान्यात्......तत्र किं शब्दस्यादावुपदेशो भवतु आहोस्वित् प्रत्यक्षस्येति?। प्रत्यक्षस्येति युक्तम्। किं कारणम्?। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् इति।"—**न्यायवा० १. १. ३। साङ्ख्यत० का० ५। न्यायम० पृ० ६५, १०९।**

३ "न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्। तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य, बोधकतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्।"—**भामती पृ० ६।**

४ "अर्थसंवादकत्वे च समाने ज्येष्ठताऽस्य का?। तदभावे तु नैव स्यात् प्रमाणमनुमादिकम्॥"—**तत्त्वसं० का० ४६०। न्यायवि० टी० १. ३।**

५ अष्टश० अष्टस० पृ० ८०।

श्वेताम्बर आचार्यों[१] ने प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों का समबलत्व बौद्ध परम्परा की तरह स्वीकार किया है।

पृ० ७. पं० २६. **'व्यवस्था'**–इस सूत्र में चार्वाक के प्रति प्रमाणान्तर की सिद्धि करते हुए तीन युक्तियों का प्रयोग आ० हेमचन्द्र ने किया है जो धर्मकीर्त्ति के नाम से उद्धृत कारिका में स्पष्ट है। वह कारिका धर्मकीर्त्ति के उत्तरवर्ती सभी बौद्ध, वैदिक और जैन ग्रन्थों में पाई जाती है[२]।

वृत्ति में तीनों युक्तियों का जो विवेचन है वह सिद्धर्षि की न्यायावतारवृत्ति के साथ शब्दश: मिलता है। पर तात्पर्यटीका और सांख्यतत्त्वकौमुदी के विवेचन के साथ उसका शब्दसादृश्य होने पर भी अर्थसादृश्य ही मुख्य है।

"स हि काश्चित् प्रत्यक्षव्यक्तीरर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्याश्च तद्विपरीततया व्यभिचारिणीश्च, तत: कालान्तरे पुनरपि तादृशेतराणां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रमाणेतरते समाचक्षीत।"–न्याया० सि० टी० पृ० १८।

"दृष्टप्रामाण्याप्रामाण्यविज्ञानव्यक्तिसाधर्म्येण हि कासाञ्चिद्व्यक्तीनां प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा विदधीत। दृष्टसाधर्म्यं चानुमानमेवेति कथं तेनैव तस्याप्रामाण्यम्। अपि चानुमानमप्रमाणमिति वाक्यप्रयोगोऽज्ञं विप्रतिपन्नं सन्दिग्धं वा पुरुषं प्रत्यर्थवान्, न च परपुरुषवर्तिनो देहधर्मा अपि संदेहाज्ञानविपर्यासा गौरत्वादिवत् प्रत्यक्षा बोध्यन्ते, न च तद्वचनात् प्रतीयन्ते, वचनस्यापि प्रत्यक्षादन्यस्याप्रामाण्योपगमात्। पुरुषविशेषमनधिकृत्य तु वचनमनर्थकं प्रयुञ्जानो नायं लौकिको न परीक्षक इत्युन्मत्तवदनवधेयवचन: स्यात्।"–तात्पर्य० १.१.५।

"नानुमानं प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाऽप्रतिपन्न: सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुष: कथं प्रतिपद्येत?। न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देहविपर्यया: शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्। नापि मानान्तरेण, अनभ्युपगमात्। अनवधृताज्ञानसंशयविपर्यासस्तु यं कञ्चित्पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत। तदनेनाज्ञानादय: परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्या:, इत्यकामेनाप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्।"–सांख्यत० का० ५।

पृ० ८. पं० २०. **'अर्थस्याऽसंभवे'**–तुलना–तत्त्वसं० पं० पृ० ७७५। विधिवि० न्यायक० पृ० १६३। सिद्धिवि० टी० लि० पृ० १५५ A. अष्टसह० पृ० ११५। सन्मतिटी० पृ० १७, ७२, ५५५। न्यायवि० टी० लि० पृ० ६ A.

---

१ न्याया० सि० टी० पृ० १६। स्याद्वादर० पृ० २६०।

२ कन्दली पृ० २५५। प्रमाणप० पृ० ६४। प्रमेयक० पृ० ४६। स्याद्वादर० पृ० २६१। न्यायसारता० पृ० ८८।

पृ० ८. पं० ३०. 'भावाभावा'–अभावप्रमाण के पृथक् अस्तित्व का वाद बहुत पुराना जान पड़ता है क्योंकि न्यायसूत्र[१] और उसके बाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थों में तो उसका खण्डन पाया ही जाता है पर अधिक प्राचीन माने जानेवाले कणादसूत्र में भी प्रशस्तपाद की व्याख्या के अनुसार[२] उसके खण्डन की सूचना है।

विचार करने से जान पड़ता है कि यह पृथक् अभावप्रमाणवाद मूल में मीमांसक परम्परा का ही होना चाहिए[३]। अन्य सभी दार्शनिक परम्पराएँ उस वाद के विरुद्ध हैं। शायद इस विरोध का मीमांसक परम्परा पर भी असर पड़ा और प्रभाकर उस वाद से सम्मत न रहे[४]। ऐसी स्थिति में भी कुमारिल ने उस वाद के समर्थन में बहुत ज़ोर लगाया और सभी तत्कालीन विरोधियों का सामना किया[५]।

प्रस्तुत सूत्र के विवेचन का न्यायावतारटीका (पृ० २१) के साथ बहुत कुछ शब्दसाम्य है।

अ० १, आ० १ सू० १३-१४. पृ० ९. प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में सामान्यरूप से तीन परम्पराएँ हैं। बौद्ध परम्परा[६] निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानती है। न्याय-वैशेषिक[७] आदि वैदिक परम्पराएँ निर्विकल्पक–सविकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष मानती हैं। जैन[८] तार्किक परम्परा सांख्य-योग[९] दर्शन की तरह प्रत्यक्षप्रमाणरूप से सविकल्पक को ही स्वीकार करती है। आ० हेमचन्द्र ने अपनी परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को अनध्यवसाय कहकर प्रमाणसामान्य की कोटि से ही बहिर्भूत रक्खा है।

यद्यपि प्रत्यक्ष के लक्षण में विशद या स्फुट शब्द का प्रयोग करनेवाले जैन तार्किकों में सबसे पहिले अकलङ्क ही जान पड़ते हैं तथापि इस शब्द का मूल बौद्ध तर्कग्रन्थों में

---

१ न्यायसू० २. २. २।

२ "अभावोऽपि अनुमानमेव यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणा-सद्भावे लिङ्गम्।"–प्रश० पृ० २२५। वै० सू० ९. २. ५।

३ शाबरभा० १.१.५।

४ "अस्ति चेयं प्रसिद्धिर्मीमांसकानां षण्णां किलेदं प्रमाणमिति...केयं तर्हि प्रसिद्धिः ?। प्रसिद्धि-र्वटयक्षप्रसिद्धिवत्।"–बृहती पृ० १२०। "यदि तावत् केचिन्मीमांसकाः प्रमाणान्यत्वं मन्यन्ते ततश्च वयं किं कुर्मः।" बृहतीप० पृ० १२३। प्रकरणप० पृ० ११८–१२५।

५ "अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते। प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद्भावात्मकात्पृथक्॥" श्लोकवा० अभाव० श्लो० ५५.।

६ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।"–प्रमाणस० १. ३। न्यायप्र० पृ० ७। न्यायवि० १. ४।

७ "इह द्वयी प्रत्यक्षजातिः अविकल्पिका सविकल्पिका चेति। तत्र उभयी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन संगृहीतापि स्वशब्देन उपात्ता तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्र अविकल्पिकायाः पदम् अव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति।"–तात्पर्य० पृ० १२५। प्रश० पृ० १८६–१८८।

८ प्रमेयक० १. ३। स्याद्वाद० १. ७.।

९ सांख्यत० का० ५। योगभा० १. ७.।

है क्योंकि अकलङ्क के पूर्ववर्ती धर्मकीर्ति आदि बौद्ध तार्किकों[1] ने इसका प्रयोग प्रत्यक्षस्वरूप-निरूपण में किया है। अकलङ्क के बाद तो जैन परम्परा में भी इसका प्रयोग रूढ़ हो गया। वैशद्य किंवा स्पष्टत्व का निर्वचन तीन प्रकार से पाया जाता है। अकलङ्क के—"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्" (लघी० १. ४)—निर्वचन का देवसूरि और यशोविजयजी ने अनुगमन किया है। जैनतर्कवार्त्तिक में (पृ० ६५) 'इदन्तया' अथवा 'विशेषवत्तया' प्रतिभास-वाले एक ही निर्वचन का सूचन है। माणिक्यनन्दी ने (परीक्षा मु० २. ४) 'प्रतीत्यन्तराव्यवधान' और 'विशेषप्रतिभास' दोनों प्रकार से वैशद्य का निर्वचन किया है जिसे आ० हेमचन्द्र ने अपनाया है।

पृ० ९. पं० २६. 'प्रत्यक्षं धर्मि'—तुलना—"विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्... धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयप्रसङ्ग इति चेत्; न, विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं प्रयुक्तो दोषाऽसंभवात्"—प्रमाणप० पृ० ६७. प्रमेयर० २. ३.

अ० १. आ० १. सू० १५-१७. पृ० १०. लोक और शास्त्र में सर्वज्ञ शब्द का उपयोग, योगसिद्ध विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान के सम्भव में विद्वानों और साधारण लोगों की श्रद्धा, जुदे जुदे दार्शनिकों के द्वारा अपने अपने मन्तव्यानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के विशिष्ट ज्ञानरूप अर्थ में सर्वज्ञ जैसे पदों को लागू करने का प्रयत्न और सर्वज्ञरूप से माने जाने-वाले किसी व्यक्ति के द्वारा ही मुख्यतया उपदेश किये गये धर्म या सिद्धान्त की अनुगामियों में वास्तविक प्रतिष्ठा—इतनी बातें भगवान् महावीर और बुद्ध के पहिले भी थीं—इसके प्रमाण मौजूद हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय से लेकर आज तक के करीब ढाई हज़ार वर्ष के भारतीय साहित्य में तो सर्वज्ञत्व के अस्ति-नास्तिपक्षों की, उसके विविध स्वरूप तथा समर्थक और विरोधी युक्तिवादों की, क्रमशः विकसित सूक्ष्म और सूक्ष्मतर स्पष्ट एवं मनोरञ्जक चर्चाएँ पाई जाती हैं।

सर्वज्ञत्व के नास्तिपक्षकार मुख्यतया तीन हैं—चार्वाक, अज्ञानवादी और पूर्वमीमांसक। उसके अस्तिपक्षकार तो अनेक दर्शन हैं, जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन मुख्य हैं।

चार्वाक इन्द्रियगम्य भौतिक लोकमात्र को मानता है इसलिए उसके मत में अतीन्द्रिय आत्मा तथा उसकी शक्तिरूप सर्वज्ञत्व आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अज्ञानवादी का अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की भी एक अन्तिम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही उच्च कक्षा का क्यों न हो पर वह त्रैकालिक सभी स्थूल-सूक्ष्म भावों को पूर्ण रूप से जानने में स्वभाव से ही असमर्थ है।

---

१ "न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता।"—प्रमाणवा० ३. २८३। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्।"—तत्त्वसं० का० १२३५

अर्थात् अन्त में कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है। क्योंकि ज्ञान की शक्ति ही स्वभाव से परिमित है। वेदवादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ मानता है। किसी प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान होने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं फिर भी वह अपौरुषेयवेदवादी होने के कारण वेद के अपौरुषेयत्व में बाधक ऐसे किसी भी प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान को मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्राय से उसने[१] वेद-निरपेक्ष साक्षात् धर्मज्ञ या सर्वज्ञ के अस्तित्व का विरोध किया है। वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थ जाननेवाले का निषेध नहीं किया।

बौद्ध और जैन दर्शनसम्मत साक्षात् धर्मज्ञवाद या साक्षात् सर्वज्ञवाद से वेद के अपौरुषेयत्व का केवल निरास ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसके द्वारा वेदों में अप्रामाण्य बतलाकर वेदभिन्न आगमों का प्रामाण्य स्थापित करना भी अभिप्रेत है। इसके विरुद्ध जो न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन सर्वज्ञवादी हैं उनका तात्पर्य सर्वज्ञवाद के द्वारा वेद के अपौरुषेयत्ववाद का निरास करना अवश्य है, पर साथ ही उसी वाद के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व बतलाकर उसीका प्रामाण्यस्थापन करना भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। वे ईश्वर के ज्ञान को नित्य[२]—उत्पाद-विनाश-रहित और पूर्ण—त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल समग्र भावों को युगपत् जाननेवाला—मानकर तद्द्वारा उसे सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वरभिन्न आत्माओं में वे सर्वज्ञत्व मानते हैं सही, पर सभी आत्माओं में नहीं किन्तु योगी आत्माओं में। योगियों में भी सभी योगियों को वे सर्वज्ञ नहीं मानते किन्तु जिन्होंने योग द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त किया हो सिर्फ उन्हीं को[३]। न्याय-वैशेषिक मतानुसार यह नियम नहीं कि सभी योगियों को वैसा सामर्थ्य अवश्य प्राप्त हो। इस मत में जैसे मोक्ष के वास्ते सर्वज्ञत्वप्राप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है वैसे यह भी सिद्धान्त[४] है कि मोक्ष-

---

१ "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्"–शाबरभा० १. १.२। "नानेन वचनेनेह सर्वज्ञत्वनिराक्रिया। वचनादृत इत्येवमपवादो हि संश्रितः॥ यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते। एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते॥ नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते।" श्लोकवा० चोद० श्लो० ११०–२। "धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"–तत्त्वसं० का० ३१२८। यह श्लोक तत्त्वसंग्रह में कुमारिल का कहा गया है पृ० ८४४।

२ "न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः। दृष्टा हि गुणानामाश्रयभेदेन द्वयी गतिः नित्यता अनित्यता च तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यतीति।"—कन्दली पृ० ६०। "एतादृशानुमितौ लाघवज्ञानसहकारेण ज्ञानेच्छाकृतिषु नित्यत्वमेकत्वं च भासते इति नित्यैकत्वसिद्धिः।"—दिनकरी पृ० २६।

३ वै० सू० ६. १.११–१३। "अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद्योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते।"–प्रश० पृ० १८७। वै० सू० ६. १. ११-१३।

४ "तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः। गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रकीर्तितः॥" न्यायम० पृ० ५०८.।

प्राप्ति के बाद सर्वज्ञ योगियों की आत्मा में भी पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान ईश्वरज्ञान की तरह नित्य नहीं पर योगजन्य होने से अनित्य है।

सांख्य, योग[1] और वेदान्त दर्शनसम्मत सर्वज्ञत्व का स्वरूप वैसा ही है जैसा न्याय-वैशेषिकसम्मत सर्वज्ञत्व का। यद्यपि योगदर्शन न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वर मानता है तथापि वह न्याय-वैशेषिक की तरह चेतन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्थन न कर सकने के कारण विशिष्ट बुद्धितत्त्व[2] में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व का समर्थन कर पाता है। सांख्य, योग और वेदान्त में बौद्धिक सर्वज्ञत्व की प्राप्ति भी मोक्ष के वास्ते अनिवार्य[3] वस्तु नहीं है, जैसा कि जैन दर्शन में माना जाता है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह वह एक योग-विभूति मात्र होने से किसी-किसी साधक को होती है।

सर्वज्ञवाद से सम्बन्ध रखनेवाले हज़ारों वर्ष के भारतीय दर्शनशास्त्र देखने पर भी यह पता स्पष्टरूप से नहीं चलता कि अमुक दर्शन ही सर्वज्ञवाद का प्रस्थापक है। यह भी निश्चयरूप से कहना कठिन है कि सर्वज्ञत्व की चर्चा शुद्ध तत्त्वचिन्तन में से फलित हुई है, या साम्प्रदायिक भाव से धार्मिक खण्डन-मण्डन में से फलित हुई है ?। यह भी सप्रमाण बतलाना सम्भव नहीं कि ईश्वर, ब्रह्मा आदि दिव्य आत्माओं में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार से मानुषिक सर्वज्ञत्व का विचार प्रस्तुत हुआ, या बुद्ध-महावीरसदृश मनुष्य में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार-आन्दोलन से ईश्वर, ब्रह्मा आदि में सर्वज्ञत्व का समर्थन किया जाने लगा, या देव-मनुष्य उभय में सर्वज्ञत्व माने जाने का विचारप्रवाह परस्पर निरपेक्ष रूप से प्रचलित हुआ ?। यह सब कुछ होते हुए भी सामान्यरूप से इतना कहा जा सकता है कि यह चर्चा धर्म-सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन में से फलित हुई है और पीछे से उसने तत्त्वज्ञान का रूप धारण करके तात्त्विक चिन्तन में भी स्थान पाया है। और वह तटस्थ तत्त्वचिन्तकों का विचारणीय विषय बन गई है। क्योंकि मीमांसक जैसे पुरातन और प्रबल वैदिक दर्शन के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी अस्वीकार और शेष सभी वैदिक दर्शनों के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी स्वीकार का एक मात्र मुख्य उद्देश्य यही है कि वेद का प्रामाण्य स्थापित करना जब कि जैन, बौद्ध आदि मनुष्य-सर्वज्ञत्ववादी दर्शनों का एक यही उद्देश है कि परम्परा से माने जानेवाले वेदप्रामाण्य के स्थान में इतर शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापित करना और वेदों का अप्रामाण्य। जब कि वेद का प्रामाण्य-अप्रामाण्य ही असर्वज्ञवाद, देव-सर्वज्ञवाद और मनुष्य-सर्वज्ञवाद की चर्चा और उसकी दलीलों का एकमात्र मुख्य विषय है तब धर्म-संप्रदाय को इस तत्त्व-चर्चा का उत्थानबीज मानने में सन्देह को कम से कम अवकाश है।

---

१ "तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥"—योगसू० ३. ५४।

२ "निर्मलतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य...सर्वज्ञातृत्वम्, सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः।"—योगभा० ३. ४९।

३ "प्राप्तविवेकजज्ञानस्य अप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।"—योगसू० ३. ५५।

मीमांसकधुरीण कुमारिल ने धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों का निराकरण बड़े आवेश और युक्तिवाद से किया है (मीमांसाश्लो० सू० २. श्लो० ११० से १४३) वैसे ही बौद्धप्रवर शान्तरक्षित ने उसका जवाब उक्त दोनों वादों के समर्थन के द्वारा बड़ी गम्भीरता और स्पष्टता से दिया है (तत्त्वसं० पृ० ८४३ से)। इसलिए यहाँ पर एक ऐतिहासिक प्रश्न होता है कि क्या धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वाद अलग-अलग सम्प्रदायों में अपने-अपने युक्तिबल पर स्थिर होंगे, या किसी एक वाद में से दूसरे वाद का जन्म हुआ है ? । अभी तक के चिन्तन से यह जान पड़ता है कि धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों की परम्परा मूल में अलग-अलग ही है। बौद्ध सम्प्रदाय धर्मज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी खास रहा होगा क्योंकि खुद बुद्ध ने (मज्झिम० चूल-मालुंक्यपुत्तसुत्त २.१) अपने को सर्वज्ञ उसी अर्थ में कहा है जिस अर्थ में धर्मज्ञ या मार्गज्ञ शब्द का प्रयोग होता है। बुद्ध के वास्ते धर्मशास्ता, धर्मदेशक आदि विशेषण पिटकग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। [१]धर्मकीर्ति ने बुद्ध में सर्वज्ञत्व को अनुपयोगी बताकर केवल धर्मज्ञत्व ही स्थापित किया है, जब कि शान्तरक्षित ने प्रथम धर्मज्ञत्व सिद्धकर गौणरूप से सर्वज्ञत्व को भी स्वीकार[२] किया है।

सर्वज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है क्योंकि जैन आचार्यों ने प्रथम से ही अपने तीर्थंकरों में सर्वज्ञत्व को माना और स्थापित किया[३] है। ऐसा सम्भव है कि जब जैनों के द्वारा प्रबलरूप से सर्वज्ञत्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने लगी तब बौद्धों के वास्ते बुद्ध में सर्वज्ञत्व का समर्थन करना भी अनिवार्य और आवश्यक हो गया। यही सबब है कि बौद्ध तार्किक ग्रन्थों में धर्मज्ञवादसमर्थन के बाद सर्वज्ञवाद का समर्थन होने पर भी उसमें वह ज़ोर और एकतानता[४] नहीं है, जैसी कि जैन तार्किक ग्रन्थों में है।

मीमांसक (श्लो० सू० २. श्लो० ११०-१४३. तत्त्वसं० का० ३१२४-३२४६ पूर्वपक्ष) का मानना है कि यागादि के प्रतिपादन और उसके द्वारा धर्माधर्मादि का, किसी पुरुषविशेष

---

१ "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥ दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।" **प्रमाणवा० २. ३२-३३।**

२ "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति सम्मतं। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥"—**तत्त्वसं० का० ३३०९।** "मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकमन्यत्रापि भगवतो ज्ञानप्रवृत्तेः बाधकप्रमाणाभावात् साक्षादशेषार्थपरिज्ञानात् सर्वज्ञो भवन् न केनचिद् बाध्यते इति, अतो न प्रेक्षावतां तत्प्रतिक्षेपो युक्तः।"—**तत्त्वसं० प० पृ० ८६३।**

३ "से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं० आगइं गई ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।" **आचा० श्रु० २. चू० ३. पृ० ४२५ A.** "तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च"—**आव० नि० गा० १२७। भग० श० ९. उ० ३२।** "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"—**आप्तमी० का० ५।**

४ "यैः स्वेच्छासर्वज्ञो वर्ण्यते तन्मतेनाप्यसौ न विरुध्यते इत्यादर्शयन्नाह यद्यदित्यादि—यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः। शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥"—**तत्त्वसं० का० ३६२८। मिलि० ३. ६. २।**

की अपेक्षा रक्खे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना यही वेद का कार्य है। इसी सिद्धान्त को स्थिर रखने के वास्ते कुमारिल ने कहा है कि कोई भले ही धर्माधर्मभिन्न अन्य सब वस्तु साक्षात् जान सके पर धर्माधर्म को वेदनिरपेक्ष होकर कोई साक्षात् नहीं जान सकता[1], चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन आदि जैसा मनुष्य योगी हो, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु आदि जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति आदि जैसा ऋषि या अवतारी हो। कुमारिल का कहना है कि सर्वत्र सर्वदा धर्ममर्यादा एक सी है, जो सदा सर्वत्र एकरूप वेद द्वारा विहित मानने पर ही सङ्गत हो सकती है। बुद्ध आदि व्यक्तियों को धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानने पर वैसी मर्यादा सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि बुद्ध आदि उपदेशक कभी निर्वाण पाने पर नहीं भी रहते। जीवितदशा में भी वे सब क्षेत्रों में पहुँच नहीं सकते। सब धर्मोपदेशकों की एकवाक्यता भी सम्भव नहीं। इस तरह कुमारिल साक्षात् धर्मज्ञत्व का निषेध[2] करके फिर सर्वज्ञत्व का भी सब में निषेध करते हैं। वह पुराणोक्त ब्रह्मादि देवों के सर्वज्ञत्व का अर्थ भी, जैसा उपनिषदों में देखा जाता है, केवल आत्मज्ञान[3] परक करते हैं। बुद्ध, महावीर आदि के बारे में कुमारिल का यह भी कथन[4] है कि वे वेदज्ञ ब्राह्मणजाति को धर्मोपदेश न करने और वेदविहीन मूर्ख शूद्र आदि को धर्मोपदेश करने के कारण वेदाभ्यासी एवं वेद द्वारा धर्मज्ञ भी नहीं थे। बुद्ध, महावीर आदि में सर्वज्ञत्वनिषेध की एक प्रबल युक्ति कुमारिल ने यह दी[5] है कि परस्परविरुद्धभाषी बुद्ध, महावीर, कपिल आदि में से किसे सर्वज्ञ माना जाय और किसे न माना जाय?। अतएव उनमें से कोई सर्वज्ञ नहीं है। यदि वे सर्वज्ञ होते तो सभी वेदवत् अविरुद्धभाषी होते, इत्यादि।

---

१ "नहि अतीन्द्रियार्थे वचनमन्तरेण अवगतिः सम्भवति, तदिदमुक्तम्—अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्"—शाबरभा० १. १. २। श्लो० न्याय० पृ० ७१।

२ "कुक्ष्यादिनिःसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः। किन्तु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद् दुरात्मभिः। अदृश्यैः विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः। एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥"—श्लोकवा० सू० २. श्लो० १३९-४१। "यत्तु वेदवादिभिरेव कैश्चिदुक्तम्—नित्य एवाऽयं वेदः प्रजापतेः प्रथममार्षज्ञानेनावबुद्धो भवतीति तदपि सर्वज्ञवदेव निराकार्यमित्याह—नित्येति"—श्लो० न्याय० सू० २. १५३। "अथापि वेददेहत्वात् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। सर्वज्ञानमयाद् दातृत्वादयं मानुषस्य किम्॥"—तत्त्वसं० का० ३२०८, ३२१३-१४।

३ "ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति योऽपि दशाव्ययः। शङ्करः श्रूयते सोऽपि ज्ञानवानात्मवित्तया॥"—तत्त्वसं० का० ३२०६।

४ "शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन संभाव्यन्ते।"—तन्त्रवा० पृ० ११६। तत्त्व-सं० का० ३२२६-२७।

५ "सर्वज्ञेषु च भूयःसु विरुद्धार्थोपदेशिषु। तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम्॥ सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम्॥"—तत्त्वसं० का० ३१४८-४९॥

शान्तरक्षित ने कुमारिल तथा अन्य सामट, यज्ञट आदि मीमांसकों की दलीलों का बड़ी सूक्ष्मता से सविस्तर खण्डन (तत्त्वसं० का० ३२६३ से) करते हुए कहा है कि—वेद स्वयं ही भ्रान्त एवं हिंसादि दोषयुक्त होने से धर्मविधायक हो नहीं सकता। फिर उसका आश्रय लेकर उपदेश देने में क्या विशेषता है ?। बुद्ध[1] ने स्वयं ही स्वानुभव से अनुकम्पाप्रेरित होकर अभ्युदय निःश्रेयस्साधक धर्म बतलाया है। मूर्ख शूद्र आदि को उपदेश देकर तो उसने अपनी करुणावृत्ति के द्वारा धार्मिकता ही प्रकट की है। वह मीमांसकों से[2] पूछता है कि जिन्हें तुम ब्राह्मण कहते हो उनकी ब्राह्मणता का निश्चित प्रमाण क्या है ?। अतीतकाल बड़ा लम्बा है, स्त्रियों का मन भी चपल है, इस दशा में कौन कह सकता है कि ब्राह्मण कहलानेवाली सन्तान के माता-पिता शुद्ध ब्राह्मण ही रहे हों और कभी किसी विजातीयता का मिश्रण हुआ न हो। शान्तरक्षित[3] ने यह भी कह दिया कि सच्चे ब्राह्मण और श्रमण बुद्ध शासन के सिवाय अन्य किसी धर्म में नहीं हैं (का० ३५८६-९२)। अन्त में शान्तरक्षित ने पहिले सामान्यरूप से सर्वज्ञत्व का सम्भव सिद्ध किया है, फिर उसे महावीर, कपिल आदि में असम्भव बतलाकर केवल बुद्ध में ही सिद्ध किया है। इस विचारसरणी में शान्तरक्षित की मुख्य युक्ति यह[4] है कि चित्त स्वयं ही प्रभास्वर अतएव स्वभाव से प्रज्ञाशील है। क्लेशावरण, ज्ञेयावरण आदि मल आगन्तुक हैं। नैरात्म्यदर्शन जो एक मात्र सत्यज्ञान है, उसके द्वारा आवरणों का क्षय होकर भावनाबल से अन्त में स्थायी सर्वज्ञता का लाभ होता है। ऐकान्तिक[5] चक्षुष्करज्ञान, नैरात्म्यदर्शन आदि का अनेकान्तोपदेशी अक्षपाद, कर्द्धमानादि में तथा आत्मोपदेशक कपिलादि में सम्भव नहीं अतएव उनमें आवरणक्षय द्वारा सर्वज्ञत्व का भी सम्भव नहीं। इस तरह सामान्य सर्वज्ञत्व की सिद्धि के द्वारा अन्त में

---

१ "करुणापरतन्त्रास्तु सृष्टतत्त्वनिदर्शिनः। सर्वापवादनिःशङ्काश्चक्रुः सर्वत्र देशनाम्॥ यथा यथा च मौर्ख्यादिदोषदुष्टो भवेज्जनः। तथा तथैव नाथानां दया तेषु प्रवर्तते॥" **तत्त्वसं० का० ३५७१-२।**

२ "अतीतश्च महान् कालो योषितां चातिचापलम्। तद्भवत्यपि निश्चेतुं ब्राह्मण्यं न शक्यते॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो नहि कश्चित् समस्ति वः। तदन्वयविशुद्धिं च नित्यो वेदोपि नोक्तवान्॥" **तत्त्वसं० का० ३५७६-८०।**

३ "ये च याहितपापत्वाद् ब्राह्मणाः पारमार्थिकाः। अन्यस्तामलनैरात्म्यास्ते मुनेरेव शासने॥ इहैव श्रमणास्तेन चतुर्द्धा परिकीर्त्यते। शून्याः परप्रवादा हि श्रमणैर्ब्राह्मणैस्तथा॥" **तत्त्वसं० का० ३५८६–९०.**

४ "प्रत्यक्षीकृतनैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम्। तद्विरुद्धतया दीप्ते प्रदीपे तिमिरं यथा॥" **तत्त्वसं० का० ३३३८।** "एवं क्लेशावरणप्रहाणं प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहाणं प्रतिपादयन्नाह—साक्षात्कृतिविशेषादिति—साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः। सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तिलः॥"—**तत्त्वसं० का० ३३३६।** "प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्। प्रकृत्यैव स्थितं यस्मात् मलास्त्वागन्तवो मताः।" **तत्त्वसं० का० ३४३५।** प्रमाणवा० ३. २०८।

५ "इदं च वर्द्धमानादेर्नैरात्म्यज्ञानमीदृशम्। न समस्यात्मदृष्टौ हि विनष्टाः सर्वतीर्थिकाः॥ स्याद्वादाक्षणिकस्था(त्वा)दिप्रत्यक्षादिप्रबो(धा)धितम्। बह्वेवायुक्तमुक्तं यैः स्युः सर्वज्ञाः कथं नु ते॥" **तत्त्वसं० ३३२५–२६।**

अन्य तीर्थङ्करों में सर्वज्ञत्व का असम्भव बतलाकर केवल सुगत में ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया है और उसी के शास्त्र को प्राह्य बतलाया है।

शान्तरक्षित की तरह प्रत्येक सांख्य या जैन आचार्य का भी यही प्रयत्न रहा है कि सर्वज्ञत्व का सम्भव अवश्य है पर वे सभी अपने-अपने तीर्थङ्करों में ही सर्वज्ञत्व स्थापित करते हुए अन्य तीर्थङ्करों में उसका नितान्त असम्भव बतलाते हैं।

जैन आचार्यों की भी यही दलील रही है कि अनेकान्त सिद्धान्त ही सत्य है। उसके यथावत् दर्शन और आचरण के द्वारा ही सर्वज्ञत्व लभ्य है। अनेकान्त का साक्षात्कार व उपदेश पूर्णरूप से ऋषभ, वर्द्धमान आदि ने ही किया अतएव वे ही सर्वज्ञ और उनके उपदिष्ट शास्त्र ही निर्दोष व प्राह्य हैं। सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलङ्क हों या हेमचन्द्र सभी जैनाचार्यों ने सर्वज्ञसिद्धि के प्रसङ्ग में वैसा ही युक्तिवाद अवलम्बित किया है जैसा बौद्ध सांख्यादि आचार्यों ने। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी[1] ने नैरात्म्यदर्शन को तो किसी[2] ने पुरुष-प्रकृति आदि तत्त्वों के साक्षात्कार को, किसी[3] ने द्रव्य-गुणादि छः पदार्थ के तत्त्वज्ञान को तो किसी[4] ने केवल आत्मज्ञान को यथार्थ कहकर उसके द्वारा अपने-अपने मुख्य प्रवर्त्तक तीर्थङ्कर में ही सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है, जब जैनाचार्यों[5] ने अनेकान्तवाद की यथार्थता दिखाकर इसके द्वारा भगवान् ऋषभ, वर्द्धमान आदि में ही सर्वज्ञत्व स्थापित किया है। जो कुछ हो, इतना साम्प्रदायिक भेद रहने पर भी सभी सर्वज्ञवादी दर्शनों का, सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान और तज्जन्य क्लेशों का नाश और तद्द्वारा ज्ञानावरण के सर्वथा नाश की शक्यता आदि तात्त्विक विचार में कोई मतभेद नहीं।

पृ० १०. पं० १५. **'दीर्घकाल'**–तुलना–"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।"–योगसू० १. १४।

पृ० १०. पं० १६. **'एकत्ववितर्क'**–तुलना–"पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि।" "अविचारं द्वितीयम्।"–तत्त्वार्थ० ९. ४१, ४४। "वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।" "तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।" "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।"–योगसू० १. १७, ४२, ४३, ४८। "सेा खेा अहं ब्राह्मण

---

१ "अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयंकरम्। विनेयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम्॥"–तत्त्वसं० का० ३३२२।

२ "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥"–सांख्यका० ६४।

३ "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"–वै० सू० १. १. ४।

४ "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्।"–बृहदा० २. ४. ५।

५ "त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥"–आप्तमी० का० ७। अयोग० का० २८।

विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं ।"—मज्झिम० १. १. ४।

पृ० १०. पं० २३. 'न खलु कश्चिदहमस्मि'—तुलना–"नहि जातु कश्चिदत्र संदिग्धे अहं वा नाहं वेति, न च विपर्यस्यति नाहमेवेति"—ब्रह्म० शाङ्करभा० पृ० २। चित्सुखी पृ० २१। खण्डन० पृ० ४८।

पृ० १०. पं० २४. 'बोद्धृत्वात्'—तुलना–

"प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम् ।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मान्मलास्त्वागन्तवो मताः ॥"—तत्त्वसं० का० ३४३५।

पृ० १०. पं० २७. 'अथ प्रकाश'—पुनर्जन्म और मोक्ष मानने वाले सभी दार्शनिक देहादि जड़भिन्न आत्मतत्त्व को मानते हैं। चाहे वह किसी के मत से व्यापक हो या किसी के मत से अव्यापक, कोई उसे एक माने या कोई अनेक, किसी का मन्तव्य क्षणिकत्वविषयक हो या किसी का नित्यत्वविषयक, पर सभी को पुनर्जन्म का कारण अज्ञान आदि कुछ न कुछ मानना ही पड़ता है। अतएव ऐसे सभी दार्शनिकों के सामने ये प्रश्न समान हैं—

जन्म के कारणभूत तत्त्व का आत्मा के साथ सम्बन्ध कब हुआ और वह सम्बन्ध कैसा है?। अगर वह सम्बन्ध अनादि है तो अनादि का नाश कैसे?। एक बार नाश होने के बाद फिर वैसा सम्बन्ध होने में क्या अड़चन?। इन प्रश्नों का उत्तर सभी अपुनरावृत्तिरूप मोक्ष माननेवाले दार्शनिकों ने अपनी-अपनी जुदी-जुदी परिभाषा में भी वस्तुतः एक रूप से ही दिया है।

सभी ने आत्मा के साथ जन्म के कारण के सम्बन्ध को अनादि ही कहा है। सभी मानते हैं कि यह बतलाना सम्भव ही नहीं कि अमुक समय में जन्म के कारण मूलतत्त्व का आत्मा से सम्बन्ध हुआ। जन्म के मूलकारण को अज्ञान कहो, अविद्या कहो, कर्म कहो या और कुछ, पर सभी स्वसम्मत अमूर्त आत्मतत्त्व के साथ सूक्ष्मतम मूर्ततत्त्व का एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं जो अविद्या या अज्ञान के अस्तित्व तक ही रहता है और फिर नहीं। अतएव सभी द्वैतवादी के मत से अमूर्त और मूर्त का पारस्परिक सम्बन्ध निर्विवाद है। जैसे अज्ञान अनादि होने पर भी नष्ट होता है वैसे वह अनादि सम्बन्ध भी ज्ञानजन्य अज्ञान का नाश होते ही नष्ट हो जाता है। पूर्णज्ञान के बाद दोष का सम्भव न होने के कारण अज्ञान आदि का उदय सम्भवित ही नहीं अतएव अमूर्त-मूर्त का सामान्य सम्बन्ध मोक्ष दशा में होने पर भी वह अज्ञानजन्य न होने के कारण जन्म का निमित्त बन नहीं सकता। संसारकालीन वह आत्मा और मूर्त द्रव्य का सम्बन्ध अज्ञानजनित है जब कि मोक्षकालीन सम्बन्ध वैसा नहीं है।

सांख्य-योग दर्शन आत्मा–पुरुष के साथ प्रकृति का, न्याय-वैशेषिक दर्शन परमाणुओं का, ब्रह्मवादी अविद्या–माया का, बौद्ध दर्शन चित्त–नाम के साथ रूप का, और जैन दर्शन

जीव के साथ कर्माणुओं का संसारकालीन विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं। ये सब मान्यता पुनर्जन्म और मोक्ष के विचार में से ही फलित हुई हैं।

पृ० १०. पं० २७. **'अथ प्रकाशस्वभावस्य'**–तुलना–"अतएव क्लेशगणोऽत्यन्तसमुद्धतोऽपि नैरात्म्यदर्शनसामर्थ्यमस्योन्मूलयितुमसमर्थः। आगन्तुकप्रत्ययकृतत्वेनादृढत्वात्। नैरात्म्यज्ञानं तु स्वभावत्वात् प्रमाणसहायत्वाच्च बलवदिति तुल्येऽपि विरोधित्वे आत्मदर्शने प्रतिपक्षो व्यवस्थाप्यते।......नापि ताम्रादिकाठिन्यादिवत् पुनरुत्पत्तिसम्भवो दोषाणाम्, तद्विरोधिनैरात्म्यदर्शनस्यात्यन्तसात्म्यमुपगतस्य सदाऽनपायात्। ताम्रादिकाठिन्यस्य हि यो विरोधी वह्निस्तस्य कादाचित्कसन्निहितत्वात् काठिन्यादेस्तदभाव एव भवतः पुनस्तदपायादुत्पत्तिर्युक्ता। नत्वेवं मलानाम्। अपायेऽपि वा मार्गस्य भस्मादिभिरनैकान्तान्नावश्यं पुनरुत्पत्तिसम्भवो दोषाणाम्, तथाहि—काष्ठादेरग्निसम्बन्धाद्भस्मसाद्भूतस्य तदपायेऽपि न प्राक्तनरूपानुवृत्तिः, तद्वद्दोषाणामपीत्यनैकान्तः। किञ्चागन्तुकतया प्रागप्यसमर्थानां मलानां पश्चात्सात्मीभूतं तन्नैरात्म्यं बाधितुं कुतः शक्तिः, नहि स्वभावो यत्नमन्तरेण निवर्त्तयितुं शक्यते। न च प्राप्यपरिहर्त्तव्ययोर्वस्तुनोर्गुणदोषदर्शनमन्तरेण प्रेक्षावतां हातुमुपादातुं वा प्रयत्नो युक्तः। न च विपर्यस्ता(न चाविपर्यस्ता ?)त्मनः पुरुषस्य दोषेषु गुणदर्शनं प्रतिपक्षे वा दोषदर्शनं सम्भवति, अविपर्यस्तत्वात्। नहि निर्दोषं वस्त्वविपर्यस्तधियो दुष्टत्वेनोपाददते, नापि दुष्टं गुणवत्त्वेन"–तत्त्वसं० प० पृ० ८७३-४।

पृ०. ११. पं० ६. **'अमूर्तायां अपि'**–तुलना–"अमूर्तायां अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः।"–प्रमेयर० पृ० ५६।

पृ०. ११. पं० ९. **'वर्षातपा'**–तुलना–"तदुक्तं–वर्षातपा"–भामती २. २. २६। न्यायम० पृ० ४४३।

पृ०. ११. पं० १७. **'ननु प्रमाणाधीना'**–तुलना–"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।"–सांख्यका० ४।

पृ०. ११. पं० २७. **'विधायेव'**–तुलना–जैमि० १.२.१।

पृ०. १२. पं० १. **'प्रज्ञाया अतिशयः'**–तुलना–"यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति।"–योगभा० १. २५। तत्त्ववै० १. २५।

पृ०. १२. पं० ३. **सूक्ष्मान्तरित**–तुलना–आप्तमी० का० ५।

पृ. १२. पं० ४. **'ज्योतिर्ज्ञान'**–तुलना–

"ग्रहाधिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः।
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत्।
आत्मा योऽस्य प्रवक्तायमपरालीढसत्पथः।
नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्तते ॥

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम्।
ज्योतिर्ज्ञानादिवत् सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः॥"—न्यायवि० ३. २८, ७५, ८०।

"ज्योतिर्ज्ञानं ज्योतिःशास्त्रम्, आदिशब्दादायुर्वेदादि तत्रैव तद्यथा ज्योतिःशास्त्रादौ तत्त्वं दृष्टं तैः तद्दर्शनस्य समर्थितत्वात् तद्वदन्यदपि सर्वं तत्रैव दृष्टमेवान्यथा तद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः।"—न्यायवि० टी० लि० पृ० ५६२।

पृ० १२. पं० १७. 'सर्वमस्ति'—तुलना—स्याद्वादम० का० १४।

"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते॥"—आप्तमी० का० १५।
"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित् कदाचन॥" श्लोकवा० अभाव० श्लो० १२।

पृ० १२. पं० २७. 'ज्ञानमप्रति'—तुलना—शास्त्रवा० ३.२।

"इतिहासपुराणेषु ब्रह्मादिर्योऽपि सर्ववित्।
ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं चेति कीर्तितम्॥" तत्त्वसं० का० ३१६९।

पृ० १२. पं० ३०. 'यत्कुमारिलः'—तुलना—"एतावत्कुमारिलेनोक्तं पूर्वपक्षीकृतम्"— तत्त्वसं० प० पृ० ८३६–८४४।

पृ० १३. पं० १. 'आः सर्वज्ञ'—यहाँ आ० हेमचन्द्र ने कुमारिल के प्रति जैसा साम्प्रदायिक रोष व्यक्त किया है वैसा ही कुमारिल, शङ्कराचार्य आदि ने बुद्ध आदि के प्रति व्यक्त किया है।—"स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्मं विप्लुतमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः।"—तन्त्रवा० पृ० ११६।

पृ० १४. पं० ८. 'बाधकाभावाच्च'—इस सूत्र का जो विषय है उसे विस्तार और बारीकी के साथ समझने के वास्ते तत्त्वसंग्रह की 'अतीन्द्रियदर्शिपुरुषपरीक्षा' का—"योगिता-सिद्धवस्तुः स्यादित्यत्रोक्तं न बाधकम्" (का० ३२६९) से—"तस्मात्सर्वज्ञसद्भावबाधकं नास्ति किञ्चन (का० ३३०७)" तक का भाग पञ्जिका सहित खास देखने योग्य है, जो मीमांसकों के पूर्वपक्ष का खासा जवाब है।

पृ० १४. पं० ९. 'सुनिश्चिता'—तुलना—आप्तप० का० १०९। "तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्"—लघी